प्राकृतवाणी

भाग-4

प. पू. राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य

श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

जिनशासन नायक भगवन् महावीर स्वामी के 2550वें निर्वाण महोत्सव पर परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा वी. नि. सं. 2550-2551 (सन् नव. 2023-नव. 2024) को **''अहिंसकाहार वर्ष''** के रूप में उद्घोषित किया गया। इसी **''अहिंसकाहार वर्ष''** के उपलक्ष्य में प्रकाशित

कृति : प्राकृतवाणी भाग-4

मंगल आशीर्वाद : परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज

कृतिकार : आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2023)

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : सदुपयोग

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथ माला समिति (रजि.)

ISBN : **978-93-94199-89-7**

प्राप्ति स्थल : ई. 16 सैक्टर 51, नोएडा-201301
मो. 9971548889, 9867557668, 880009125

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

© सम्पादक एवं प्रकाशक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित

PRAKRIT VANI PART-4

Writer : *Acharya Shri 108 Vasunandi Ji Muniraj*
Editing : *Aaryika Vardhasvanandini*
Edition : *First / 1000 Copies (Year 2023)*
Published by : *Nirgranth Granthmala Samiti*

सम्पादकीय

अनेकता में एकता का प्रतीक स्वरूप यह देश विश्व गुरु की उपमा को धारण करता हुआ समूचे विश्व को एकता व अखण्डता की सूचना प्रसारित कर रहा है। यह भारत वर्ष अनेक भाषाओं व संस्कृतियों का संरक्षक देश है। इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भाषाएँ एवं हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, राजस्थानी आदि आधुनिक भाषाएँ पुष्पित-पल्लवित हो रही हैं। इन सभी भाषाओं में साहित्य का सृजन भी हुआ है।

भारत की मूल-भाषा कही जाने वाले प्राकृत भाषा का साहित्य उसे आज तक जीवन्त बनाये हुए है। यदि इस भाषा में साहित्य सृजन नहीं होता तो संभवतः भाषा भी काल-कवलित हो जाती। प्राच्य भाषा के संरक्षण व संवर्द्धन के लिए समय-समय पर अनेक मनीषी, ऋषि-संत आदि हुए जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन साहित्य सृजन व संरक्षण प्रभृति कार्यों के लिए समर्पित कर दिया। वर्तमान में प्राच्य भाषा का प्रत्येक अध्येता वा जिनशासन की छत्रछाया में रहने वाले आबाल वृद्ध परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में श्रद्धावनत हैं।

आचार्य श्री प्राच्य विद्या व भाषाओं के अगाध सिन्धु हैं। उनकी सतत् अध्ययनशीलता विद्वानों द्वारा अभिवंदनीय है। विद्वानों के प्रति आचार्यश्री का अनुपम वात्सल्य सदैव दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान में अर्द्धशताधिक प्राकृत ग्रंथों का लेखन कर आचार्य श्री ने एक नवीन अद्भुत आयाम प्रस्तुत किया है। प्राकृत भाषा के महत्व को दर्शाते हुए कहा है–

अल्पार्थः सुखोच्चारः शब्दः साहित्यजीवितम्।
स च प्राकृतमेवेति मतं सूत्रानुवर्तिनाम्॥

–प्राकृतशब्दानुशासन, 7

साहित्य को संजीवनी प्रदान करने के लिए ऐसे शब्दों की आवश्यकता होती हैं, जिनमें अर्थ की बहुलता हो और सुखपूर्वक उच्चारण हो तथा इसके लिए सूत्रानुवर्तियों ने प्राकृत को ही सर्वाधिक उपयुक्त भाषा माना है।

इसी प्राकृत भाषा में वर्तमान में सर्वाधिक ग्रंथ रचकर अभूतपूर्व स्वर्णिम कीर्तिमान स्थापित किया है। लेखक की अभिव्यक्ति उनके शब्दों में निहित होती है। लेखक शब्द-पक्षियों के पंखों पर अपनी भावराशि को विराजमान कर पाठकों के देश तक पहुँचा देता है। ऋषिराज के वे धर्म से अनुस्यूत शब्द ही पाठक के अंतरंग को निर्मल व उज्ज्वल बना देते हैं।

''रोम एक दिन में नहीं बना'' यह उचित है। एक बीज से वृक्ष रूप होने तक की यात्रा दिवस मात्र की नहीं होती। कई दिन-माह-वर्ष बीतने पर वह बीज वृक्षरूप होकर फल व छाया- दान करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार एक लेखक का साहित्य सृजन से पूर्व कई वर्षों के अध्ययन का गहन श्रम होता है उसी श्रम से विचारों के विशाल राजपथ वा चिंतन के ऊँचे मणिप्रासाद निर्मापित होते हैं। अनेक वर्ष साहित्य को समर्पित करने के पश्चात् वह महान् अध्येता शब्दों में निहित सम्यग्ज्ञान युक्त स्वहृदय को ही मानो समस्त विश्व के समक्ष रखता है। ऐसे साहित्य को पाकर शिष्टजन भी स्वयं के सौभाग्य की सराहना कर उससे प्राप्त आचारमार्ग पर गमन करते हैं।

आचार्य श्री शिवकोटि जी ने भगवती आराधना ग्रंथ के अंतर्गत कहा भी है-

जह-जह सुदमोग्गाहदि आदिसय रसपसरसुदपुव्वं तु।
तह-तह पल्हादिज्जदि णवणव-संवेगसड्ढाए॥104॥

भव्यजन जैसे-जैसे अतिशय रस से व्याप्त अश्रुत पूर्वश्रुत में अवगाहन करता है, वैसे-वैसे ही नवीन-नवीन संवेग और धर्मश्रद्धा से वह आह्लाद को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार मिष्टरसास्वादी को मिष्ट आम्रफल के आस्वादन में आनंद आता है उसी प्रकार एक अध्येता को श्रुताध्ययन में आनंदानुभूति होती है। आचार्यश्री अपराजित जी ने भगवती आराधना की विजयोदय टीका में प्ररूपित किया है–

शब्दस्यहिरसोऽर्थःतस्यसारत्वात्आम्रफलादिरसइव।

शब्द का अर्थ ही उसका रस है, रस है, क्योंकि वही उसका सार है। वह आम्रफल के समान मधुर होता है।

प्रस्तुत **प्राकृतवाणी भाग-4** आचार्य गुरुवर द्वारा रचित तीन प्राकृत ग्रंथों का संग्रह है। प्राकृत वाणी आचार्यश्री द्वारा लिखित काव्य ग्रंथों का संकलन है। इसके प्रथम भाग में 12, द्वितीय में 9, तृतीय में 7 एवं चतुर्थ भाग में तीन ग्रंथ हैं जो इस प्रकार हैं–

(i) पसमभावो (प्रशम भाव)–72 गाथाओं में निबद्ध इस ग्रंथ में आचार्य भगवन् ने कषायों के शमन के माहात्म्य व कषायोत्पत्ति से उत्पन्न हानि का विवेचन किया है। प्रशमभाव धर्म का आधार है, सम्यग्दृष्टि का प्रथम लक्षण है। प्रशमभाव की भूमि पर ही धर्मध्यान के महल का निर्माण संभव है। आचार्य भगवन् श्री अमितगति स्वामी ने धर्मपरीक्षा ग्रंथ के अंतर्गत निरूपित किया है–

धर्मोस्ति क्षान्तितः कोपं, मानं मार्दवतोऽस्यतः।
मायामार्जवतो लोभं, क्षिप्रं संतोषतः परः॥2/75॥

जो जीव क्षमा के आश्रय से क्रोध को, मृदुता के आश्रय से मान को, सरलता के आश्रय से माया को तथा संतोष के आश्रय से लोभ को भी शीघ्र नष्ट कर देता है उसके धर्म रहता है।

जीव के विशुद्ध, निर्मल परिणाम पुण्यार्जन में प्रधान कारण हैं। परिणामों की संक्लेशता वा कलुषता के साथ की गई पुण्य क्रियाएँ भी तदनुरूप फल देने में समर्थ नहीं होतीं। जिनपूजा, दान, जापादि भी परिणामों की निर्मलता के लिए ही किया जाता है।

'स्नपनार्चा' स्तुतिजपान् साम्यार्थप्रतिमार्पिते'' साम्यभाव की प्राप्ति के लिए अरिहंत प्रभु का स्नपन, अर्चा, स्तुति, जपादि करें। ग्रंथकार ने स्वयं ग्रंथ में कहा भी है–

सिद्धीसर-रायस्स दु, गहदि पसमभाव-रायदूदं जो।
ठादि सग-समीवेसो, णिवसेदि दु सिद्धालयं अध॥69॥

जो सिद्धीश्वर राजा के प्रशमभाव रूप राजदूत को ग्रहण करता है वह निजात्म समीप स्थित होता है, अनंतर सिद्धालय में निवास करता है।

(ii) लोगुत्तरवित्ती (लोकोत्तर-वृत्ति)– 93 गाथाओं में निबद्ध यह ग्रंथ निर्ग्रंथ दिगंबर साधुओं की अलौकिक वृत्ति का प्रतिपादक है। योगियों, साधकों व ऋषि-मुनियों का जीवन सामान्य प्राणियों के जीवन से पृथक् व विशिष्ट होता है। आचार्य भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी ने भी कहा है–

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवतिमुनीनामलौकिकीवृत्तिः॥16॥

इस रत्नत्रय रूप पदवी का अनुसरण करने वाले अर्थात् इस पदवी को प्राप्त हुए मुनियों की वृत्ति पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा पराङ्मुख तथा परद्रव्यों से सर्वथा उदासीनरूप और लोक से विलक्षण अर्थात् अलौकिक होती है।

ग्रंथकार ने भी ग्रंथ में कहा है–

तित्थयर- अणुत्तर-जोगीण अण्णकेवलि-महाजोगीण।
संसारीण लोगिगा, जोगीणं लोगिदर-वित्ती॥4॥

तीर्थंकर अनुत्तर योगी हैं, अन्य केवली महायोगी हैं एवं अन्य साधु योगी हैं इन सबकी अलौकिक वृत्ति होती है जबकि संसारी प्राणियों की लौकिक वृत्ति होती है।

यद्यपि जीव के शुभ व विशुद्ध भाव ही उसके आरोग्य का कारण हैं किन्तु परिस्थितिवश उत्पन्न हुए अप्रशस्त विचार वा तनावादि उसकी अस्वस्थता का कारण बन जाता है। संभवतः पश्चिमी देशों में भी लोग आध्यात्मिकता ओर बढ़ रहे हैं और यह आध्यात्मिकता धर्मध्यान से ही संभव है।

यह वृहद् अर्थ को समाहित किए लघुकाय ग्रंथ है। इस पंचम काल में उत्कृष्ट धर्मध्यान योगियों के ही प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में शुभाशुभ भाव व ध्यानादि का कथन है।

(iii) असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) –राजा अशोक व रानी रोहिणी के जीवन-वृत्तांत व रोहिणी व्रत के माहात्म्य को प्रकट करने वाला यह प्राकृत महाकाव्य 2442 गाथा छंदों में निबद्ध है। 'गाथा' प्राकृत का सुमधुर गेय रूप माना जाता है। 21 नंदों में विभक्त यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति एवं व्रतादि की पराकाष्ठा का दिग्दर्शक है। इस ग्रंथ में सर्ग, पर्व इत्यादि प्रचलित संज्ञा न लेकर आचार्य गुरुवर ने 'नंद' शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण उनकी अपने पूज्य गुरुदेव के प्रति अटूट श्रद्धा, भक्ति व समर्पण है। अपने गुरुदेव प. पू. राष्ट्र संत आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के नाम का 'नंद' लेकर उनका पावन स्मरण ग्रंथ में किया है।

इस महाकाव्य की शिष्ट व संस्कारयुक्त शब्दराशि पाठकों को आकर्षित करती है। जिस प्रकार लोकरंजन राजा की विशेषता होती है उसी प्रकार पाठकों का चित्तरंजन लेखक के प्रभुत्व की पहचान है। यदि महाकाव्य की धारावाहिकता, विषय की क्रमबद्धता व अनुकूल मधुरभाषिता इसे शृंगारित करती है तो वहीं आचार्य गुरुवर की निरभिमान, मधुर और लोकोपकार-परायण की भावना उसे अनुप्राणित भी करती है।

अनेक रस, अलंकार व छंदादि से अलंकृत इस महाकाव्य में जहाँ अनेक नीतियाँ एवं समाज के विभिन्न वर्ग व व्यक्तियों के लिए

शिक्षाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वहीं नैतिक मूल्यों का कथन व जिनागम के गूढ़ सिद्धांतों का प्रतिपादन भी इसमें किया गया है। 19वें व 20वें नंद में उपशम श्रेणी के आरोहण व अवरोहण को पढ़कर सिद्धांत में रुचि रखने वाले तो अवश्य ही रोमांचित होंगे। जिनागम के जिन गूढ़ सिद्धान्तों को जानने व पढ़ने के लिए पाठकगण धवला जी आदि ग्रंथों तक नहीं पहुँच सके तो करुणासिंधु पूज्य आचार्य गुरुवर ने भागीरथी की भाँति श्री तीर्थंकर प्रभु की वाग्गंगा को यहाँ तक प्रवाहित कर दिया जिससे सामान्य श्रावक भी जिनधर्म के मर्म को समझ सकें।

इसमें प्रधान रस शांत रस है एवं हास्य, करुण, शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र व अद्भुतादि रस भी ग्रंथ में अंगांगीभाव से प्रवाहित हुए हैं। वृत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, मानवीकरण, काव्यलिंग, संकर, ऊर्जस्वित आदि अलंकारों का संयोजन ग्रंथ को उसी प्रकार और अधिक रुचिकर व आकर्षक बना देता है जिस प्रकार आभूषण नारी के सौन्दर्य को वृद्धिंगत कर देते हैं।

अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण दिगंबर जैन वाङ्मय में प्राकृत भाषा में इतना वृहद् महाकाव्य आज तक प्राप्त नहीं होता। अतएव दिगंबर जैन वाङ्मय में यह महाकाव्य इस 21वीं सदी का ही नहीं अपितु इस काल का प्राकृत भाषा का प्रथम वृहद् अद्वितीय महाकाव्य है। गोष्ठी के दौरान इस महाकाव्य की गरिमा देखकर विद्वत्जन ने कहा था यदि आचार्य श्री के गुरुवर आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज आज होते तो वे इस ग्रंथ को हाथी पर विराजमान कर नगर भ्रमण करवाते। ऐसे महाकवि के चरणों में हम सभी नतमस्तक हैं।

नवीन ग्रंथों पर वाचना की पद्धति पूज्य आचार्य गुरुदेव की सरलता, सहजता, यथार्थ ज्ञान की अगाधता व दूरदर्शिता का ही परिणाम है। इस ग्रंथ पर जून 2023 में वाचना पुनः 4-5 अक्टूबर 2023

को लगभग त्रिंशत्याधिक विद्वानों के मध्य भव्य गोष्ठी का आयोजन हुआ। उसके पश्चात् ही ग्रंथ को प्रकाशित कराने का संकेत पूज्य आचार्य गुरुवर से प्राप्त हुआ।

परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज की ज्ञानाराधना को शब्दों की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता अपितु उनके ग्रंथों से वा उनकी सन्निधि में उसे अनुभव किया जा सकता है। अपनी दिगंबर चर्या का पालन करने वाले एक तपस्वी साधक में विद्वत्ता का यह समावेश अत्यंत अद्भुत है। पहले तो इस पंचमकाल में दिगंबर चर्या का पालन ही अपने आप में एक आश्चर्य है। आचार्य भगवन् श्री सोमदेव सूरी ने कहा भी है–

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥

अर्थात् कलियुग में यदि दिगम्बरत्व देखने को मिलता है तो यह महान् आश्चर्य है क्योंकि कलियुग में लोग इंद्रिय-संयमी नहीं हो पाते। वे बार-बार भोजन करते हैं मानो शरीर अन्नकीट ही हो। जबकि दिगम्बर-मुनि की चर्या सम्पूर्ण रागजयशील तथा एकभुक्तिमय है। यह बात कालधर्म को चुनौती देने के समान है।

दुष्कर-तपश्चर्या के बावजूद जिनागम का तलस्पर्शी अध्ययन करना उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को दर्शाता है। उनके अध्ययन, अध्यापन वा लेखन को देखकर उन्हें ज्ञान के सुमेरु के रूप में यह विश्व नमन करता है। यद्यपि पूज्य आचार्य गुरुवर के इस श्रम को देख विद्वानों के चित्त में एक स्वाभाविक प्रश्न स्थान लेता है कि नीरस आहार करते हुए, सामायिक, प्रतिक्रम, जप, ध्यान इत्यादि के साथ सतत्वाहिनी सरिता के समान विहार, अनेक समाजों का मार्गदर्शन एवं पंचकल्याणकादि के माध्यम से जिनशासन की असीम प्रभावना करते हुए ग्रंथ लेखन हेतु समय-संयोजन किस प्रकार कर पाते हैं?

वस्तुतः महापुरुषों की चेष्टाएँ विचित्र होती हैं, उन्हें अपने परिमित अल्पज्ञान से ज्ञात कर पाना उसी प्रकार दुरूह है जिस प्रकार कच्छप के पदों द्वारा महासमुद्र का विस्तार बता पाना, षट्पद द्वारा सुमेरु की परिधि नाप पाना वा गूंगे द्वारा प्राकृतिक सौंदर्य का शब्दशः वर्णन कर पाना। महापुरुष की चेष्टा लोकातिशायी व तर्क से परे होती है। जिस प्रकार सूर्य-चंद्रमा एक स्थान पर स्थिर जन को गमन करते दृष्टिगोचर नहीं होते किंतु यथार्थ में होते तो वे गमनशील ही हैं। अनेक कार्यों में व्यस्तता के बावजूद चित्त में समुत्पन्न ज्ञानामृत की तृषा को शांत करने के लिए वा स्वपरहितार्थ जब कुछ करने की आकांक्षा हो तो समय उनके पास आकर स्वयं उपस्थित हो जाता है। आप सुधीजन जानते हैं जिस कार्य में जिसकी रुचि वा लगन हो, उस कार्य के लिए उसके पास समय की कमी कभी नहीं होती।

मानवों को समय-समय पर श्रमण संस्कृति से अपनी समीचीन जीवन-शैली के अक्षय वरदान प्राप्त हुए हैं; कभी उनकी मिष्ट वाणी से तो कभी उनकी लेखनी से प्रसूत साहित्य से। जिस अहिंसा-प्रभृति चारित्र से मानवता का निर्माण और विश्व हित व शांति संभव है उसका व्यवहरणीय स्वरूप परंपरा से इन्हीं आचार्यों की देन है जिन्होंने जिनशासन में निबद्ध कल्याणकारी सूत्रों को समझकर जन-जन तक पहुँचाने का पुरुषार्थ किया है।

मानव का हृदय समीचीन धर्म की प्रतिष्ठा से रहित है; हिंसा, अशान्ति, वैमनस्यता, नृशंसतापूर्वक पशुओं का वध इत्यादि इसका प्रमाण है। अहिंसा धर्म ही वह विशिष्ट अमृतमार्ग है जो विश्व में सुख-शांति की स्थापना कर सकता है। मानव- जीवन के अहिंसादि उदात्त तत्त्वों का संकलन सम्यक् साहित्यों में प्राप्त होता है जो उत्तम जीवन जीने की कला का निरूपण करता है। बिना बैर-विद्वेष के संसार-यात्रा करना भी धर्म ही सिखाता है। जिसका प्रतिपादन समीचीन साहित्यों में है। श्रेष्ठ संस्कृति, सभ्यता व अहिंसा धर्म का

निरूपण करने वाले ग्रंथ ही घर को आनंद-मंदिर और संसार को निरापद वसुधा बना सकते हैं।

मृत प्राय: मुनि परंपरा को पुनर्जीवंतता प्रदान करने वाले चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज की धवल परंपरा में ही परम पूज्य भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज के शिष्य राष्ट्र संत आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज ने वर्तमान में लुप्त प्राय: प्राकृत भाषा को अनुप्राणित करने हेतु शंखनाद किया और अपने गुरु के उसी नाद को प्रसारित करने का संकल्प लिया–परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने। आचार्य गुरुवर ने प्राकृत भाषा में कई ग्रंथ, नाटक व भजनादि का लेखनकर उसे जन-जन तक पहुँचाने का एवं बोलचाल में लाने का अविस्मरणीय पुरुषार्थ किया।

उनका यह पुरुषार्थ केवल श्लाघनीय व प्रशंसनीय ही नहीं; अपितु अभिवंदनीय व आचरणीय भी है। जिस प्रकार गणितज्ञ को विश्वास होता है कि $2+2=4$ है, विज्ञान के विद्यार्थी को विश्वास है कि हाइड्रोजन के 2 अणु व ऑक्सीजन के 1 अणु से जल बनता है, सिद्धांतविज्ञ को विश्वास होता है कि कर्मसहित जीव कभी सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार हमें भी पूर्ण विश्वास है कि पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित साहित्य वर्तमानकाल की आवश्यकता को पूर्ण करने में उसी प्रकार समर्थ है जैसे तृषातुर वसुंधरा को तृप्त करने में श्याम घन से समुद्भूत मूसलाधार वर्षा।

प्रस्तुत कृति ''प्राकृतवाणी भाग-4'' का अध्ययन पाठकों की परिणाम विशुद्धि व उनके सम्यक् आचरण में अवश्य सहायक होगा। इस ग्रंथ के संपादन का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ; यद्यपि हमारी अल्पमति इस वृहद् कार्य को संपन्न करने में समर्थ नहीं थी तद्यपि गुरु-कृपा व उनकी महिमा से कौन अनभिज्ञ है? अर्थात् इस ग्रंथ का

संपादन गुरु की कृपादृष्टि का ही प्रतिफल है। आर्यिका श्री वर्चस्व नंदनी माता जी ने ग्रंथ संशोधन (proof reading) का महत्वपूर्ण कार्य किया; जिसमें उनका श्रम श्लाघनीय है। आर्यिका श्री श्रेयनंदनी, सुरम्यनंदनी व यशोनंदनी माता जी का सहयोग भी प्रशंसनीय है।

यदि इस ग्रंथ के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें, हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से ही अध्ययन करें। राष्ट्र की अनुपम निधि परम पूज्य राष्ट्र हितैषी संत, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज का स्वास्थ्य सदैव उत्तम रहे। गुरुदेव के तप, संयम, साधना का सौरभ युगों-युगों तक संपूर्ण विश्व को सुरभित करता रहे एवं वे अपने लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करें। परम पूज्य आचार्य गुरुदेव के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन.....

जैनम् जयतु शासनम्

श्री शुभमिति मार्गशीर्ष कृष्ण 5 — ॐ अर्हं नमः
श्री वीर निर्वाण संवत् 2550 — **आर्यिका वर्धस्वनंदनी**
शनिवार 2.12.2023
श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली
बौलखेड़ा (कामा) (भरतपुर) राजस्थान

दो शब्द

हार्दिक प्रसन्नता है कि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी परमपूज्य आचार्य वसुनन्दी जी महाराज द्वारा विरचित **प्राकृत वाणी भाग-4** का प्रकाशन हो रहा है। श्रमण संस्कृति के सशक्त उद्घोषक आचार्यश्री की प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में शताधिक मौलिक स्तुति काव्य, महाकाव्य, टीका ग्रन्थ और काव्य रचनाएँ हैं। तप, संयम और अध्यात्म की त्रिवेणी में निमज्जन करते हुए आपने जिस साहित्य का सृजन किया है, वह मुक्तिपथ का साधक है। सामान्य मानव कष्टमय जागतिक दु:खों को समझकर उसकी वास्तविकता का कैसे अनुभव करें तथा स्वत: ही वे कैसे कल्याण के पथ पर अग्रसर हो जायें, यह भाव आचार्यश्री की रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त है। यही कारण है कि 'असोग-रोहिणी-चरियं' जैसे महाकाव्यों में रसाभिव्यक्ति पूर्वक यह प्रतिपादित किया गया है कि धर्मपूर्वक अर्थ और काम पुरुषार्थ को संपादित करते हुए अन्त में अध्यात्म को पाथेय बनाकर ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। काव्यकला में सिद्धहस्त आचार्यश्री की काव्य रचनाओं में सरस पदों का समावेश, अर्थ का सौष्ठव, माधुर्य और प्रसाद गुणों की मधुरता, रस और अलंकारों का मंजुल प्रयोग काव्यकर्म के वैशिष्ट्य को दर्शाता है।

लेखन, भाषा पर अधिकार, विषय का पर्याप्त ज्ञान, शब्द विन्यास, वाक्य रचना आदि के बिना सम्भव नहीं है। आचार्यश्री इनके प्रयोग में पूर्ण निपुण हैं। चारों अनुयोगों में भी आपकी अच्छी गति है। खण्डकाव्यों, महाकाव्यों प्रभृति साहित्य-काव्यों के सृजन के साथ त्याग और तपस्या से पोषित श्रमण संस्कृति के संरक्षण, संवर्द्धन और उसके मूलस्वरूप को प्रकाशित करने वाले धर्म, दर्शन, अध्यात्म और नीतिपरक साहित्य की सर्जना आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचायक है। उनका यह साहित्य मौलिक होने के साथ दिगम्बर जैन परम्परा के सिद्धान्तों का पोषक है। आपके द्वारा

सृजित साहित्य के मूल्यांकन के आधार पर यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि आपका साहित्य उन महनीय आचार्यों-कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अमृतचन्द्र, महाकवि हरिश्चन्द्र आदि आचार्यों और महाकवियों की उत्कृष्ट साहित्य सृजन परम्परा की कड़ी में संयुक्त किया जा सकता है जिनका साहित्य अद्यावधि जीवंत है। आपने ऐसे प्राकृत भाषा के 53 मौलिक कृतियाँ, चार टीका ग्रन्थ, दो कृतियाँ आंग्ल भाषा में, वाचना साहित्य चार, प्रवचन साहित्य चवालीस, हिन्दी गद्य रचनाएँ बत्तीस, हिन्दी काव्य रचनाएँ आठ, विधान रचनाएं पच्चीस, संस्कृत और प्राकृत में संपादित साहित्य अड़तीस, प्रथमानुयोग साहित्य बावन, संपादित हिन्दी साहित्य पन्द्रह, गुरुपद विनयांजली साहित्य पन्द्रह आदि विशाल ग्रन्थों का प्रणयन कर जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया है।

आत्मरस में लीन सन्त कभी कल्पनाओं में नहीं जीता। संसार, शरीर और भोगों से वह निर्विण्ण होता है। सन्तों की आत्मलीनता स्वयं प्रकाश स्वरूप है और उनके प्रकाश से दूसरे भी प्रकाशित हो जाते हैं। ऐसे महामनीषी, सिद्ध सारस्वत, औचित्य मर्मज्ञ, श्रुतज्ञ, घोरतपस्वी आचार्यश्री वसुनन्दी जी महाराज के लेखन के साथ उनका वक्तृत्व भी उत्कृष्ट है। किसी भी सन्त का उत्कृष्ट और प्रभावी वक्तृत्व तभी सफल होता है जब वह श्रोता के अन्तरंग में उतर जाए, श्रोता का मन प्रसन्नता से भर जाए और उसमें कल्याण के मार्ग पर चलने की उत्कण्ठा जागृत हो जाए। आचार्यश्री के वक्तृत्व में ये सभी विशेषताएं पायी जाती हैं।

सन्त, सम्प्रदाय निरपेक्ष होता है। वह सभी प्राणियों को अपने समान समझता है। कालदोष के कारण सन्त परम्परा में दोषों का प्रवेश बढ़ रहा है। सन्तत्व के दर्शन दुर्लभ होते जा रहे हैं। साम्प्रदायिक साधुसमाज की निरन्तर वृद्धि हो रही है। यदि दिगम्बर जैन परम्परा के साधुओं की ही बात करें तो कुछ साधु संघ जाति, उपजाति के चक्कर में समाज की एकता को विखण्डित कर रहे हैं, कुछ सामायिक, प्रतिक्रमण आदि भूलकर बंद कमरें में श्रेष्ठियों

को अर्थ संग्रह की प्रेरणा देने के साथ समाज के बीच राजनीति की विसात बिछाकर धर्मभाईयों के मध्य वर्गभेद पैदा कर रहे हैं। परमपूज्य आचार्य वसुनन्दी जी महाराज इन सबसे परे विलक्षण साधु हैं जिन्हें ध्यान और तप के साथ श्रुताराधना और साहित्य सृजन से प्रयोजन है। बहिरंग जीवन में उन्हें सभी संघ, सम्प्रदाय, जातियाँ, उपजातियाँ अर्थ विहीन हैं। 'वीतरागता' आपके संघ का अटल नियम है। आपके संघ में मिथ्यात्व और आगमविरोधी गतिविधियों को कोई स्थान नहीं है। आपके भक्तों ने ही आपके वीतरागभाव से प्रेरणा लेकर मानों आपके सन्तत्व की अभिवृद्धि की है।

नि:सन्देह आचार्यश्री द्वारा सृजित समस्त साहित्य में उनकी अटूट काव्य प्रतिभा, विशुद्ध ज्ञान गरिमा और भाषागत वैशिष्ट्य स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। **प्राकृत वाणी भाग-4** की भाषा सरल और सुबोधगम्य है। श्रमण परम्परा के उपासकों के साथ श्रमणेतर परम्पराओं के पाठकों के लिए भी यह ग्रन्थ उपादेय है। मुमुक्षुओं और श्रावकों दोनों के लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय तन्मात्रिक सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति में अवश्य सहायक सिद्ध होगा।

टीकमगढ —डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, से. नि. प्राचार्य
5 नव. 2023 मो० 9810792587

"साहित्य संवर्धन में आचार्य वसुनंदी जी का अवदान"

प्राकृत शौरसेनी भाषा से मेरा असल परिचय चलती फिरती पाठशाला रहे मेरे ज्ञान गुरु आचार्य विद्यानंद जी ने करवाया था। लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय विश्व विद्यालय दिल्ली में प्राकृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन हो, इस मुहिम में जुटे आचार्य श्री ने मुझसे भी प्राकृत भाषा कैसी है, क्या है, कब से है इन विषयों पर प्राकृत भाषा के शब्द एवं प्रारंभिक प्राकृत बोध से जुड़ी पुस्तकें देकर कविताएं लिखवाईं और उनका वाचन भी करवाया। पुण्यश्लोक आचार्य श्री के परम शिष्य आचार्य श्री वसुनंदी जी ने उनके द्वारा की गई भाषाई प्रतिष्ठा को निष्ठा भाव से बेलाग होकर और विस्तार दिया है। वह जहाँ एक ओर साहित्यिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है वहीं गुरु के प्रति उनके समर्पण भाव की परिचायक भी है।

अपने गुरु पुण्यश्लोक आचार्य श्री विद्यानंद जी के मंगल आशीर्वाद से आचार्य श्री वसुनंदी जी ने प्राकृत भाषा को और अधिक समृद्ध करते हुए उल्लेखनीय साहित्य संवर्धन किया है। हालांकि मैं प्राकृत भाषा की विद्वान् नहीं हूँ किन्तु कदाचित् मिठास भरी लोकवाणी जो तीर्थंकरों की वाणी भी रही और हमारे देश की प्राचीनतम प्रजातांत्रिक भाषा जिसमें हर तबके को, स्त्री पुरुष को और ऊंच-नीच के भेद से परे जनसाधारण को संवाद का अधिकार रहा, उसे धीरे-धीरे पढ़ कर हिंदी अनुवाद के माध्यम से और अधिक समझकर आचार्य श्री की तीन कृतियों पर अपनी तुच्छ लेखनी से संक्षिप्त सार समीक्षा प्रस्तुत करने का साहस जुटा रही हूँ। सर्वप्रथम, **"पसम-भावो" (प्रशमभाव)** जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो रहा है कि अपने भीतर के परिष्कार के संवर्धन हेतु समर्पित पुस्तक है।

इसमें "ग्रंथकार की लघुता'' पाठक को एक पल के लिए अपने समस्त का आकलन करने की ओर प्रवृत्त करती है।

"पसमभावोविरइदो,मइसूरि-वसुणंदिणागुरुकिवाइ।
बालोव्व णं णादूण, संजम-धारगा खमंतु मे।।70।।''

गुरु कृपा से मेरे आचार्य वसुनंदी मुनि के द्वारा यह ''प्रशमभाव'' नामक ग्रंथ लिखा गया। यद इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो संयम को धारण करने वाले साधुजन मुझे क्षमा करें।

अपने आप संयम पालन करते वसुनंदी गुरु अन्य सभी संयम धारक साधुजनों से क्षमायाचना करते हैं तब क्षमायाचना को भी असंयम, अधर्म से परे रखकर यह संदेश देते हैं कि क्षमा भाव संयम, तप और त्याग से उपजता है और यही प्रशमभाव के जागरण का प्रथम चरण है।

पसम भाव या प्रेम भाव क्रोध एवं कषाय के रहते नहीं उपज सकता। इसका उदाहरण वर्तमान में चारों ओर युद्ध, आतंक एवं अपराध वृत्ति के बढ़ते प्रकोप में जगजाहिर है।
आचार्य लिखते हैं–

"कोहाइ-कसायाणं, समणादो जादो दु पसमभावो।
कसायस्स तिव्वुदये, कहं ठाएज्ज सो चित्तम्मि।।18।।

क्रोधादि कषायों के शमन से प्रशमभाव उत्पन्न होता है। कषाय के तीव्र उदय में वह प्रशम भाव चित्त में किस प्रकार ठहर सकता है? अर्थात् नहीं ठहर सकता।
पुनः समझाते हैं–

"कोहेण खयंति खमा, दया विवेगो संती अज्जवया।
जहअग्गिणाडज्झंति,चंदणाइ-बहुमुल्ल-रुक्खा''।।38।।

क्रोध से क्षमा, दया, विवेक, शांति व सरलता उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि से चंदनादि बहुमूल्य वृक्ष जलकर नष्ट हो जाते हैं। कहा भी गया है कि क्रोध समस्त विनाश का आधार है। किंतु,

"खमाणीरं समत्थं, णव्वाविदुं जीवस्स कोहग्गिं।
कोहुवसमेण जीवे, फुडेदि खंतिभावो णियमा''॥40॥

जीव की क्रोधाग्नि को बुझाने के लिए क्षमा नीर ही समर्थ है। क्रोध के उपशम से जीव में नियम से क्षांति भाव प्रकट होता है।

यदि प्रशमभाव उपज जाएगा तो **"लोगुत्तर वित्ती'' (लोकोत्तर वृत्ति)** स्वयं प्रकट होगी क्योंकि जब कषाय आदि भाव नष्ट हो जाते हैं तो धर्म-अधर्म की विवेकशीलता भी जाग्रत हो जाती है जो हमें सद्गुरु, सच्चे महाव्रतधारी की सेवा हेतु प्रवृत्त करती है। इस विषय पर अपनी दूसरी पुस्तक ''लोगुत्तर वित्ती" में आचार्य श्री लिखते हैं–

"समणो दु धम्मलीणो, सिहिलायारि महव्वदिस्स सेवं।
कुणदि पूयं पसंसं, कहं गुणं वड्ढिदुं सक्को''॥55॥

धर्म में लीन जो श्रमण शिथिलाचारी महाव्रती की सेवा, पूजा, प्रशंसा करता है तो वह गुणों की वृद्धि करने में समर्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

आज के संदर्भ में कृतिकार का यह स्वीकार कि शिथिलाचार का पोषण हमारी सकारात्मक ऊर्जा एवं सद्गुणों को अधोगति की ओर ले जाता है सचमुच मुझे आश्चर्य चकित कर गया। अपने चारों ओर की उठा-पटक में साधु का स्वयं शिथिलाचार के विरोध में लिखना और सचेत करना उनके लेखन को निष्पक्ष एवं चिन्तनपरक साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है एवं उनकी विवेकशीलता को प्रकाशित करता है।

जिन धर्म में भावशुद्धि को सर्वोपरि माना गया है। वास्तव में, जैसा हम सोचते हैं हमारे कार्यों में, जीवन शैली में उसका प्रभाव दिखाई देता है। भाव अर्थात् अपनी सोच को सकारात्मक एवं उदार रखना आवश्यक है तभी जीवन में सुख-साता सम्भव है। सर्वमंगल की भावना ही स्वमंगल की रचनाकार है। प्रस्तुत छंद देखिए–

"सुहभावेहि लहंते, इट्ठवत्थुपदायगं बहुपुण्णं।
माणुसभव-मुच्चकुलं,सुसंगदि-देस-सुसक्कारा''॥13॥
"सादं णाणादीणं, वर-खओवसमं सम्मत्त-णाणं।
वेरग्गंविणयंवच्छलंजिणभत्ति-गुरुवासणा''॥14॥(जुम्मं)

शुभ भावों से जीव इष्ट वस्तु प्रदान करने वाले बहुत पुण्य को प्राप्त करते हैं। वे शुभ भावों से मनुष्यभव, उच्चकुल, सुसंगति, अच्छा देश व सुसंस्कार, साता वेदनीय, ज्ञानादि का श्रेष्ठ क्षयोपशम, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, विनय, वात्सल्य, जिनभक्ति व गुरूपासना रूप भाव को प्राप्त करते हैं।

सभी ग्रंथों की संपादिका सहज, सरल आर्यिका वर्धस्वनंदनी जी ने संपादकीय में धर्म ध्यान के विविध पहलुओं को उजागर किया है "धर्म, आत्मस्वभाव, ध्यान, ज्ञान, चिंतन, मनन, अनुभूति ये एकार्थवाची हैं। आत्मपरिणामों की स्थिरतापूर्वक सम्यक् अतीन्द्रिय आनंद की उपलब्धि हेतु किया गया आत्मपुरुषार्थ ही धर्मध्यान कहलाता है। जिस प्रकार जल, वस्त्र के मालिन्य को दूर कर देता है उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मालिन्य को दूर कर उसे निर्मल बना देता है। ध्यान में ही वह अभूतपूर्व शक्ति होती है जो अग्नि की भाँति करोड़ों वर्षों के संचित शुभाशुभ कर्मों को अंतर्मुहूर्त में जला देती है। धर्मध्यान जीव का परम मित्र है जिसकी प्राप्ति रत्नाकर में प्रच्छन्न रत्नों की प्राप्ति के समान दुर्लभ होती है। धर्मध्यान व्यक्ति को न केवल शारीरिक व मानसिक स्वस्थता

प्रदान करता है अपितु उसमें आध्यात्मिक शक्तियों का प्रादुर्भाव भी करता है। जिस प्रकार सिस्टम में इनपुट आउटपुट होता है। इनपुट से परिवर्तन लाकर आउटपुट को नियंत्रित किया जा सकता है इसी प्रकार धर्मध्यान को इनपुट मानें तो कर्मास्रव को मंदतम और निर्जरा को अधिकतम रूप में नियंत्रित किया जा सकता है।'' आचार्य श्री के लेखन में जिन भावों को अलग-अलग तरह से अभिव्यक्त किया गया है उनकी सुयोग्य शिष्या ने अपनी सम्पादन कला से निज शक्ति एवं सामर्थ्य अनुरूप उसे पाठकों एवं समीक्षकों के समक्ष संयोजित करके प्रस्तुत किया है।

तीसरा बहुचर्चित ग्रंथ प्राकृत भाषा ग्रंथों में एक कालजयी महाकाव्य है। महाराजा अशोक और रोहिणी के विवाह एवं विवाहेतर संबंध, उनके समय और धर्म प्रभावना को प्रकाशित करती आचार्य श्री वसुनंदी जी की कृति उन्हें महाकालीदास के समकक्ष लाती है। प्रस्तुत महाकाव्य का पौराणिक एवं ऐतिहासिक सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है इस कारण इसका प्रचार-प्रसार महज धर्माचार्य लिखित महाकाव्य के रूप में न होकर साहित्यिक दृष्टि से होना आवश्यक है।

प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध **''असोग-रोहिणी चरियं''** (अशोक रोहिणी चरित्र) प्राकृत भाषा में रचित सबसे वृहद् महाकाव्य है जो 2442 छंदों में निबद्ध व 21 नंदो (णंदो) में विभक्त है। सर्ग के स्थान पर 'णंद' (नंद) शब्द रचनाकार ने अपने ज्ञान गुरु आचार्य श्री विद्यानंद जी के प्रति नतमस्तक होकर उनके नाम से लिया है उनकी यह अनोखी गुरुभक्ति और उनका विनीत भाव गरिमापूर्ण साधक के रूप में जनमानस पर अपनी अलग छाप छोड़ता है।

यह महाकाव्य रोहिणी व्रत के माहात्म्य को प्रदर्शित कर सभी को उस व्रत के लिए संप्रेरित करने वाला है। भगवान् महावीर स्वामी

के समवसरण में पहुँचकर मुख्य श्रोता राजा श्रेणिक संप्रतिकालिक व्रत विधि व व्रत को पालन करने वालों के चरित्र को जानने की जिज्ञासा व्यक्त करते हैं। तब श्री इंद्रभूति गौतम गणधर उस दिन रोहिणी नक्षत्र होने के कारण रोहिणी व्रत की विधि तथा उसके फल को प्राप्त करने वाले महाराज अशोक व महारानी रोहिणी के जीवन वृत्तांत का वर्णन करते हैं। रोहिणी व्रत का माहात्म्य पाठकों को निश्चित ही रोमांचित करने वाला है। रोहिणी व्रत के प्रभाव से वह रोहिणी दु:ख, शोक, क्लेश, पीड़ा आदि को नहीं जानती थी। अंग देश के राजा मघवा की पुत्री राजकुमारी रोहिणी का विवाह स्वयंवर विधि से कुरजांगल देश, हस्तिनागपुर नगरी के राजा वीतशोक के पुत्र राजकुमार अशोक के साथ हुआ। राज्यादि का उपभोग कर पुन: संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर राजा अशोक प्रथम बालयति तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान् के गणधर हुए और मोक्ष को प्राप्त किया। महारानी रोहिणी ने भी कालांतर में मोक्ष प्राप्त किया। अत्यंत रोचक शैली में आचार्य श्री ने अनेक रस, छंद, भाव, अलंकार आदि एवं नीतियों का समावेश कर महाकाव्य को सरस, रुचिकर बना दिया है साथ ही हिंदी अनुवाद होने से हमारे जैसे पाठकों के लिए सुग्राह्य भी।

भव-भवांतर सहित महाराज अशोक व महारानी रोहिणी के चरित्र को अनेक सिद्धांत, नीतियों, सूक्तियों, शिक्षाओं व जीवन मूल्यों के साथ प्रस्तुत कर कृतिकार ने अपने नि:सीम ज्ञान का परिचय दिया है। संस्कारों के संवर्धन, संस्कृति के संरक्षण व मर्यादा परिपालन की शिक्षा का प्रबल हेतु "असोग-रोहिणी-चरियं" परिणामों की विशुद्धि, सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की शुद्धि, सम्यक् व्रत, तप, ध्यानादि की समृद्धि को प्रदान करने वाला है, इतना ही नहीं इसका अध्ययन मृत्यु जैसे महादुर्ग को लांघने का साहस और संबल प्रदान करता है। अंतिम परिशिष्टों

में महाकाव्य में निहित सूक्तियाँ समाहित हैं जिन्हें आत्मसात कर अन्तर्यात्री अपना पाथेय पा लेता है। बानगी के तौर पर–

47. शीलवंत-इत्थीए मज्जादा भूसणं च कुलविज्जा।–6/58

शीलवती स्त्री का आभूषण मर्यादा व कुलविद्या है।

48. पावोदयम्मि हवेदि दुहं सोग-कट्ठपीडादी।–6/62

पाप के उदय में दु:ख, शोक, कष्ट व पीड़ा होते हैं।

49. कोहो णासदि बुद्धिं विवेगं पदिट्ठं वत्तं च।–6/66

क्रोध, बुद्धि-विवेक-प्रतिष्ठा व आरोग्य को नष्ट कर देता है।

50. देहरूवकाणणं दु डज्झदि तिव्ववेगेण कोहग्गी।–6/67

क्रोध रूप अग्नि तीव्रवेग से देह रूपी वन को जला देती है।

225. णंददायगं हु जिणवयणं।–21/39

जिनेन्द्र भगवान् के वचन आनन्ददायक होते हैं।

226. जीवो सम्मत्तजोग्गा भव्वा हु।–21/69

सम्यक्त्व के योग्य जीव भव्य कहलाते हैं।

कुल 226 सूक्तियाँ इस ग्रंथ को विशिष्टता प्रदान करती हैं। महाकाव्य में आए विशेषण, क्रियापद आदि की लम्बी सूची ग्रंथ में दी गई है एवं आचार्य वसुनंदी कृत समस्त रचनाकर्म का उल्लेख भी दिया गया है। महाकाव्य का आवरण पृष्ठ वर्णित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को मुखर करता है एवं निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति ने मनोयोग से ग्रंथ का प्रकाशन किया है।

वस्तुत: आचार्य वसुनंदी जी का रचनात्मक योगदान अभूतपूर्व है एवं सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व से सराबोर है इसमें कोई दो राय नहीं। उनकी पुस्तकों में

वर्णित बहुआयामी विषयों को प्रचार-प्रसार कर और अधिक विस्तार दिया जाना चाहिए ताकि अधिक से अधिक पाठक एवं शिक्षाविद तथा प्राकृत भाषाविद इनसे लाभान्वित हो सकें।

–डॉ प्रभाकिरण जैन

ईमेल-prabha @prabhakiranjain.com

फोन-9212251115

अनुक्रमणिका

विषय **पृष्ठ संख्या**

(i) पसम-भावो **1-25**

*मंगलाचरण *वीतरागता ही सारभूत *वीतरागता का जनक-वैराग्य *वैराग्य की जननी *वैराग्य लक्षण *वैराग्य क्यों? *संसार के भेद *भव हेतु-देह *कर्म क्षय का निमित्त *देह विरक्ति से मोक्षमार्ग *देह नश्वरता *बहिरात्मा *संसार वृद्धिकारक-भोग *प्रशम भाव प्रशंसा *सम्यग्दृष्टि के लक्षण *कषायोदय में प्रशम भाव असंभव *प्रशम भाव से लाभ *संवेगी कौन? *अनुकंपा *आस्तिक्य *प्रशम भाव से आत्मसिद्धि *सम्यग्दर्शन की निर्मलता *तत्त्वज्ञान *तत्त्वज्ञानी ही मुक्ति के पात्र *सम्यग्दर्शन व उसके भेद *सराग सम्यक्त्व*वीतराग सम्यक्त्व *सराग सम्यग्दर्शन के लक्षण व गुण *गुणस्थानापेक्षा वीतराग सम्यक्त्व *गुणस्थानापेक्षा सराग सम्यक्त्व *सम्यग्दर्शन के अतिचार *वीतराग सम्यक्त्व किसके? *आत्म हित का बीज *कषाय शमन से ही प्रशम भाव *स्वपरघातक-क्रोध *सर्व-गुणभक्षी अग्नि-क्रोध *क्षमा से क्रोध पर विजय *मानी के कठोर भाव *गुणग्राहक नहीं मानी *मान से हानि *विनय से उत्थान *सुभाव घातक छल *रोग की जननी-दु:चिंता *निजात्मवंचक-कपटी *मायाचारी का स्वरूप *सरल व्यक्ति का सामर्थ्य *दीर्घ व निकट संसारी *भावी परमात्मा कौन? *लोभ पाप का बाप *लोभी की दुर्गति *जटिल बंधन-लोभ *लोभ क्षय हेतु निर्देश *पाप का जनक-पाप *आत्मघातक-कषाय *बिंब-प्रतिबिंबवत् कषाय-नोकषाय *सुख का कारण-प्रशमभाव *गुणोत्पादक प्रशमभाव *प्रशमभाव द्वारा राष्ट्र व आत्महित *प्रशमभाव से सुकार्यों की सफलता *प्रशमभाव का फल *ग्रंथकार की लघुता *अंतिम मंगलाचरण *प्रशस्ति

(ii) लोगुत्तरवित्ती **27-52**

*मंगलाचरण *ग्रंथ कथन प्रतिज्ञा *लौकिक-अलौकिक वृत्ति *जीव स्वरूप *अशुभ कर्मास्रव हेतु *पापकर्म *अशुभ कर्म फल

*शुभ भाव के स्वामी *शुभ भाव क्या? *शुभ भाव फल *शुभाशुभ भाव मोक्ष का कारण नहीं *दैव व पुरुषार्थ *परमज्ञानी कौन? *त्रियोग सदुपयोग *पुण्य महिमा *संकल्प शक्ति *सराग संकल्प भेद *पाप कारक-अशुभ संकल्प *अशुभ-शुभ भाव निवृत्ति *शुभ-अशुभ-शुद्ध भाव *ज्ञान ही आत्मा है *शब्द, ज्ञान नहीं *अशुभ ध्यान कैसे? *गृहस्थों के ध्यान नहीं *देशव्रतियों के निर्जरा *मुनिराज के ध्यान *निर्विकल्प धर्मध्यान कहाँ? *शुक्लध्यान कहाँ? *आर्त्त व रौद्रध्यान भेद *शुक्लध्यान भेद *धर्मध्यान भेद व स्वामी *धर्मध्यान माहात्म्य *मिथ्यादृष्टि की मान्यता *सम्यग्दृष्टि की मान्यता *धर्मध्यान के चार भेद *पदस्थ ध्यान *पिंडस्थ ध्यान *रूपस्थ ध्यान *रूपातीत ध्यान *योगी का कर्त्तव्य *वह मोक्षमार्गी नहीं *अशुभ निमित्त त्याग *सेवा कब गुणवर्द्धक? *सेवा कैसे? *जिनशासन प्रभावना आवश्यक *आत्म प्रभावना *प्रभावना कैसे? *यथार्थ प्रभावना * मात्र चिह्न कल्याण के हेतु नहीं *कर्त्तव्य चिंतन *धर्म घातक *पाप व दु:ख वर्धक *चैत्य भक्ति *गुरुभक्ति माहात्म्य *स्वाध्याय प्रेरणा *आत्मशुद्धि कैसे? *सद्धर्म रसायन *देव-शास्त्र-गुरु व धर्म स्वरूप *सिद्ध पद का पात्र *आत्मध्यान प्रेरणा *आत्मध्यान की सफलता *प्रभात कहाँ? *योगी का शत्रु *चिन्ता के दुष्परिणाम *भावनाओं का चिन्तन *कर्त्ता ही भोक्ता *योगाभ्यास *धर्मध्यान में स्थिरता कैसे *विषकुंभ *धर्मध्यान के हेतु *ध्यान स्थान *ग्रंथ का हेतु *अंतिम मंगलाचरण *ग्रंथकार की लघुता * ग्रंथ प्रशस्ति

(iii) असोग-रोहिणी-चरियं **53-513**

*पढम-णंदो *विदिय-णंदो *तिदिय-णंदो *चदुत्थ-णंदो *पंचम-णंदो *छट्ठ-णंदो *सत्तम-णंदो *अट्ठम-णंदो *णवम-णंदो *दसम-णंदो *एयारसम-णंदो *बारसम-णंदो *तेरसम-णंदो *चउद्दसम-णंदो *पंचदसम-णंदो *सोलसम-णंदो *सत्तरसम-णंदो *अट्ठारसम-णंदो *एगूणवीसइम-णंदो *वीसम-णंदो *एगवीसइम-णंदो

जिणवाणी-थुदी

महुरं विसदं पिय-गंभीरं
हिदयरं मिदं सिरिजिणवाणिं।

अणेगंतमयं सिआवायमयं
णिरुवमं समं सिरिजिणवाणिं।

जिणसव्वंगादो णिस्सरिदं
भविचित्तहरं सिरिजिणवाणिं।

बारस-अंगेहिं संजुत्तं
लोएपुज्जं सिरिजिणवाणिं।

कंठादिवचोकारणरहिदं
तयरोयहरं सिरिजिणवाणिं।

जगमंगल्लं जगकल्लाणिं
पणमामि सया सिरिजिणवाणिं।

पसम-भावो

(प्रशम भाव)

दुरधिगम्य उपलब्धियों को प्राप्त करने हेतु प्रशम भाव जीव का प्रथम पुरुषार्थ है। आत्मा की रयण मंजूषा में निक्षिप्त गुणराशि की सुरक्षा व प्रकटीकरण हेतु कषायों की क्षीणता नितांत आवश्यक है। पवित्र से पवित्रतर एवं पवित्रतम होने के लिए कषायों पर विजय अत्यंतावश्यक है। प्रस्तुत ग्रंथ कषायों से हानि व प्रशम भाव से अलौकिक उपलब्धियों को दर्शाने वाला अनुपम ग्रंथ है।

क्रोध
मान
माया
लोभ

आचार्य वसुनंदी मुनिराज कृत

पसम-भावो

(प्रशम भाव)

मंगलाचरण

वंदिय अणंतसिद्धे, गदराय-देवे सव्वसाहुणो य।
वोच्छामि पसमभावं, सय सवरकल्लाणत्थं हं॥1॥

अनंत सिद्धों, वीतरागी देव व सभी साधुओं को सदा वंदन करके स्व-पर कल्याण के लिए मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) 'प्रशमभाव' नामक ग्रंथ को कहता हूँ।

जिणधम्मं जिणवयणं, सव्वचेइय-चेइयालयाइं च।
णमित्ता विसुद्धीए, पसमभावजुदप्पम्मि ठामि॥2॥

जिनधर्म, जिनवाणी, सर्व चैत्य व चैत्यालयों को विशुद्धिपूर्वक नमस्कार करके मैं प्रशम भाव से युक्त अपनी आत्मा में स्थित होता हूँ।

वीतरागता ही सारभूत

भुवणत्तयम्मि सारं, वीयरायत्तं सगप्पणुभूदी।
केवलणाणकारणं, सव्व-कम्मक्खयहेदू तह॥3॥

तीनों लोकों में सारभूत वीतरागता स्वात्मानुभूति है, वही केवलज्ञान का कारण है तथा सर्व कर्मक्षय का हेतु है।

वीतरागता का जनक-वैराग्य

तस्स जणग-वेरग्गं, हेदू संजमो सुतवो झाणं वि।
अप्पहिदं सिवमग्गो, ण संभवो विणा वेरग्गं।।4।।

उस वीतरागता का जनक वैराग्य है। संयम, सम्यक् तप व ध्यान भी वीतरागता का कारण है। वैराग्य के बिना आत्मा का हित व मोक्षमार्ग संभव नहीं है।

वैराग्य की जननी

भासिदा अणिच्चादी, बारसविहा अणुवेक्खा समयम्मि।
ता हु वेरग्ग-मादू, संवेगस्स बहिणी णेया।।5।।

अनित्य आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ जिनागम में कही गई हैं। वे बारह भावनाएँ वैराग्य की माता और संवेग की बहनें जाननी चाहिए।

वैराग्य लक्षण

भव-सरीर-भोयादो, विरत्तभावो णेयं वेरग्गं।
तं सम्मं वेरग्गं, संजमुप्पायगं णियमेण।।6।।

संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति का भाव वैराग्य जानना चाहिए। वह सम्यक् वैराग्य नियम से संयम को उत्पन्न करता है।

वैराग्य क्यों?

कम्मबंधेण जीवो, भमदि दव्वाइ-पणविहसंसारे।
तं परिभमणं खयिदुं, भव्वो गहेज्जा वेरग्गं॥7॥

कर्मबंध से जीव द्रव्यादि पाँच प्रकार के संसार में परिभ्रमण करता है। उस संसार परिभ्रमण के क्षय के लिए भव्य जीव वैराग्य धारण करता है।

संसार के भेद

दव्वखेत्तयालभाव-भवा पणविहो संसारो भणिदो।
एक्को विरत्तभावो, समत्थो तं उहट्टेदुं च॥8॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव ये पाँच प्रकार का संसार कहा गया है। उस संसार के क्षय के लिए एक विरक्त भाव ही समर्थ है।

भव हेतु-देह

पंचविह-सरीराइं, संसारे भमण-कारणं णियमा।
चउविह-कायजोगा दु, कम्मासव-दुआराइं चिय॥9॥

पाँच प्रकार के (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्माण) शरीर नियम से संसार में परिभ्रमण का कारण हैं। तैजस काय के बिना चार प्रकार की काय के योग कर्मास्रव के द्वार हैं।

कम्मासव-कारणं दु, चउविहा मण-वयण-जोगा णियमा।
देहणिमित्तेण ते वि, देहेण विणा णेव बंधो ॥10॥

चार प्रकार के मन योग व चार प्रकार के वचन योग नियम से कर्मास्रव का कारण हैं। वे योग भी देह के निमित्त से होते हैं। देह के बिना कर्मों का बंध नहीं होता।

कर्मक्षय का निमित्त

थूलो उराल-देहो, जदि वज्ज-उसह-णाराय-जुत्तो दु।
कम्मभूमिजस्स होज्ज, मुक्ख-हेदू कम्मक्खयस्स॥11॥

कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य का स्थूल औदारिक शरीर यदि वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त होता है तो वह कर्मक्षय का प्रबल निमित्त होता है।

देहविरक्ति से मोक्षमार्ग

णियड-भवी देहं पडि, विरत्तभावेण होज्ज संजुत्तो।
देह-विरत्तीइ विणा, को खमो ठादुं सिवमग्गे॥12॥

निकट-भव्य जीव शरीर के प्रति विरक्त भाव से युक्त होता है। देह से विरक्ति के बिना मोक्षमार्ग पर स्थित रहने में कौन समर्थ होता है? अर्थात् शरीर से विरक्त जीव ही मोक्षमार्ग पर स्थिर हो सकते हैं।

देह नश्वरता

देहो अचेयणो खलु, ण अमुत्तिगो अप्परूवो कयाइ।
आउक्खये देहो वि, खयदि वरं कुणदि राय-महो॥13॥

देह निश्चय से अचेतन है। यह देह कदापि अमूर्तिक व आत्मरूप नहीं हो सकती। आयु के क्षय होने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है; किन्तु अहो! जीव तब भी इस नश्वर शरीर में राग करता है।

बहिरात्मा

मण्णदि देहं अप्पा, अण्णाणी खलु बहिरप्पा जो सो।
मिच्छाइट्ठी णियमा, लहंति इह अणंत-दुहाइं॥14॥

जो अज्ञानी शरीर को आत्मा मानता है वह निश्चय से बहिरात्मा है। मिथ्यादृष्टि जीव नियम से इस संसार में अनंत दु:ख प्राप्त करता है।

संसार वृद्धिकारक-भोग

भुंजंति अइगिद्धीइ, विसया पंचिंदियाण अण्णाणी।
भोया भववड्ढगा दु, भोय-विरत्ती सिवहेदू य॥15॥

अज्ञानी जीव ही अति आसक्ति से पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगते हैं। भोग संसार की वृद्धि करने वाले हैं और भोगों से विरक्ति मोक्ष का हेतु है।

प्रशम भाव प्रशंसा

विरागो पसम-हेदू, पसमेण विणा णेव सुहं संती।
पसमो अप्पवरगुणो, धम्मपुत्तो समत्तपाणो॥16॥

वैराग्य प्रशम भाव का कारण है और प्रशम भाव के बिना सुख व शांति संभव नहीं है। यह प्रशम भाव आत्मा का श्रेष्ठ गुण, धर्म का पुत्र व समता भाव का प्राण है।

सम्यग्दृष्टि के लक्षण

पसमो तह संवेगो, अत्थिक्कं अणुकंपा णियमादो।
सम्माइट्ठि-जीवाण, होंति सया चउ-लक्खणाइं॥17॥

सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से चार लक्षण सदैव होते हैं—प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकंपा।

कषायोदय में प्रशम भाव असंभव

कोहाइ-कसायाणं, समणादो जादो दु पसमभावो।
कसायस्स तिव्वुदये, कहं ठाएज्ज सो चित्तम्मि॥18॥

क्रोधादि कषायों के शमन से प्रशमभाव उत्पन्न होता है। कषाय के तीव्र उदय में वह प्रशम भाव चित्त में किस प्रकार ठहर सकता है? अर्थात् नहीं ठहर सकता।

प्रशम भाव से लाभ

उक्किट्ठ-पसमभावं, जो पाउणेदि जम्मि यालम्मि सो।
सुद्धप्पसरूवस्स दु, समीवे ठादि तम्मि याले॥19॥

जो जीव जिस समय उत्कृष्ट प्रशमभाव को प्राप्त करता है वह उस समय शुद्धात्म स्वरूप के समीप में स्थित होता है।

संवेगी कौन?

धम्मं धम्मफलं तह, धम्मिट्ठा पडि धरदि हरिस-भावं।
णियगुणधम्मं कंखदि, जो सो भासिदो संवेगी॥20॥

जो धर्म, धर्म के फल तथा धर्मात्माओं के प्रति हर्ष भाव धारण करता है, अपने गुण व धर्म की आकांक्षा करता है वह संवेगी कहा गया है।

अनुकंपा

पस्सिदूणं दुहिजणा, करुणाए विरादे जस्स हिअयं।
तस्स अणुकंपा गुणो, धम्मीणं लक्खणो भणिदो॥21॥

दु:खीजनों को देखकर जिसका हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है, उसका वह अनुकंपा गुण है। यह अनुकंपा धर्मात्माओं का लक्षण कहा गया है।

आस्तिक्य

अप्पा परमप्प-सत्ति-जुदो इमो विस्सासो अत्थिक्कं।
पत्तेयं अप्पा खलु, णेयो सिद्धोव्व सत्तीए॥22॥

आत्मा परमात्म शक्ति से युक्त है यह विश्वास आस्तिक्य है। प्रत्येक आत्मा निश्चय से सिद्ध के समान जाननी चाहिए।

प्रशम भाव से आत्मसिद्धि

पसमभावेण विणा ण, संभवा वद-सील-दाण-पूया य।
संजमो तवो झाणं, तेहि विणा णो अप्पसिद्धी॥23॥

प्रशम भाव के बिना पूजा, दान, व्रत, शील, संयम, तप व ध्यान संभव नहीं है और इन सबके बिना आत्मसिद्धि संभव नहीं है।

सम्यग्दर्शन की निर्मलता

परमट्ठभूददेवे, सत्थे गुरु-जिणधम्मेसु सद्दहिय।
मूढत्तं मद-दोसा, विहाय कुणदु दंसण-विमलं॥24॥

परमार्थभूत जिनेंद्रदेव, शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु व जिनधर्म में श्रद्धान करके मूढ़ता, मद व दोषों का त्याग कर सम्यग्दर्शन निर्मल करना चाहिए।

तत्त्वज्ञान

अप्पपरभेदणाणं, तच्चणाणरूवं होज्ज तियाले।
चेयणिदर-दव्वा णो, कयाइ होज्ज चेयणरूवा॥25॥

स्वपर भेद विज्ञान तीन काल में तत्त्वज्ञान रूप होता है। चेतन से इतर द्रव्य कदापि चेतन रूप नहीं होते।

तत्त्वज्ञानी ही मुक्ति के पात्र

मिच्छाइट्ठी णियमा, हवंति विहीणा तच्चणाणादो।
तच्चणाणजुद - सम्माइट्ठी अइरं लहंति मोक्खं॥26॥

मिथ्यादृष्टि नियम से तत्त्वज्ञान से विहीन होते हैं। तत्त्वज्ञान से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दर्शन व उसके भेद

सद्दहणं तच्च-दव्व-पंचत्थिकाय-णव-पदत्थाणं च।
चदुविहं दु सम्मत्तं, दव्वखेत्ताइ-अणुसारेण॥27॥

सात तत्त्व, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय व नव पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। द्रव्यादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) के अनुसार सम्यग्दर्शन चार प्रकार का जानना चाहिए।

सराग सम्यक्त्व

सम्मत्तं बेविहं च, भेयादो सराय-वीयरायाण।
ववहारागमभासा, भेदं सरागं एगट्ठं॥28॥

सराग और वीतराग के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा गया है। व्यवहार सम्यग्दर्शन, आगमभाषा, भेद व सराग सम्यग्दर्शन एकार्थवाची हैं।

वीतराग सम्यक्त्व

अप्पविसुद्धिमेत्तं दु, वीयराय-सम्मत्तं णिच्छयं च।
अभेद-मज्झप्पं वा, सुद्धदंसणं च एगट्ठं॥29॥

आत्म विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है। निश्चय सम्यग्दर्शन, वीतराग सम्यग्दर्शन, अभेद सम्यग्दर्शन, अध्यात्म सम्यग्दर्शन व शुद्ध सम्यग्दर्शन एकार्थवाची हैं।

सराग सम्यग्दर्शन के लक्षण व गुण

पसमाइ-चउलक्खणा, संवेगाइ-वसुगुणा सरागस्स।
धारित्ता जदणेणं, करेज्ज सगसम्मत्त-ममलं॥30॥

सराग सम्यग्दर्शन के प्रशम आदि चार लक्षण व संवेगादि अष्ट गुणों को धारण कर यत्नपूर्वक अपने सम्यक्त्व को निर्मल करना चाहिए।

गुणस्थानापेक्षा वीतराग सम्यक्त्व

वीयरायसम्मत्तं, अप्पमत्तप्पहुडि अजोगंतं च।
णीचअ-गुणट्ठाणेसु, असंभवो दु खरविसाणं व॥31॥

अप्रमत्त गुणस्थान से अयोगकेवली गुणस्थान तक वीतराग सम्यक्त्व होता है। नीचे के गुणस्थानों में वीतराग सम्यक्त्व गधे के सींग के समान असंभव है।

गुणस्थानापेक्षा सराग सम्यक्त्व

चदुत्थ-गुणट्ठाणादु, पहुडि-पमत्तंतं तहा सरागं।
पढम-विदिय-ठाणेसुं, असंभवो दु तिदिये मिस्सं॥32॥

चौथे गुणस्थान से प्रमत्तविरत गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व होता है। प्रथम व द्वितीय गुणस्थान में सम्यक्त्व असंभव है एवं तृतीय गुणस्थान में मिश्र भाव होता है।

सम्यग्दर्शन के अतिचार

संकाकंखदुगुंछा, अण्णदिट्ठिपसंसा संथवो तह।
सम्माइट्ठीण पणादियारा वारेज्ज जदणेण॥33॥

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-प्रशंसा तथा अन्यदृष्टि- संस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचार हैं। इन अतिचारों को यत्नपूर्वक दूर करना चाहिए।

वीतराग सम्यक्त्व किसके?

संजमविहीणाणं दु, णो कयाइ वीयरायसम्मत्तं।
तं सव्वदा संभवो, रयणत्तय-धारगाण-मेव ॥34॥

संयम से रहित जीवों के कदापि वीतराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता। वह वीतराग सम्यक्त्व रत्नत्रय धारकों के लिए ही सर्वदा संभव है।

आत्म हित का बीज

कसायसमणत्तादो, अप्पहिद-बीअं पसमभावो खलु।
पसमभावं विणा कं वि सम्मत्तं संभवो णेव॥35॥

कषायों का शमनत्व होने से प्रशमभाव निश्चय से आत्महित का बीज है। प्रशमभाव के बिना कोई भी सम्यक्त्व संभव नहीं है।

कषाय शमन से ही प्रशम भाव

समभावो असंभवो, समणं विणा कोहाइ-कसायाण।
बीअं विणा रुक्खोव्व, खीरं विणा सप्पीव तहा।।36।।

क्रोधादि कषायों के शमन के बिना प्रशमभाव उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष और दुग्ध के बिना घी असंभव है।

स्वपरघातक-क्रोध

तिव्वकोहोदयादो, जीवो होदि अविवित्तो लोयम्मि।
कोहजुदो पकुव्वेदि, सवरघाद-महिदं सव्वाण।।37।।

तीव्र क्रोध के उदय से जीव अविवेकी होता है। क्रोध से युक्त जीव लोक में अपना व दूसरों का घात करता है एवं सभी का अहित करता है।

सर्व गुणभक्षी अग्नि-क्रोध

कोहेण खयंति खमा, दया विवेगो संती अज्जवया।
जह अग्गिणा डज्झंति, चंदणाइ-बहुमुल्ल-रुक्खा।।38।।

क्रोध से क्षमा, दया, विवेक, शांति व सरलता उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि से चंदनादि बहुमूल्य वृक्ष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

णासेदि वत्तमूलं, अज्झप्पसत्तिं सया कोहग्गी।
कोहेण कलह-असंति-कूरभावा तह मिहो होज्ज।।39।।

क्रोध रूपी अग्नि आरोग्य के मूल व अध्यात्म शक्ति को नष्ट करती है। क्रोध से परस्पर में कलह, अशांति तथा क्रूरभाव होते हैं।

क्षमा से क्रोध पर विजय

खमाणीरं समत्थं, णिव्वाविदुं जीवस्स कोहग्गिं।
कोहुवसमेण जीवे, फुडेदि खंतिभावो णियमा॥40॥

जीव की क्रोधाग्नि को बुझाने के लिए क्षमा नीर ही समर्थ है। क्रोध के उपशम से जीव में नियम से क्षांति भाव प्रकट होता है।

मानी के कठोर भाव

माणतिव्वोदयादो, जीव-भावा अइकक्कसा सिला व्व।
तस्स ण रुच्चदि हिअयर-सिक्खा पित्तजरे सप्पीव॥41॥

मान के तीव्र उदय से जीव के भाव शिला के समान अति कर्कश होते हैं। उस मानी व्यक्ति को हितकर शिक्षा उसी प्रकार नहीं रुचती जिस प्रकार पित्त ज्वर वाले को घी नहीं रुचता।

गुणग्राहक नहीं मानी

माणी णत्थि मण्णंति, हिअयर-सिक्खं जिणसुदसाहूणं।
माणकसायेणं णो, अच्चेदि दु ते सो अंधोव्व॥42॥

मानी व्यक्ति जिनदेव, श्रुत व निर्ग्रन्थ साधुओं की हितकर

शिक्षा नहीं मानते। मान कषाय के कारण जो जीव उन जिन, श्रुत व साधुओं की अर्चना नहीं करता वह अंधे के समान है।

मान से हानि

कुलमज्जादा च धम्मकज्जं जिणायदणाणि सक्कारा।
माणिस्स सया खयंति, णिराउल-अप्पसुहं वि तहा।।43।।

मानी व्यक्ति के कुल की मर्यादा, धर्म के कार्य, जिनायतन, सुसंस्कार तथा निराकुल आत्मसुख भी सदा नष्ट होता है।

विनय से उत्थान

माणकसायसमणेण, विणयजुत्तो जीव-पवत्ती जेण।
सक्को गहिदुं सिक्खं, सुसक्कार-धम्मणीदि-गुणा।।44।।

मान कषाय के शमन से जीव की प्रवृत्ति विनय से युक्त होती है। जिस विनय से जीव शिक्षा, सुसंस्कार, धर्म, नीति व गुणों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

माणसमणेण सक्कदि, खमिदुं तवं रयणत्तयं गहिदुं।
तच्चचिंतणं करिदुं, वच्छलं तह वेज्जावच्चं।।45।।

मान कषाय के शमन से जीव क्षमा करने में, तप व रत्नत्रय को ग्रहण करने में, तत्त्वचिंतन, वात्सल्य तथा वैय्यावृत्ति करने में समर्थ होता है।

सुभाव घातक छल

तिव्वमाया-उदयादु, हवेज्ज चिय वक्क-कुडिल-परिणामा।
जेण खयंति सुभावा, अज्जवियं सुहदं धम्मो य॥46॥

तीव्र माया के उदय से जीव के वक्र व कुटिल परिणाम होते हैं। जिससे जीव के शुभ-निर्मल परिणाम, धर्म व सुखद सरलता नष्ट हो जाती है।

रोग की जननी दु:चिंता

सुद्धप्पाणुभूदिं ण, समत्थो कुणिदुं वक्कपरिणामी।
दुच्चिंता-आबद्धो, सगदेहं कुणदि सय रोयी॥47॥

कुटिल परिणाम वाला जीव शुद्धात्मानुभूति करने में समर्थ नहीं होता है। सदा दु:चिंता से बंधा हुआ जीव अपनी देह को रोगी कर लेता है।

निजात्मवंचक-कपटी

कुडिलस्स ण को वि बंधु-सेवग-परमोवयारी मित्तं च।
कुव्वेदि हु अप्पघादं सो उमच्छेदि णियप्पं च॥48॥

कुटिल जीव का न तो कोई बंधु, न सेवक, न परम उपकारी और न ही कोई मित्र होता है। वह मायाचारी अपनी आत्मा का घात करता है और निजात्मा को ठगता है।

मायाचारी का स्वरूप

जिम्हो णो गंभीरो, धीरो णो वीरो धम्मकज्जम्मि।
दुट्ठकज्जरदो दुट्ठ-मणोभाव-कूडे बद्धो दु।।49।।

मायाचारी गंभीर व धीर नहीं होता, धर्म कार्य में वीर नहीं होता। वह दुष्ट कार्य में रत, दुष्ट मनोभाव रूप पिंजरे में बंधा होता है।

सरल व्यक्ति का सामर्थ्य

माया-समणेणं जो, णिय-परिणामा कुणेदि उज्जू सो।
अज्जवधम्मं लहिदुं, समत्थो अप्पणिच्चविहवं।।50।।

माया कषाय के शमन से जो अपने परिणामों को सरल करता है वह आर्जव धर्म तथा आत्मा के नित्य वैभव को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

दीर्घ व निकट संसारी

गेहे रिअंत-सप्पो, उज्जू बहिरम्मि वक्कगदि-जुत्तो।
जह तह कुडिलो हु दिग्घ-संसारी णियडो सरलो य।।51।।

जैसे अपने घर में जाता हुआ सर्प सीधा होता है और बाहर वक्र गति से युक्त होता है अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा चलता है। उसी प्रकार दीर्घ संसारी कुटिल होता है और निकट भव्य सरल होता है।

भावी परमात्मा कौन?

जाणिदुं सगसहावं, सद्दहिदुं फासिदुं खमो सरलो।
सरलो भयवदोव्व तह, णियमादु भावी परमप्पा॥52॥

सरल जीव अपने स्वभाव को जानने, श्रद्धान करने व स्पर्श करने में समर्थ होता है। सरल परिणामी जीव भगवान् के समान होता है और नियम से भावी परमात्मा होता है।

लोभ-पाप का बाप

लोहस्स तिव्वुदयादु, सव्वविहासुहाइं जीवो कुणदि।
णेरिसं कं वि पावं, जं लोहवसेण कुव्वदि णो॥53॥

लोभ के तीव्र उदय से जीव सर्व प्रकार के अशुभ कार्य करता है। ऐसा कोई भी पाप नहीं है जो जीव लोभ के वशीभूत न करता हो।

लोभी की दुर्गति

लोही लोए भमदे, तडप्फडदि कूडे बद्धपक्खीव।
रज्जुणा बद्धपसूव, आकंदेदि तिव्व-लोहेण॥54॥

लोभी (लालची जीव) लोक में परिभ्रमण करता है। वह पिंजरे में बंद पक्षी के समान तड़पता है। तीव्र लोभ से जीव रस्सी से बंधे पशु के समान क्रंदन करता है।

जटिल बंधन-लोभ

णरं पसुं बंधेदुं, सक्कदि जह णिविड-अयस-संकलिआ।

सव्वजडिलबंधणं दु, लोहो अप्पस्स तह णेयो॥55॥

जिस प्रकार निविड लोह की शृंखला नर व पशु को बांधने में समर्थ होती है उसी प्रकार आत्मा का सबसे जटिल बंधन लोभ जानना चाहिए।

तत्थ दु कोहो माणं, माया णियमा जत्थ तिव्व-लोहो।

विणा लोहक्खयेणं, संभवो केवलणाणं णो॥56॥

जहाँ तीव्र लोभ होता है वहाँ क्रोध, मान व माया नियम से होते हैं। लोभ के क्षय के बिना केवलज्ञान संभव नहीं है।

लोभ क्षय हेतु निर्देश

जदणेण खयसु लोहं, जाव लोहो ताव रागो णियमा।

रागे जीविदे सया, देसो चिय मुच्छिदो जं तं॥57॥

जब तक लोभ है तब तक राग नियम से होता है और राग के जीवित रहने पर उस समय द्वेष भी मूर्च्छित रहता है। अतः हे भव्यजीव! यत्नपूर्वक लोभ का क्षय करो।

पाप का जनक-पाप

लोहादो संचिणेदि, परिग्गहं चिय असीमिदं जीवो।

संगे य विज्जमाणे, किं खयदे विसयाभिलासा॥58॥

विसयाहिलासाए दु, अचोरियवदं णो सुज्झदि कयाइ।
तस्स अभावे को सग-सच्चरूवं लहिदुं सक्को॥59॥

जत्थ असच्च-रज्जं हु, संकप्पी आरंभी उज्जोगी।
विरोहि-चउविहहिंसा, तत्थ पावं पाव-जणगं च॥60॥

[तिअं]

लोभ से जीव असीमित परिग्रह का संचय करता है। परिग्रह के विद्यमान होने पर क्या विषयों की अभिलाषा नष्ट होती है? कभी नहीं होती और विषयों की अभिलाषा से अचौर्यव्रत कदापि शुद्ध नहीं होता व उस अचौर्यव्रत के अभाव में अपने सत्य-स्वरूप को प्राप्त करने में कौन समर्थ होता है? तथा जहाँ असत्य का राज्य है वहाँ संकल्पी, आरंभी, उद्योगी व विरोधी चार प्रकार की हिंसा विद्यमान रहती है। उचित ही है कि पाप ही पाप को उत्पन्न करने वाला है।

आत्मघातक-कषाय

जहवि सगप्पघादगा, चउकसाया हवंते णियमादो।
तहवि णिगामदुल्लहा, णिवत्ती दु लोहकसायस्स॥61॥

यद्यपि चारों कषाय नियम से अपनी आत्मा का घात करने वाली होती हैं तथापि लोभ कषाय की निवृत्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

बिंब प्रतिबिंबवत् कषाय-नोकषाय

णिल्लूरिदुं कसाया, जो को वि समत्थो चिय पुरिसो सो।
णोकसाया वि खयंति, बिंबे णट्ठे पडिबिंबं वि॥62॥

जो कोई भी पुरुष कषायों को निर्मूल करने में समर्थ है उसकी नोकषाय भी नष्ट होती है। क्योंकि बिंब के नष्ट होने पर प्रतिबिंब भी नष्ट हो ही जाता है।

सुख का कारण-प्रशमभाव

पसमभावजुदस्स ते, ण दुहहेदू समणेसु कसायेसु।
मुच्छिदो सत्तू णेव, जोहस्स दुहहेदू जह तह॥63॥

जिस प्रकार मूर्च्छित शत्रु एक योद्धा के लिए दु:ख का कारण नहीं होता उसी प्रकार कषायों के शमन होने पर वे कषाय प्रशमभाव से युक्त जीव के लिए दु:ख का कारण नहीं होतीं।

गुणोत्पादक-प्रशमभाव

पसमभावादो जणदि, संवेगो अणुकंपा अत्थिक्कं।
जह दीवे पज्जलणे, पयासो तम-णासो णियमा॥64॥

जैसे दीपक के प्रज्ज्वलित होने से प्रकाश होता है, अंधकार का नाश होता है उसी प्रकार प्रशम भाव से संवेग, अनुकंपा व आस्तिक्य भाव नियम से उत्पन्न होता है।

प्रशम भाव द्वारा राष्ट्र व आत्महित

अणुसासण-रक्खा कुल-मज्जादारोग्ग-सक्किदीणं चिय।
पसमभावेण कुडुंब-समाज-देस-विस्साण हिदं॥65॥

प्रशम भाव से अनुशासन की रक्षा, कुल मर्यादा, आरोग्य व संस्कृति की रक्षा होती है तथा परिवार, समाज, देश व विश्व का हित होता है।

पसमभावेण झाणं, तच्चचिंतण-वेरग्ग-वद-तवाणि।
वड्ढेदि धम्ममग्गे, मोक्खमग्गे वि सगहिदत्थं॥66॥

प्रशम भाव से सम्यक् ध्यान, वैराग्य, व्रत, तप व तत्त्वचिंतन होता है एवं स्वहित के लिए वह जीव धर्ममार्ग व मोक्षमार्ग पर भी बढ़ता है।

प्रशमभाव से सुकार्यों की सफलता

सामाइयं वंदणा, थुदी पडिक्कमणं पच्चक्खाणं।
काउस्सग्गो विणओ, वेज्जावच्चं सज्झाओ य॥67॥

झाणं पायच्छित्तं, अणसणं जिणपूया सुगुरुसेवा।
सुकज्ज-सफलीभूदं पसमभावसंजुद-जीवस्स॥68॥

(जुम्मं)

प्रशम भाव से युक्त जीव के सामायिक, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, ध्यान, प्रायश्चित, उपवास, जिनपूजा व गुरुसेवादि सभी श्रेष्ठ कार्य सफलीभूत होते हैं।

प्रशमभाव का फल

सिद्धीसर-रायस्स दु, गहदि पसमभाव-रायदूदं जो।
ठादि सग-समीवे सो, णिवसेदि दु सिद्धालयं अध॥69॥

जो सिद्धीश्वर राजा के प्रशम भाव रूप राजदूत को ग्रहण करता है वह निजात्म समीप स्थित होता है, अनंतर सिद्धालय में निवास करता है।

ग्रंथकार की लघुता

पसमभावो विरइदो, मइ सूरि-वसुणंदिणा गुरुकिवाइ।
बालोव्व णं णादूण, संजम-धारगा खमंतु मे॥70॥

गुरु कृपा से मेरे आचार्य वसुनंदी मुनि के द्वारा यह ''प्रशमभाव'' नामक ग्रंथ लिखा गया। यदि इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो संयम को धारण करने वाले साधुजन मुझे क्षमा करें।

अंतिम मंगलाचरण

संतिं पायसायरं, जयकित्तिं देसभूसणं सूरिं।
मे पच्चक्खुवयारिं, णमामि विज्जाणंदसूरिं॥71॥

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज, महातपस्वी आचार्य श्री पायसागर जी मुनिराज, अध्यात्म योगी आचार्य श्री जयकीर्ति जी मुनिराज, भारतगौरव आचार्य

श्री देशभूषण जी मुनिराज एवं मेरे प्रत्यक्ष उपकारी आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) नमस्कार करता हूँ।

प्रशस्ति

पुण्णो पुण्णाहे गइ-आराहणा-गुरु-गगण-वीरद्धे।
चंदप्पह-सिवमासे, सिद्धखेत्त-सुवण्णसेलम्मि॥72॥

गति (4), आराधना (4), गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी (5), गगन अर्थात् लोकाकाश व अलोकाकाश (2)। 'अंकानां वामतो गतिः' से 2544 वीर निर्वाण संवत् में सिद्धक्षेत्र सोनागिरी में श्री चंद्रप्रभ भगवान् के मोक्षकल्याणक अर्थात् फाल्गुन माह में शुभ दिन में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ।

मंगल-गीत

जिणवरो मंगलं, मुणिवरो मंगलं
भत्तिसुह-मंगलं, सव्वदा मंगलं॥1॥

पावसंघादगं, पुण्ण-उप्पायगं
जिणवरदंसणं, सव्वसुह-दायगं॥2॥

भवभयहारगं, भुवदहि-तारगं
सिरिजिणदंसणं, अप्पगुण-पालगं॥3॥

अट्ठविहि-खंडगं, अट्ठगुण-वड्ढगं।
सिरिजिणदंसणं, सव्वदुह-णासगं॥4॥

छत्तत्तयमंडिदा, णाणजुद-पंडिदा।
घाइविहि-खंडगा, जोगत्तय-दंडगा॥5॥

जिणवराणं णमो, मुणिवराणं णमो
धम्मस्स णमो, आगमस्स णमो॥6॥

जयदु जिणसासणं, विस्सकल्लाणगं
सिक्खावदि जं सया, अप्प-अणुसासणं॥7॥

सिवसुहस्स विही, जेण वक्खाणिदा
जयदु जिणसासणं, वसुगुण-वड्ढगं॥8॥

लोगुत्तरवित्ती

(लोकोत्तर वृत्ति)

रात्रिदिव मोक्षमार्ग में श्रम करने वाले श्रमणों की वृत्तियों को देखते हुए भव्यात्मा विषय-कषायों से विरक्त हो जाता है। दिगंबर मुनिचर्या सुलभ नहीं है। बाहरी पदविक्षेप को संभालकर चलते हुए जहाँ चींटी की रक्षा भी आवश्यक है वहाँ आभ्यंतर आत्मप्रदेश को कर्मबंध से रहित रखना भी अनिवार्य है। योगी के आभ्यंतर वैभव के हेतु भाव, ध्यानादि का वर्णक यह ग्रंथ अद्‌भुत है।

आचार्य वसुनंदी मुनि विरचित

लोगुत्तरवित्ती

(लोकोत्तर वृत्ति)

मंगलाचरण

सव्वसुद्ध-सिद्धाणं, णिरंजणाण अणंतणाणजुदाण।
णमो सव्वगुणमयाण, लोयग्गठिद-अकलंकाणं॥1॥

निरंजन (कर्म रूपी अंजन से रहित), अनंत ज्ञान से युक्त, सर्व गुणमय, लोक के अग्रभाग पर स्थित, अकलंक (सर्व दोष रूप कलंक से रहित) सभी शुद्ध सिद्धों को नमस्कार हो।

अरिहाइ-पंचगुरुणो, सेसचउदेवा अवि परियंदामि।
सुहभत्तीए णिच्चं, णस्सेदुं तिविह-कम्माइं॥2॥

श्री अरिहंत आदि पंचगुरु अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु एवं शेष चार देव अर्थात् जिनधर्म, जिनागम जिनचैत्य व जिनचैत्यालयों को तीन प्रकार के कर्मों के नाश के लिए शुभ भक्तिपूर्वक नित्य नमस्कार करता हूँ।

ग्रंथ कथन प्रतिज्ञा

वसुगुणं च वसुभूमिं, पप्पोदुं अजिदजिणं वंदित्ता।
वसुकम्मं खयेदुं दु, वोच्छामि लोगुत्तर-वित्तिं॥3॥

सिद्धों के अष्ट गुण व अष्टभूमि प्राप्त करने एवं अष्ट कर्मों के क्षय के लिए श्री अजितनाथ प्रभु की वंदना करके मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) लोकोत्तर-वृत्ति नामक ग्रंथ को कहता हूँ।

लौकिक-अलौकिक वृत्ति

तित्थयर-अणुत्तर-जोगीण अण्णकेवलि-महाजोगीण।
संसारीण लोगिगा, जोगीणं लोगिदर-वित्ती॥4॥

तीर्थंकर अनुत्तर योगी हैं, अन्य केवली महायोगी हैं एवं अन्य साधु योगी हैं इन सबकी अलौकिक वृत्ति होती है जबकि संसारियों की लौकिक वृत्ति होती है।

जीव स्वरूप

पज्जट्ठियेण तणूइ, दव्वट्ठियेणं लोयपमाणो य।
जीवो अचल-चल-उहय-पदेस-जुदो सीलोड्ढगई॥5॥

जीव पर्यायार्थिक नय से देह प्रमाण है व द्रव्यार्थिक नय से लोक प्रमाण है। वह अचल, चल व चलाचल प्रदेशों से युक्त है एवं ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है।

जीवो उवओगमओ, णिच्चो अमुत्तो य कत्ता भोत्ता।
संसारि-सकम्मा णिक्कम्मा-मुत्ता परमझेया॥6॥

जीव उपयोगमय, नित्य, अमूर्तिक, कर्त्ता व भोक्ता है। संसारी जीव कर्म से सहित हैं एवं मुक्त जीव कर्म से रहित हैं और ये मुक्त जीव ही परम ध्येय हैं अर्थात् योगियों को सिद्धों का ध्यान करना चाहिए।

अशुभ कर्मास्रव हेतु

राय-दोस-मिच्छत्ताविरदि-पमाद-कसायेहि अज्जंति।
जीवा असुहकम्माणि, अहण्णिसं असुहजोगेहिं॥7॥

जीव राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व अशुभ योगों से निरंतर अशुभ कर्मों का आस्रव करता है।

पापकर्म

रायोव्व मोहणीयं, महापावकम्मं बेआवरणं।
विग्घमसादासुहाउ-णाम - णीयगोद - असुहाइं॥8॥

कर्मों में मोहनीय राजा के समान है, वह महा पापकर्म है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम व नीचगोत्र ये सभी अप्रशस्त, अशुभ व पाप कर्म हैं।

अशुभ कर्म फल

असुहकम्मोदयेणं पावंते असुहफलं णियमादो।
अणिट्ठजोगत्तयं च, पोग्गला अवि सया अणिट्ठा॥9॥

अशुभ कर्म के उदय से जीव नियम से अशुभ फल प्राप्त करते हैं। अनिष्टकारी मन, वचन व काय एवं अनिष्ट पुद्गल भी अशुभ कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।

तेणं इट्ठ-विओगज-अणिट्ठ-संयोगज-वेयण-दुहाणि।
माणसदुहं च कक्कस-वयणं कुणिदाणं लहंते॥10॥

उस अशुभ कर्म के उदय से जीव इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग से उत्पन्न वेदना, दुःख, मानसिक दुःख, कर्कश वचन व कुनिदान रूप भाव को प्राप्त करते हैं।

शुभ भाव के स्वामी

सम्माइट्ठि - णाणीण, देस - महव्वदि - मंदकसायाणं।
उहयसेणीगदाणं, सजोगाजोगीण सुभावा॥11॥

सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, देशव्रती, महाव्रती मंदकषायी, उभय श्रेणी गत अर्थात् उपशम श्रेणी चढ़ने वाले उपशामक व क्षायिक

श्रेणी चढ़ने वाले क्षपक, सयोग केवली व अयोग केवलियों के शुभ भाव होते हैं।

शुभ भाव क्या?

जेहिं भावेहि पुण्णबंधो ते सुहभावा णादव्वा।
कम्मजुदादो वि सुहा, अजोगीण सुद्धा सिद्धाण॥12॥

जिन भावों से पुण्य का बंध होता है वे शुभ भाव जानने चाहिए। कर्म युक्त होने से अयोगकेवलियों के शुभ भाव कहे हैं एवं सिद्धों के सदैव शुद्ध भाव होते हैं।

शुभ भाव फल

सुहभावेहि लहंते, इट्ठवत्थुपदायगं बहुपुण्णं।
माणुसभव-मुच्चकुलं, सुसंगदि-देस-सुसक्कारा॥13॥

सादं णाणादीणं, वर-खओवसमं सम्मत्त-णाणं।
वेरग्गं विणयं वच्छलं जिणभत्ति-गुरुवासणा॥14॥ (जुम्मं)

शुभ भावों से जीव इष्ट वस्तु प्रदान करने वाले बहुत पुण्य को प्राप्त करते हैं। वे शुभ भावों से मनुष्यभव, उच्चकुल, सुसंगति, अच्छा देश व सुसंस्कार, साता वेदनीय, ज्ञानादि का श्रेष्ठ क्षयोपशम, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, विनय, वात्सल्य, जिनभक्ति व गुरूपासना रूप भाव को प्राप्त करते हैं।

तित्थजत्तं तह तच्च-चिंतणं सुहेणं चित्त-थेज्जं च।
लहंति सज्झाणं सय, सुहभावजणिद-सुपुण्णेणं॥15॥

शुभ भाव जनित पुण्य से जीव तीर्थयात्रा, तत्त्वचिंतन, सुख पूर्वक चित्त की स्थिरता व सद्ध्यान को प्राप्त करते हैं।

तेण सुगिहत्थो देस-महव्वदी अपमत्तुवसामगा य।
खवगो अरिहंतो अवि, पुण्णे णट्ठे सुद्धसिद्धो॥16॥

उस शुभ भाव जनित पुण्य से जीव सद्गृहस्थ, देशव्रती, महाव्रती, अप्रमत्त, उपशामक, क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाला क्षपक और अरिहंत भी होता है। तथा पुण्य के नष्ट होने पर शुद्ध सिद्ध होता है।

शुभाशुभ भाव मोक्ष का कारण नहीं

सुहासुहभावेहि णो, मोक्खो हु संभवो कस्स वि कया वि।
उहयभावेसु खयेसु, लहदि सगपरमसुद्ध-भावं॥17॥

शुभ व अशुभ भावों से किसी को कभी भी मोक्ष संभव नहीं है। दोनों शुभ व अशुभ भावों के क्षय होने पर जीव अपने परम शुद्ध भाव को प्राप्त करता है।

दैव व पुरुषार्थ

सुपुरिसट्ठेणं विणा, को वि णो समत्थो खयिदुं भावं।
पुव्वसुपुरिसट्ठफलं, वट्टमाणे दइवं णेयं॥18॥

अपने पुरुषार्थ के बिना कोई भी अपने भावों को क्षय करने में समर्थ नहीं होता। पूर्व के सम्यक् पुरुषार्थ का फल वर्तमान में दैव व भाग्य जानना चाहिए।

तेण पावदे इट्ठं वट्टमाणुज्जमो चिअ पुरिसट्ठो।
कायर-मूढा भणंति, दइवेणं लहामो मोक्खं॥19॥

उस सम्यक् पुरुषार्थ से जीव इष्ट पदार्थों को प्राप्त करता है। वर्तमान का उद्यम ही पुरुषार्थ है। कायर व मूर्ख जीव ही कहते हैं कि ''हम भाग्य से मोक्ष प्राप्त करेंगे।''

परमज्ञानी कौन?

परमणाणी य जहत्थ-सद्धावंतो सुधमम्मि जो सो।
पुरिसट्ठं कुणदि सवर-हिदस्स दु आउक्खयपुव्वे॥20॥

जो अपनी आयु के क्षय होने के पूर्व ही स्वपर हित का पुरुषार्थ करता है वह ही सद्धर्म में यथार्थ श्रद्धावान् व परमज्ञानी है।

त्रियोग सदुपयोग

सदुवजोगं करेज्जा, सगधणसाहणाणं च जोगाणं।
दुरुवजोगेणं सम्म-पुरिसट्ठो केरिसो ताणं॥21॥

अपने धन, साधन, योग (मन-वचन व काय) का सदुपयोग करना चाहिए। इनका दुरुपयोग करने से सम्यक् पुरुषार्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

पुण्य महिमा

संवरणिज्जराहिं च, सक्कदि पावेदुं मोक्खं जीवो।
पुण्णोदयेणं विणा, संवरं णिज्जरं करिदुं ण॥22॥

कर्मों के संवर व निर्जरा से ही जीव मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। पुण्य उदय के बिना कोई भी संवर व निर्जरा करने में समर्थ नहीं होता।

संकल्प शक्ति

जो को अवि संकप्पं, ओग्गहदि लहिदुं वीयरायत्तं।
सो दु आसण्ण-भव्वो, अप्पभवेसु लहदे मोक्खं॥23॥

जो कोई भी वीतरागता प्राप्त करने का संकल्प ग्रहण करता है वह आसन्न भव्य जीव अल्पभवों में मोक्ष प्राप्त करता है।

सराग संकल्प भेद

सुहासुहाण भेयादु, दुविहो सराय-संकप्पो समये।
णिक्कंख-सुसंकप्पो, देदुं खमो गदरायत्तं॥24॥

शुभ व अशुभ के भेद से शास्त्र में सराग संकल्प दो प्रकार का कहा गया है। निःकांक्ष शुभ संकल्प वीतरागता प्रदान करने में समर्थ होता है।

पाप कारक-अशुभ संकल्प

देदि असुह-संकप्पो, दोत्थं असुहाउं रोयं सोगं।
को अह-मज्जदि मणेण, असुहसंकप्पेणं विणा दु॥25॥

अशुभ संकल्प दुर्गति, अशुभ आयु, रोग व शोक प्रदान करता है। अशुभ संकल्प के बिना मन से कौन पाप का अर्जन करता है? अर्थात् जब तक व्यक्ति अशुभ संकल्प न करे तब तक मन से पाप का अर्जन (व भाव) संभव नहीं है।

अशुभ-शुभ भाव निवृत्ति

दव्वट्ठियं पडुच्चा, करेज्ज णिवत्तिं असुहभावाणं।
सुहभावाणं पि पुणो, णिवत्तीइ सम्मपुरिसट्ठं॥26॥

द्रव्यार्थिक नय का आश्रय करके अशुभ भावों की निवृत्ति करनी चाहिए। पुनः शुभ भावों की निवृत्ति के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए।

थिरचित्तेण तिजोगा, संभालेज्ज असुहणिवत्तीइ पुण।
अध तस्स णिवत्तीए, सुहं पि विहाय लहदु सुद्धं॥27॥

सर्वप्रथम अशुभ भावों की निवृत्ति के लिए चित्त को स्थिर करके तीनों योगों को सम्हालना चाहिए। पुनः उस शुभ की भी निवृत्ति के लिए शुभ को छोड़कर शुद्ध को प्राप्त करना चाहिए।

शुभ-अशुभ-शुद्ध भाव

असुहो होज्ज कुसीलं, सुहो वि सुद्धावेक्खाइ कुसीलं।
संसारीण सुद्धो वि, सुहो सिद्धाण परमसुद्धा।।28।।

अशुभ भाव विभाव है और शुद्ध की अपेक्षा से शुभ भाव भी विभाव है। संसारी प्राणियों का शुद्ध भाव भी शुभ ही जानना चाहिए एवं सिद्धों के परमशुद्ध भाव जानने चाहिए।

ज्ञान ही आत्मा है

अप्पा णाणं भणिदं, णाणं अप्पा जहत्थे मण्णेज्ज।
अप्पं विणा ण णाणं, णाणेण विणा कहं अप्पा।।29।।

आत्मा को ज्ञान कहा गया है। यथार्थ में ज्ञान को ही आत्मा माना जाता है। आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना आत्मा किस प्रकार हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।

शब्द, ज्ञान नहीं

सद्दा णेव णाणं हु, कारणादो णाणं कहंति के वि।
खओवसम-हेदू सक्का तस्स विड्ढीइ णिमित्तं।।30।।

शब्द, ज्ञान नहीं है। ज्ञान का कारण होने से कुछ लोग शब्द को ज्ञान कहते हैं। वे शब्द ज्ञान के क्षयोपशम के हेतु व उस ज्ञान की वृद्धि में निमित्त होने में समर्थ हैं।

अशुभ ध्यान कैसे?

अइकसायेण पुव्वह-सक्कारेणक्खविसय-पवत्तीइ।
असुहझाणाणि होज्जा, संपइ तियरंजणेणं वा।।31।।

अतिकषाय, पूर्व पाप कर्म के संस्कार एवं इंद्रिय विषयों में प्रवृत्ति से अथवा वर्तमान में तीनों में रंजायमान होने से जीव के अशुभ ध्यान होते हैं।

गृहस्थों के ध्यान नहीं

गेहीण मेत्तं तच्च-चिंतणरूवभावणाणुभावणा।
उवयारेण सुझाणं, सुपुण्ण-बंधस्स कारणं हु॥32॥

गृहस्थों के मात्र तत्त्वचिंतन रूप भावना और अनुभावना होती है। उनके शुभ ध्यान उपचार से ही होता है। एवं वही पुण्य बंध का कारण है।

देशव्रतियों के निर्जरा

संवरेणं संभवो, अइ-पाव - णिज्जरा किंचि वदीणं।
अभावत्तादु मिच्छत्तेग - अविरदि - चदुत्थंताण॥33॥

देशव्रतियों के संवरपूर्वक अति पाप कर्मों की निर्जरा संभव है। क्योंकि उनके मिथ्यात्व, एक अविरति व चतुर्थ गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों से कर्मों का आस्रव होता है, उनका अभाव हो जाता है।

मुनिराज के ध्यान

सरागसंजमी महव्वदी, पमत्ता तच्चचिंतणरदा।
कयाइ अट्टज्झाणं, संभवो बहुआ सुधम्मम्मि॥34॥

सरागसंयमी, महाव्रती, तत्त्वचिंतन में रत प्रमत्तविरत मुनिराज अधिकतर धर्मध्यान में रत रहते हैं किंतु कदाचित् आर्तध्यान भी संभव है।

निर्विकल्प धर्मध्यान कहाँ?

वर-णिव्विअप्प-धम्मज्झाणं अपमत्तादु सुहुमंतं च।
कसायसब्भावे णो, मणंति सुक्कं के वि सूरी॥35॥

अप्रमत्तविरत गुणस्थान से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक उत्कृष्ट निर्विकल्प धर्मध्यान होता है। कषाय का सद्भाव होने पर कई आचार्य वहाँ शुक्लध्यान नहीं मानते।

शुक्लध्यान कहाँ?

कसायअभावत्तादु, उवसंतादु अजोगीठाणंतं।
चउसुक्कं कमेण, उवयारेण दुअंतणाणेसुं॥36॥

कषाय का अभाव होने से उपशांत कषाय गुणस्थान से अयोग केवली गुणस्थान तक क्रम से चार शुक्लध्यान जानने चाहिए। अर्थात् ग्यारहवें उपशांतकषाय गुणस्थान में पहला, बारहवें क्षीणमोह में दूसरा, तेरहवें सयोगकेवली में तीसरा व चौदहवें अयोगकेवली में चौथा शुक्लध्यान होता है। अंत के दो (13वें व 14वें) गुणस्थान में ध्यान उपचार से होता है।

आर्त्त व रौद्रध्यान भेद

इट्ठविओगणिट्ठ-संजोगा पीडाचिंतणं णिदाणं।
अट्टं च हिंसा-मुसा-चोरिअ-संगणंदी रुद्दं॥37॥

इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ाचिंतन व निदान ये चार आर्तध्यान के भेद हैं। हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी व परिग्रहानंदी ये चार रौद्रध्यान के भेद हैं।

शुक्लध्यान भेद

पिथगत्तं वितक्कं च, वीयारं एगत्त-अवीयारं।
सुहुम-किरिय-पडिपादी, विओवरद-किरिया-णिवत्ती॥38॥

पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कअवीचार, सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाती व व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं।

धर्मध्यान भेद व स्वामी

आणा-अपाय-विवाग-संठाणविचयं चदुविहं धम्मं।
चदुत्थ-पणम-छट्ठेसु, बे-तिय-चदू कमेण झाणं।।39।।

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय व संस्थानविचय, ये चार प्रकार के धर्मध्यान हैं। चतुर्थ गुणस्थान में धर्मध्यान के दो, पाँचवें गुणस्थान में धर्मध्यान के तीन तथा छठे गुणस्थान में धर्मध्यान के चारों भेद होते हैं।

तस्स अण्णभेया अवि, जीवाजीवलोयहेदु-उवाया।
विरागविचया हेदू-संवरणिज्जराण पुण्णस्स।।40।।

उस धर्मध्यान के अन्य भेद भी हैं—जीवविचय, अजीवविचय, लोकविचय, हेतुविचय, उपायविचय और विरागविचय। धर्मध्यान पुण्य का, संवर का एवं निर्जरा का हेतु है।

धर्मध्यान माहात्म्य

धम्मज्झाणेण असुहकम्माण संकमणं होज्ज सुहेसु।
असुहाण ओकड्ढणं, सुहपइडीण उक्कस्सणं पि।।41।।

धर्मध्यान से अशुभ कर्मों का संक्रमण शुभ में होता है। अशुभ प्रकृतियों का अपकर्षण व शुभ प्रकृतियों का उत्कर्षण भी हो सकता है।

सद्धम्मस्स खलु तिव्व-अणुरायेणं सुहपइडीण तहा।
ठिदी दिग्घाणुभागो, तिव्वो सुहकारणं णियमा।।42।।

सद्धर्म के तीव्र अनुराग से शुभ प्रकृतियों की स्थिति दीर्घ होती है और अनुभाव तीव्र होता है। सद्धर्म नियम से शुभ का कारण है।

मिथ्यादृष्टि की मान्यता

तच्चसरूव-मण्णहा, सरूवं पि जिणसुदमुणि-धम्माणं।
मिच्छाइट्ठी मणंति, अण्णहा किलेसभावेहिं।।43।।

मिथ्यादृष्टि जीव क्लेशभावों से तत्त्व स्वरूप को अन्यथा मानते हैं। जिनदेव, श्रुत, मुनि व धर्म के स्वरूप को अन्यथा मानते हैं।

सम्यग्दृष्टि की मान्यता

सम्माइट्ठी कुणंति, जहरिहेण तच्चचिंतणं मणंति।
पणगुरु-धम्मप्प-समय-आदीण जहत्थ-सरूवं च।।44।।

सम्यग्दृष्टि जीव यथार्थ रूप से तत्वचिंतन करते हैं। वह सम्यग्दृष्टि पंचगुरु, धर्म, आत्मा व शास्त्रादि के यथार्थ स्वरूप को मानते हैं।

धर्मध्यान के चार भेद

धम्मरदा वड्ढंते, विसुद्धिं तच्चचिंतणेण णिच्चं।
पदत्थं पिंडत्थं च, रूवत्थं रूवादीदं हु।।45।।

धर्म में रत जीव नित्य तत्त्वचिंतन से अपनी विशुद्धि वृद्धिंगत करते हैं। पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ये चार भी धर्मध्यान के भेद हैं।

पदस्थ ध्यान

ओं अरिह-सिद्धाइरिय-पाढग-साहूण बीयक्खराणं।
परमेट्ठिवायगाणं, चिंतणं झाणं पदत्थं हु।।46।।

ऊँ, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, पाठक, साधु का, परमेष्ठी वाचक बीजाक्षरों का चिंतन करना पदस्थ ध्यान है।

पिंडस्थ ध्यान

सिदपहा-विप्फुरंतं, परमोरालियदेहं केवलीव।
णिअयं झाणिज्जेदि, पणधारणाजुद-पिंडत्थं।।47।।

केवली के समान श्वेत किरणों से स्फुरायमान, परमौदारिक देह रूप अपनी आत्मा का जो ध्यान किया जाता है वह पिंडस्थ ध्यान है। यह ध्यान पाँच धारणाओं से युक्त है।

रूपस्थ ध्यान

देहट्ठिद-णियप्पस्स, सुद्धसरूव-चिंतणं दु सगदं च।
अरिह-सरूवगुणाणं, चिंतणं परगद-रूवत्थं।।48।।

देह में स्थित अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिंतन करना स्वगत रूपस्थ ध्यान है। तथा अरिहंत के स्वरूप व गुणों का चिंतन करना परगत रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत ध्यान

सद्देहिं अवत्तं च, वज्जिदं रस-रूव-गंध-फासादु।
सगसंवेदणजोग्गं, देहादीदं गुणपुंजं च।।49।।

ववहारेण सव्वण्हु-सव्वदंसी णिच्छयेण इदरं च।
झाणिज्जदि णिअयं जं, सिद्धोव्व रूवादीदं तं।।50।। (जुम्मं)

रस, रूप, गंध व स्पर्श से रहित, शब्दों के द्वारा अव्यक्त, स्वसंवेदन के योग्य, गुणों की पुंज, देहातीत, व्यवहार से सर्वदर्शी व सर्वज्ञ, निश्चय से आत्मदर्शी व आत्मज्ञ, सिद्धों के समान अपनी आत्मा का जो ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान है।

योगी का कर्त्तव्य

कसायं णोकसायं, विसय-मारंभं संग-मामुयित्तु।
सगसत्तीए जोगी, होज्ज झाण-णाण-तव-लीणा।।51।।

योगियों को कषाय, नोकषाय, विषय, आरंभ व परिग्रह का त्याग कर अपनी शक्ति के अनुसार ज्ञान, ध्यान व तप में लीन होना चाहिए।

सव्वदा बहिरसंगं, अवहेडित्तु सत्तीइ अंतरं वि।
णिवसेज्जा जोगी चिय, धम्मज्झाण-पसत्थ सदणे।।52।।

सर्वदा बाह्य परिग्रह का एवं शक्ति के अनुसार अंतरंग परिग्रह का भी त्याग कर योगी को धर्मध्यान के प्रशस्त भवन में निवास करना चाहिए।

वह मोक्षमार्गी नहीं

जदि वसदि विसयकसाय-संगारंभेहि किलेसेहि मुणी।
सेवदे अणायदणं, तो णिव्वाणमग्गी कहं दु।।53।।

यदि कोई मुनि संक्लेश भावों से विषय-कषाय-परिग्रह व आरंभ में वास करता है अर्थात् उन्हीं में लीन रहता है व अनायतनों का सेवन करता है तो वह मोक्षमार्गी कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

अशुभ निमित्त त्याग

सव्व-असुह-णिमित्तं दु, उस्सिक्केज्ज जोगत्तयबलेणं।
गुरुपद-जिणवयण-साहु-संगदि-मप्पज्झाणं कुणदु।।54।।

योगी को योगत्रय (मन, वचन, काय) के बल से सर्व अशुभ निमित्तों को त्याग देना चाहिए। उसे गुरुचरण, जिनवचन व साधुओं की संगति एवं आत्मध्यान करना चाहिए।

सेवा कब गुणवर्द्धक?

समणो दु धम्मलीणो, सिहिलायारि-महव्वदिस्स सेवं।
कुणदि पूयं पसंसं, कहं गुणं वड्ढिदुं सक्को॥55॥

धर्म में लीन जो श्रमण शिथिलाचारी महाव्रती की सेवा, पूजा, प्रशंसा करता है तो वह गुणों की वृद्धि करने में समर्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

सेवा कैसे?

रोगि - सल्लेहणारद - मरणसम्मुह - जदी अणुवज्जेज्जा।
वच्छलोवगूहण - ठिदि - करणेहि विजित्ता दुगुंछं॥56॥

ग्लानि को जीतकर वात्सल्य, उपगूहन व स्थितिकरण के द्वारा रोगी, सल्लेखनारत वा मरण के सन्मुख यतियों की सेवा करनी चाहिए।

जिनशासन प्रभावना आवश्यक

संजमी वि सत्तीए, जिणसासणपहावणं पकुव्वेज्ज।
जिणसासणपहावणा-रहिदा सवरधम्मघादगा॥57॥

संयमी को शक्ति के अनुसार जिनशासन की प्रभावना करनी चाहिए। जिनशासन की प्रभावना से रहित स्वपर धर्म के घातक जानने चाहिए

आत्म प्रभावना

णिव्विअप्पझाणेणं, अप्पपहावण-मेगंते ठाइय।
अपमत्तचरिया वि जिण-पहावणाए वरणिमित्तं॥58॥

सर्वप्रथम एकांत में ठहरकर निर्विकल्प ध्यान के द्वारा आत्म प्रभावना करनी चाहिए। अप्रमत्तचर्या भी जिनशासन की प्रभावना का श्रेष्ठ निमित्त है।

प्रभावना कैसे?

णाणं तवं संजमं, पालिय कुणदु बहिर-पहावणं पुण।
सावया पणोल्लिय महपूयं दाणं करावेज्जा॥59॥

पुनः ज्ञान, तप व संयम का पालन कर बाह्य प्रभावना करनी चाहिए। श्रावकों को प्रेरणा देकर महापूजा व दान कराना चाहिए।

यथार्थ प्रभावना

तहवि सय चिंतेज्ज सग-संजमं विराहिय पहावणा णो।
णिरवज्ज-पहावणा हि, जिणमग्गस्स जहत्था जाण॥60॥

तथापि सदैव चिंतन करना चाहिए कि अपने संयम की विराधना कर कभी प्रभावना नहीं हो सकती। निरवद्य प्रभावना ही जिनमार्ग की यथार्थ प्रभावना जानो।

मात्र चिह्न कल्याण के हेतु नहीं

दियंबरत्तं मेत्तं, पिच्छी कमंडलुं च वदहीणस्स।
णेव कल्लाण-हेदू, कहं होज्ज मोक्खमग्गी सो॥61॥

व्रत हीन के मात्र दिगंबर भेष वा पिच्छी-कमंडलु कल्याण के हेतु नहीं है। वे (व्रतहीन) मोक्षमार्गी कैसे हो सकते हैं?

कर्त्तव्य चिंतन

पत्तेयं चिंतेज्जा, साहू सगकत्तव्वं तिसंझासु।
जदि दोसं दिस्संते, तो तं परिहरेज्ज जदणेण॥62॥

प्रत्येक साधु को तीनों संध्याकालों में अपने कर्त्तव्यों का चिंतन करना चाहिए और यदि उनमें दोष दिखायी दें तो यत्नपूर्वक उनका परिहार करना चाहिए।

धर्म घातक

अकरणीयं ण करेज्ज, अकत्थ-वयणं च णेव भासेज्जा।
सागारा अणगारा, होज्ज धम्म-घादगं जम्हा॥63॥

सागार (श्रावक) व अनगार (मुनियों) को अकार्य नहीं करने चाहिए और नहीं बोलने योग्य वचनों को नहीं बोलना चाहिए क्योंकि वे धर्म के घातक होते हैं।

पाप व दु:ख वर्धक

कुचिंतणीयं चिंतदि, अकरणीयं कुणदि अकत्थं कहदि।
जो सो घादेदि स-सुहं, वड्ढदि पावं सवरदुक्खं॥64॥

जो कुचिंतनीय का चिंतन करता है, अकार्य को करता है और नहीं बोलने योग्य बोलता है वह अपने सुख का घात करता है एवं पाप व स्वपर दु:ख को वृद्धिगत करता है।

चैत्य भक्ति

जिणभत्तिं पडुच्च णियदेहं जिणालयं अप्पा जिणं च।
मणित्ता कुणदु भत्तिं, जदि चुअदे तो गुरुभत्तिं हु॥65॥

जिनभक्ति का आश्रय लेकर अपनी देह को जिनालय व आत्मा को जिनदेव मानकर सदैव उसकी भक्ति करनी चाहिए यदि उससे च्युत हो जाए तो गुरुभक्ति करनी चाहिए।

गुरुभक्ति माहात्म्य

गुरुभत्ती णियमादो, भववरसुह-हेदू मुत्तीए पुण।
संपइ रोग-सोग-भय-विणासगा सव्वदुहाणं वि॥66॥

गुरुभक्ति नियम से संसार के उत्कृष्ट सुखों का पुनः मुक्ति का हेतु है। वर्तमान में वह रोग, शोक, भय व सर्व दुःखों का नाश करने वाली है।

स्वाध्याय प्रेरणा

जिणभत्तीए जदि णो, चित्तथिरं तो करेज्ज सज्झायं।
सज्झाओ वर-हेदू, सोहेदुं तिजोगपवत्तिं॥67॥

यदि जिनभक्ति में चित्त स्थिर नहीं हो तो स्वाध्याय करना चाहिए। त्रियोग की प्रवृत्ति को शुद्ध करने के लिए स्वाध्याय उत्कृष्ट हेतु है।

आत्मशुद्धि कैसे?

णाणतवेहिं झाणे, रमंतो सुज्झदि सगप्पं जोगी।
जह तह हु आसणेणं, सुज्झेदि हु कणगपासाणं॥68॥

जिस प्रकार अग्नि के द्वारा कनक पाषाण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान व तप के द्वारा ध्यान में रमण करता हुआ योगी अपनी आत्मा को शुद्ध करता है।

सद्धर्म रसायन

पारस-संजोगेणं, अयसपिंडो खलु कंचणं जह तह।
सुधम्मरसायणेणं, अप्पा अवि होदि परमप्पा॥69॥

जिस प्रकार पारसमणि के संयोग से लोहे का पिंड स्वर्ण हो जाता है उसी प्रकार सद्धर्म रूपी रसायन से आत्मा भी परमात्मा हो जाती है।

देव-शास्त्र-गुरु व धर्म स्वरूप

रायविवज्जिद-देवो, कुरायहीणमुणी हिंसारहियो।
धम्मो विवाद-हीणं, सत्थं जिणमग्गो हिद-जुदो॥70॥

राग से रहित देव, कुराग से हीन मुनिराज, हिंसा से वर्जित धर्म और विवाद से रहित शास्त्र होते हैं। जो सदैव हित से युक्त है वह जिनमार्ग है।

सिद्ध पद का पात्र

पसत्थझाणजोगेण, अव्वय-णिरंजण-सिद्धपदं लहदि।
सव्व-आरंभ-कसाय-विसय-संग-चागी मुणिंदो॥71॥

सर्व आरंभ, कषाय, विषय और परिग्रह के त्यागी मुनींद्र प्रशस्तध्यान के योग से अव्यय, निरंजन, सिद्धपद प्राप्त करता है।

आत्मध्यान प्रेरणा

तिल्लं व तिलमज्झम्मि, कट्ठे अग्गीव खीरम्मि घिदं व।
सिप्पीए मोत्तिअं व, गब्भवदीए गब्भत्थोव्व॥72॥

देहमज्झे सिवं सय, कणगपासाणम्मि तह हिरण्णं व।
जोगीहि पस्सिदव्वं, तं दु सज्झाणेणं णिच्चं॥73॥ (जुम्मं)

जैसे तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, दूध में घृत, सीप में मोती, गर्भवती स्त्री में गर्भस्थ शिशु और कनक पाषाण में सोना होता है उसी प्रकार देह मध्य स्थित आत्मा है। उसे योगियों को नित्य ही सद्ध्यान के द्वारा देखना चाहिए।

चिंतेज्ज सव्वविअप्प - वियारदंदपपंचरहिद - अप्पं।
जोगी मोणेण सया, रमेज्ज झाणज्झयणतवेसु॥74॥

योगी को मौनपूर्वक सदैव सर्व विकल्प, विकार, द्वंद व प्रपंचों से रहित आत्मा का चिंतन करना चाहिए और ध्यान, अध्ययन व तप में रत होना चाहिए।

आत्मध्यान की सफलता

सुद्धप्पझाणं विणा, जोगीण जवो तवो तित्थजत्ता।
ववहारकिरिया वि णिप्फला य बहुसिस्साणुयायी॥75॥

शुद्धात्म ध्यान के बिना योगी का जप, तप, तीर्थयात्रा, व्यवहार क्रिया, बहुत शिष्य व अनुयायी सब निष्फल है।

प्रभात कहाँ?

जस्स जोगिस्स चित्ते, रयणत्तयक्क-उदिदो खलु सददं।
तस्स सुणाण-पहादं, सुहसंतिजीमूअविट्टी वि॥76॥

जिस योगी के चित्त में सदैव रत्नत्रय रूपी सूर्य उदय को प्राप्त है उसके ही सम्यग्ज्ञान का प्रभात है एवं सुख-शांति रूपी मेघों की वृष्टि भी है।

योगी का शत्रु

समणचित्ते विज्जंत - रायदोससंजुदवियारभावा।
तस्स सत्तू मण्णेज्ज, णेव कोवि चिअ बहिर-सत्तू॥77॥

श्रमण के चित्त में विद्यमान राग-द्वेष से संयुत विकारी भाव उसके शत्रु माने जाते हैं। उसका कोई भी बाह्य शत्रु नहीं होता।

चिन्ता के दुष्परिणाम

परचिंता सण्णाणं, णस्सेदि वेरग्गं वदं तवं च।
अप्पचिंतणं वड्ढदि, सज्झाण-तव-संजम-पहुडी॥78॥

परचिंता सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, व्रत व तप को नष्ट कर देती है। आत्मचिंतन स्वाध्याय, तप व संयम आदि को वृद्धिंगत करता है।

चिंता वड्ढदि वाहिं, हणदि तणुकंति-विवेग-सुह-संती।
खयेदि पमोदं धिदिं, संवेग-कित्ति-मेत्ति-भत्ती॥79॥

चिंता रोग को बढ़ाती है। वह देह की कांति, विवेक, सुख व शांति का हनन करती है। चिंता प्रमोद, धृति, संवेग, कीर्ति, मैत्री व भक्ति को नष्ट करती है।

भावनाओं का चिन्तन

अणिच्चाइ -अणुवेक्खा, दह - धम्मा संवेगाइ - गुणट्ठा।
दंसणविसोहि-पहुडी, धिदि-पहुडि-पंचं चिंतेज्जा॥80॥

योगियों को अनित्यादि अनुप्रेक्षा, दस धर्म, संवेगादि आठ गुण, दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावना व धृति आदि पाँच भावनाओं का चिंतन करना चाहिए।

कर्त्ता ही भोक्ता

सुहासुहं कम्मं जह, कुव्वेमि तह भुंजेमि णियमादो।
कम्मं खयित्तु अहुणा, लहिस्सामि परमणिव्वाणं॥81॥

शुभ व अशुभ जैसे कर्म करता हूँ नियम से उसी प्रकार का फल भोगता हूँ। अब कर्मों का क्षय कर मैं परमनिर्वाण को प्राप्त करूँगा।

योगाभ्यास

जम-णियमासण-पहुडी, अब्भासेज्ज सया जोगं जोगी।
तिजोग-सुद्धीए जं, चेयणसुद्धी वि णियमादो॥82॥

योगियों को सदा त्रियोग की शुद्धि के लिए यम, नियम, आसन आदि योग का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि तीनों योगों की शुद्धि से चेतना की शुद्धि भी नियम से होती है।

धर्मध्यान में स्थिरता कैसे

भवतणभोयेसु रदो, जो चिंतदि अट्टं रुद्दज्झाणं।
सो होज्ज कहं सक्को, चित्तथिरं कुणिदुं धम्मम्मि॥83॥

जो संसार, शरीर व भोगों में रत है, आर्त्त व रौद्र ध्यान का चिंतन करता है वह धर्म में चित्त स्थिर करने में समर्थ कैसे हो सकता है?

विषकुंभ

णिच्छये लीण-जदीण, पडिक्कमणादी तह विसकुंभोव्व।
जं झाणे णो करेज्ज, विअप्पं सुहासुहवियारं॥84॥

निश्चय में लीन यतियों के लिए प्रतिक्रमण आदि विषकुंभ के समान हैं क्योंकि ध्यान में कोई विकल्प वा शुभाशुभ विचार नहीं करने चाहिए।

धर्मध्यान के हेतु

सण्णाणं वेरग्गं, णिग्गंथं परिसहजओ समत्तं।
कसायमंदत्त - मप्प - विसुद्धी धम्म - झाण - हेदू॥85॥

सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, निर्ग्रन्थता, परीषहजय, समत्वभाव, कषायों की मंदता और आत्मविशुद्धि धर्मध्यान के हेतु हैं।

ध्यान स्थान

बंभठाणे ललाडे, णयणेसु कण्णेसु खंधजुगले य।
हिअये णाहीए भू-जुगंते करेज्ज सुह-झाणं॥86॥

ब्रह्मस्थान, ललाट, दोनों नेत्र, कर्ण, दोनों कंधे, हृदय, नाभि व भौं के अंत पर शुभ ध्यान करना चाहिए।

ग्रंथ का हेतु

कहिदो-लोगुत्तर-वित्ति-गंथो लोगिगवित्ति-णिवत्तीइ।
जोगत्तयसुद्धीए, रयणत्तय - थिरिमाए तहा॥87॥

लौकिक वृत्ति से निवृत्ति के लिए, योगत्रय की शुद्धि के लिए व रत्नत्रय की स्थिरता के लिए यह ''लोगुत्तर-वित्ती'' अर्थात् ''लोकोत्तर वृत्ति'' नामक ग्रंथ कहा गया है।

अंतिम मंगलाचरण

आइरिया संतिपाय-सायर-जयकित्ती देसभूसणं।
वंदे विज्जाणंदं, तिरयणसुद्धीइ तिजोगेहि॥88॥

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी, महातपस्वी आचार्य श्री पायसागर जी, अध्यात्मयोगी आचार्य श्री जयकीर्ति जी, भारत गौरव आचार्य श्री देशभूषण जी एवं सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज को रत्नत्रय की शुद्धि के लिए तीनों योगों से वंदना करता हूँ।

विसुद्धीए उसहाइ - वीरंत - सव्वतित्थयरा णमामि।
केवली सुदकेवली, पणभवं छिंदिदुं गणेसा॥89॥

श्री वृषभदेव से आदि लेकर श्री महावीर जिनेन्द्र तक सभी तीर्थकरों, केवली श्रुतकेवली व गणधरों को पाँच प्रकार के संसार का छेद करने के लिए विशुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

ग्रंथकार की लघुता

लहुबुद्धि-पमादेहिं, जदि किंचिवि गंथम्मि इमे दोसो।
तो सुदधरा सोहेज्ज, जाणिय बालोव्व मे खमंतु॥90॥

लघु बुद्धि व प्रमाद से यदि इस ग्रंथ में किंचित् भी दोष रह गया हो तो श्रुत को धारण करने वाले महान् (श्रुतधर) आचार्य बालक के समान जानकर मुझे क्षमा करें एवं संशोधित करें।

मम परमोवयारि-गुरु-विज्जाणंद-सूरिस्स किवाए य।
लिहिदो गंथिमो मए, सूरि-वसुणंदिणा मोक्खस्स॥91॥

मेरे परमोपकारी आचार्य श्री विद्यानंद जी गुरुदेव की कृपा से यह ग्रंथ मोक्ष प्राप्ति हेतु मुझ आचार्य वसुनंदी द्वारा लिखा गया।

ग्रंथ प्रशस्ति

आदिधाम - जिणभवणे, फरीदाबाद - हरियाणापंते।
सावणसिददहमीए, गुरुवासरम्मि सुहजोगम्मि॥92॥

पदत्थ-गदि-सुगुरु-दव्व-वीरणिव्वाणद्धे चिअ समत्तो।
सवर-हिद-कारगो तह, आणंदवड्ढगो गंथो हु॥93॥ (जुम्मं)

हरियाणा प्रांत में फरीदाबाद में श्री आदिधाम जिनभवन में श्रावक शुक्ल दशमी के दिन गुरुवार, शुभ योग में पदार्थ (9), गति (4), गुरु (5), द्रव्य (2) 'अंकानां वामतो गतिः' से 2549 वीर-निर्वाण संवत् में यह लोकोत्तर वृत्ति नामक ग्रंथ पूर्ण हुआ। यह ग्रंथ निश्चय से स्व-पर का हित करने वाला व आनंद की वृद्धि करने वाला है।

असोग-रोहिणी-चरियं

(अशोक-रोहिणी चरित्र)

यथार्थ ज्ञान के अभाव में मनुष्य मोहमरूस्थल को चिन्तामणिभूमि मानकर सदैव दु:ख ही प्राप्त करता है। किन्तु जिनवचनों का प्रकाज़ उसे धर्म व मर्यादा के सत्पथ पर अग्रसर करता है। चतु: अनुयोगों से परिपूरित, अत्यंत रोचक, आकर्षक, नैतिक मूल्यों व धार्म के अद्‌भुत प्रभाव को दर्शाने वाला एवं शब्दातीत आनंद से परिपूरित यह महाकाव्य परिणाम विशुद्धि प्रदाता एवं मन: स्थिरता हेतु दिव्यौषधि के समान है। दिगंबर परंपरा का प्रथम बृहद् यह प्राकृत महाकाव्य अनुपमेय है।

आचार्य वसुनंदी मुनिराज कृत

असोग-रोहिणी-चरियं

(अशोक-रोहिणी चरित्र)

महाकाव्य

पढम-णंदो

मंगलाचरण

1. सव्वा तित्थयरा खलु, जुगपादलुढिदिंददेवकुमारा।
   सत्तकरुणट्ट चित्ता, - सुरवरपातिदचमरचारा य॥1॥
2. मोक्खलच्छीणिवासा, झाणासिणा छिंदिदकम्मपासा।
   भामंडल-सहस्सक्क - भासा पणकल्लाणवित्तं॥2॥
3. णिरुविदा सिआवाया, सया रयणत्तय-सिंगारहारा।
   भत्तीएणमंसामि,कसाय-सप्पदप्पणासाय॥3॥(तिअं)
4. सुव्वय-संजम-समाहि-जुदा सेय-फल-पदायगा णिच्चं।
   सव्वण्हु-सिद्ध-साहू, सिद्धंत-गंथं णमंसामि॥4॥

जिनके दोनों चरणों में इंद्र, देवकुमार लोट रहे हैं, जिनका चित्त समस्त जीवों पर करुणा से आर्द्र है, इंद्र जिन पर चंवर ढोर रहे हैं, जो मोक्ष रूपी लक्ष्मी का निवास हैं, जिन्होंने ध्यान रूपी कृपाण के द्वारा कर्मपाश को छेद दिया है, जिनका भामंडल हजारों सूर्यों की कांति से सहित है, पंचकल्याणक ही जिनका धन है, जिन्होंने स्याद्वाद का निरूपण किया, जो रत्नत्रय रूपी सुंदर हार को धारण करने वाले हैं, कषाय रूपी सर्प के दर्प को जिन्होंने नष्ट कर दिया है उन सभी तीर्थंकरों को मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) भक्तिपूर्वक सदा नमस्कार करता हूँ॥1-3॥ सुव्रत, संयम और समाधि से युक्त, श्रेय फल प्रदायक सर्वज्ञ प्रभु, सिद्ध, साधु और जिनागम को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ॥4॥

5. तुरियथालस्स पढमं, तित्थयर-मजियणाहं दु पणमामि।
सासणयालम्मिजस्स,सत्तति-अहिय-सय-तित्थयरा॥5॥

6. महाभिसगोव्व सय जो, करिदुं चित्तसुद्धिं विजय-हेदू।
वयणं महोसहीव दु, जस्स सो वसेज्ज मम चित्ते॥6॥

7. पंचकल्लाण-विहूदि जुदा उसहादीदु वीर-जिणंतं।
संपइयाले भरहे, धम्मपवट्टगा णमंसामि॥7॥

8. सुभावेहिं वंदामि, सिरिमंदराइ-वीस-तित्थयरा हु।
विदेहे विज्जमाणा, सव्वा तिव्व-भत्ति-रायेण॥8॥

9. उसहसेणाइ-सव्वा इड्ढिजुदा चउणाणजुदा णिच्चं।
कडुअ सुद्धं थिरं सग-चित्तं गणहरा णमंसामि॥9॥

10. ते दाएज्जा सत्तिं, मज्झं णाणावरणाइं खयिदुं।
केवलणाणलद्धीइ, य सगसहाव-संपत्तीए॥10॥

11. इंदभूदिगोदमं च, सुहम्मसामिं लोहाइरियं वा।
जंबूसामिं णमामि, इमा तिअणुबद्धकेवलिणो॥11॥

12. विण्हुं च णंदिमित्तं, अवराजिदं गोवद्धणं णिच्चं।
भद्दबाहुं पंचसुद - केवली सुदसारं लहिदुं॥12॥

13. सच्चमहव्वदं सया, णिद्दोसं पालेदुं तिसुद्धीइ।
लहिदुंकेवलणाणं,णमंसामितिव्वभत्तीए॥13॥(जुम्मं)

14. अणंतवीरादो सिरिधर-केवलि-जिणंतं सया सव्वा॥
थुवेमि गुणं पाविदुं, हरिदुं सगचित्तकालुस्सं॥14॥

15. पुज्ज-पण-परमेट्ठीण, जिणबिंबाण किट्टिमाकिट्टिमाण।
जिणचेइयालयाणं, णमो णमो सया भत्तीए॥15॥

चतुर्थ-काल के प्रथम तीर्थंकर जिनके शासनकाल में एक सौ सत्तर (170) तीर्थंकर हुए उन श्री अजितनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।।5।। जो चित्त की शुद्धि करने के लिए महावैद्य के समान हैं, विजय के हेतु हैं, जिनके वचन महाऔषधि के समान हैं वे श्री अजितनाथ भगवान् मेरे चित्त में वास करें।।6।। वर्तमानकाल में भरत क्षेत्र में पंचकल्याणक विभूति से युक्त श्री वृषभनाथ भगवान् से श्री महावीर भगवान् तक सभी धर्म प्रवर्तकों को नमस्कार करता हूँ।।7।। विदेह क्षेत्र में विद्यमान सभी श्री सीमंधर आदि बीस तीर्थंकरों को शुभ भावों से व तीव्र भक्ति के अनुराग से नमस्कार करता हूँ।।8।। अपने चित्त को शुद्ध व स्थिर करके चार ज्ञान से युक्त, ऋद्धिधारी श्री वृषभसेन आदि सभी गणधरों को नित्य नमस्कार करता हूँ।।9।। वे सभी केवलज्ञान की प्राप्ति, निज स्वभाव की प्राप्ति एवं ज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षय के लिए मुझे शक्ति प्रदान करें।।10।। श्री इंद्रभूति गौतम स्वामी, सुधर्म स्वामी अपर नाम लोहाचार्य व जंबूस्वामी इन तीन अनुबद्ध केवलियों को नमस्कार करता हूँ।।11।। श्री विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतकेवलियों को श्रुतसार की प्राप्ति, त्रिशुद्धिपूर्वक सत्य महाव्रत के निर्दोष पालन एवं केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए तीव्र भक्ति से विशुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।12-13।। श्री अनंतवीर्य प्रभु से श्री श्रीधर केवली तक सभी जिनों की अपने चित्त की कलुज़ता के नाश एवं गुणों की प्राप्ति के लिए सदा स्तुति करता हूँ।।14।। पूज्य पंच परमेष्ठियों को, कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिंबों को एवं जिन चैत्यालयों को भक्तिपूर्वक सदा नमस्कार हो-नमस्कार हो।।15।।

16. आगम-वयणाणिसुणिय,सुमरिदूणंविअसेदिममचित्तं।
सेवित्तु णाणामियं, णंददि णिहिपत्तणिद्धणोव्व॥16॥

17. णाण-पयासं देदुं,अण्णाण-तिमिर-विणासिदुं सक्कं।
जिणवयणं बेदहंग-संजुद-भारदिं णमंसामि॥17॥

18. सिआवाय-लंछण-जुद-सिरिजिणधम्मंपणमामिभत्तीइ।
जीवाणमभयप्पदं, पाविदं मए जस्स सरणं॥18॥

19. सूरिं संतिसायरं, जिणधम्मपवट्टगं चरियचक्किं।
तित्थयरोव्व पणवीस-सय-वीर-मोक्खद्धे थुवेमि॥19॥

20. पणमामि तस्स सिस्सं, महातवस्सि-पायसायर-सूरिं।
तस्स पहाणसिस्सं दु, इंदिय-विजेदुं तिजोगेण॥20॥

21. भारदे जस-पसारग-मज्झप्पजोगिं मण्णोण्ण-संतं।
घोर-दुद्धर-तवजुदं,जयकित्तिंसूरिंपणमामि॥21॥(जुम्मं)

22. संघे आयंस-संत-मच्चंत-भत्तीए दु णमंसामि।
भारद-गोरवं वरं, पहाणं णिग्गंथ-साहूसु॥22॥

23. दियंबरेसु रयणं व, देसस्स भूसणं व आइरियं दु।
संघ - वरसंवाहगं, मण्णं सासणेण पसिद्धं ॥23॥

24. जिणसासणुण्णदिकरं, जिणसिद्धखेत्तुद्धारगं णिच्चं।
सिरि-देसभूसणंहं,वंदेमिभत्ति-अणुरायेण॥24॥(तिअं)

25. रट्ठ-संतं सिद्धंत-चक्किं मे पच्चक्खुवयारगं च।
जेट्ठ - सेट्ठ - मायंसं, धम्माणुसासग - माइरियं॥25॥

26. जिणसासण-पहावगं,सण्णाण-पणोल्लयंअइ-विसिट्ठं।
विदूहि लद्ध-उक्किट्ठ-पूया-भत्तिं माणणीयं॥26॥

27. देसस्स वर-णेदूण, मग्ग-पदंसगं सव्व-हिद-कंखिं।
सिदपिच्छि-धारगं हं, जंगम-विस्सविज्जालयं च॥27॥

आगम के वचनों को सुनकर, स्मरण कर मेरा चित्त विकसित होता है। ज्ञानामृत का सेवन कर भव्य जीव ऐसे आनंदित होता है जैसे रंक को कोई निधि ही प्राप्त हो गई हो।।16।। ज्ञान का प्रकाष्ठा करने व अज्ञान तिमिर का नाश करने में समर्थ जिनवचन वा द्वादशांग युक्त भारती (सरस्वती) को मैं नमस्कार करता हूँ।।17।। स्याद्वाद चिह्न से युक्त एवं संसार के समस्त जीवों को अभय प्रदान करने वाले उस श्री जिन धर्म को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ जिसकी शरण मैंने प्राप्त की।।18।। पच्चीस सौ (2500) वीर निर्वाण संवत् में तीर्थंकर के समान जिनधर्म का प्रवर्तन करने वाले चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज की स्तुति करता हूँ।।19।। पुनः उनके शिष्य महातपस्वी आचार्य श्री पायसागर जी मुनिराज को नमस्कार करता हूँ। पश्चात् उनके प्रधान शिष्य भारत में यष्ठा का प्रसार करने वाले, अध्यात्म योगी, मनोज्ञ संत, घोर दुर्द्धर तप से युक्त आचार्य श्री जयकीर्ति जी मुनिराज को अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए त्रियोग से नमस्कार करता हूँ।।20-21।। संघ में आदर्श संत, सर्व निर्ग्रन्थ साधुओं में उत्कृष्ट व प्रधान, भारत गौरव, दिगंबरों में रत्न के समान, संघ के श्रेष्ठ संवाहक, शासन के द्वारा मान्य, प्रसिद्ध, देश के आभूषण स्वरूप, जिन ष्टासन की उन्नति करने वाले, जिन तीर्थ व सिद्ध क्षेत्रों के उद्धारक आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज को भक्ति के अनुराग से वंदन करता हूँ।।22-24।। मेरे प्रत्यक्ष उपकारक राष्ट्र संत, सिद्धांत चक्रवर्ती, आदर्श, धर्मानुशासक, ज्येष्ठ व श्रेष्ठ आचार्य, जिनशासन प्रभावक, सम्यग्ज्ञान के संप्रेरक, अति विशिष्ट विद्वानों के द्वारा उत्कृष्ट पूजा व भक्ति को प्राप्त, माननीय, देश के उत्कृष्ट नेताओं के मार्गप्रदर्शक, सर्व हिताकांक्षी, श्वेतपिच्छी के धारक, चलते-फिरते विश्वविद्यालय, माता-पिता के समान मेरे संरक्षक, सम्यग्ज्ञानादि बहुत गुणों को प्रदान करने वाले आचार्य गुरुवर श्री विद्यानंद जी मुनिराज को तीनों संध्याकालों में भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।25-28।।

28. पिदरं व संरक्खगं, सण्णाणाइ-बहु-गुणपदायगं च।
गुरुवर-विज्जाणंदं,तिसंझासुणमामि भत्तीइ॥28॥(चउक्कं)

29. वदं असुह-संवरस्स, अइसय-पुण्ण-णिब्बंधणं णेयं।
अहपइडी संकमंति, णिच्चं तेण पुण्णपइडीसु॥29॥

30. अविवागि-णिज्जराए, कारणं परंपरेणं मोक्खस्स।
तेसुं जेहिं रोहिणि-वद-फलं पाउणिदं ताणं॥30॥

31. असोग-रोहिणीणं च, पुण्णचरित्तं सव्वकल्लाणाय।
भणामिसुद्धभावेहि,वद-महिमा-पदंसणत्थंच॥31॥(जुम्मं)

32. जह वि णो समत्थो हं, वण्णिदुं असोग-रोहिणी-चरियं।
वंछामि कहिदुं तह वि, पुज्ज-गुरूण किवादिट्ठीइ॥32॥

33. जह अक्क-णिमित्तेणं, भासेदि मोत्तिअं व णीरबिंदू।
वइरोव्व कच्चखंडं, चरियं सोहदि गुरु-किवाए॥33॥

34. जिणचरणंबुज-फासिद-जलंअच्चंत-अदिसय-संजुत्तं।
हरदि गंधोदगं तं, रोयं सोगं भयं भवीण॥34॥

35. तह हवंतो असक्को, पुज्जणीय-आइरिय-पसादेणं।
महाचरियंलिहेदुं,पयासरदो चित्त-सुद्धीइ॥35॥(जुम्मं)

36. जह घण-पज्जण्णं चिय, अवयज्झिदूणं च रवदे मोरो।
असक्क-मिगीमिगिंदं,अब्भेदि णियसिसु-रक्खट्ठं॥36॥

37. जह कुहिलो कुहुं कुहुं, कुणदे अंब-मंजरिं पस्सित्ता।
तह परहिदभावणाइ, सगरोयणिवारणट्ठं तह॥37॥

38. मम चित्तविसुद्धीए, रहिदो खादि-आइ-लाह-भावादु।
सिस्साणणिवेदणेण,पवट्टोहं धम्मरायेण॥38॥(तिअं)

व्रत अशुभ के संवर व अतिशय पुण्य का कारण जानना चाहिए। व्रत के प्रभाव से पाप प्रकृतियाँ भी नित्य पुण्य प्रकृतियों में संक्रमित हो जाती हैं।।29।। व्रत अविपाकी निर्जरा एवं परंपरा से मोक्ष का कारण हैं। उनमें जिन्होंने रोहिणीव्रत के फल को प्राप्त किया उन अशोक-रोहिणी के पुण्य-चरित्र को सर्वकल्याण व व्रत की महिमा दिखलाने के लिए शुद्ध भावों से कहता हूँ।।30-31।। यद्यपि अशोक -रोहिणी चरित्र को कहने में मैं समर्थ नहीं हूँ तथापि पूज्य गुरुओं की कृपादृष्टि से मैं यह चरित्र कहने की इच्छा करता हूँ।।32।। जैसे सूर्य के निमित्त से जल की बूंद मोती के समान प्रतिभासित होती है अथवा काँच का खंड हीरे के समान प्रतिभासित होता है उसी प्रकार यह चरित्र गुरु कृपा से शोभा को प्राप्त होता है।।33।। जिस प्रकार जिनेन्द्रप्रभु के चरण कमलों से संस्पर्शित जल अत्यंत अतिशयकारी होता है, वह गंधोदक भव्यों के रोग-शोक व भय को नष्ट करता है। उसी प्रकार अशक्य होते हुए भी मैं पूजनीय आचार्यों के प्रसाद से चित्त की विशुद्धिपूर्वक महाचरित्र लिखने में प्रयासरत हुआ हूँ।।34-35।। जिस प्रकार घने बादलों को देखकर मोर आवाज करता है अथवा अपने शिशु की रक्षा के लिए हरिणी असमर्थ होते हुए भी शेर से भिड़ जाती है अथवा जैसे आम्र बौंर को देखकर कोयल कुहु-कुहु करती है उसी प्रकार परहित की भावना से, अपने रोग के निवारण के लिए, ख्याति आदि लाभ के भावों से रहित होकर, शिष्यों के निवेदन से, धर्मानुराग से मैं चित्त की विशुद्धिपूर्वक चरित्र लिखने में प्रवृत्त हुआ हूँ।।36-38।।

39. मज्झलोए सुहणामधेयासंखेज्ज - दीवसमुद्दा य।
तम्मि णाहीव पढमो, जंबुदीवो जंबुरुक्खादु।।39।।

40. छ-कुलायलेहिं हिमवण-महाहिमवण-णिसह-णील-रुम्मीहि।
सिहरिणा य विभाजिदो, इदं दीवो सत्तखेत्तेसु।।40।।

41. तहभरद-हेमवद-हरि-विदेह-रम्मग-हेरण्ण-खेत्ताणि।
एरावदखेत्तं चिअ, केवलणाणि-कहिदागमेण।।41।।

42. दक्खिणे भरदखेत्तं, उत्तरे एरावद-खेत्तं जाण।
मज्झे विदेह-खेत्तं, सस्सदा सुहा कम्मभूमी।।42।।

43. विदेहस्स चिय मज्झे, विज्जंत-पढम-सुदंसणमेरुम्मि।
भद्दसाल-णंदण-सोमणस-पंडुग-अरण्णाइं च।।43।।

44. तत्थ सोडस-अकिट्टिम-चेइयालयाणि तेसु पत्तेयं।
अट्ठ-पाडिहेर-जुत्त-अट्ठोत्तर-सय-जिणबिंबाणि।।44।।

45. ताणि चेइयालयाणि, जिणबिंबाणि सव्वाणि भत्तीए।
परियंदामि सव्वदा, सस्सद-सुद्धप्पलद्धीए।।45।।

46. पुव्व-पच्छिमा भागा, सुमेरूदु होज्ज विदेहखेत्तस्स।
सीतासीतोदाहिं, अध ताणं वि बे-बे-भागा।।46।।

47. चदुवक्खारगिरीदो, तियविभंगणदीए अट्ठखंडा।
पत्तेयं भागस्स दु, होज्जा इत्थं जिणुद्दिट्ठं।।47।।

48. बत्तीस-उवविदेहा, विण्णेया सस्सद-कम्ममहीए।
पढम-जंबूदीव-ठिद-विदेहखेत्तम्मि सुरम्मा दु।।48।।

49. खेत्तवेक्खाइ भरदो, णउदि-समहिद-सय-हिदेगो भागो।
कालावेक्खाइ दसम-भागो तह कम्मभूमीए।।49।।

मध्यलोक में शुभ नाम वाले असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। वहाँ मध्य में नाभि के समान प्रथम द्वीप है। उस द्वीप में जंबूवृक्ष होने से वह जंबूद्वीप नाम से प्रसिद्ध है।।39।। यह द्वीप छः कुलाचलों के माध्यम से सात क्षेत्रों में विभाजित है। छः कुलाचलों के नाम क्रमशः हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि व शिखरिन् हैं।।40।। तथा उनके द्वारा विभाजित सात क्षेत्र क्रम से इस प्रकार हैं–भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् व ऐरावत। ऐसा केवलज्ञानी सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आगम में कहा गया है।।41।। जम्बूद्व ीप के दक्षिण में भरत क्षेत्र, उत्तर में ऐरावत क्षेत्र व मध्य में विदेह क्षेत्र जानना चाहिए। यह विदेह क्षेत्र शुभ शाश्वत कर्मभूमि है।।42।। विदेह क्षेत्र के ठीक मध्य में प्रथम सुदर्शन मेरु विद्यमान है। वहाँ पर भद्रसाल, नंदन, सौमनस व पांडुक वन हैं।।43।। वहाँ चार वनों में सोलह अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। उन प्रत्येक में अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त एक सौ आठ जिनबिम्ब विराजमान हैं।।44।। उन सभी जिनबिंबों व जिन चैत्यालयों को शाश्वत शुद्धात्म उपलब्धि के लिए नित्य भक्तिपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ।।45।। सुमेरु पर्वत से विदेह क्षेत्र के पूर्व विदेह व पश्चिम विदेह भाग होते हैं। सीता व सीतोदा नदी से उनके पुनः दो-दो भाग होते हैं।।46।। पुनः उन चार भागों में से प्रत्येक में चार वक्षारगिरी व तीन विभंगनदी के माध्यम से आठ खंड होते हैं।।47।। इस प्रथम जंबूद्वीप में विदेह क्षेत्र नामक शाश्वत कर्मभूमि है। उसमें मनोहर बत्तीस उपविदेह जानने चाहिए।।48।। क्षेत्र की अपेक्षा से भरत क्षेत्र जंबूद्वीप का 1/190वाँ भाग है और काल की अपेक्षा से यह कर्मभूमि का दसवाँ भाग है।।49।।

50. हेमवद-हेरण्णवद-सस्सदा तह जहण्णभोयभूमी।
हरी य रम्मग-खेत्तं, सस्सदा मज्झमभोयमही॥50॥

51. विदेहमज्झे उत्तर-दक्खिणेसुं उत्तमभोयभूमी।
उत्तर-देव-कुरू तह, सस्सदा सुहणामा णेया॥51॥

52. मेरुस्स चउविदिसासु, जिणालयसंजुदा चउगयदंता।
तेसुं जिणबिंबाइं, बत्तीस-समहिद-चउसयाणि॥52॥

53. ईसाणे मल्लवाण-गिरी तह सउमणसो अग्गेयम्मि।
णेरइए वायव्वे, विज्जुदपहो गंधमायणो॥53॥

54. भरदस्स छक्खंडा हु, तह गंगा-सिंधु-रयदायलादो।
तेसुं पंच मिलिच्छा, अज्जजुदो इग-अज्जखंडो॥54॥

62. देवपूया-दया-जव-तव-दाण-तित्थजत्ता-सीलेसुं।
तहा संजमाइ-पुण्ण-कज्जेसुं संजुदा सव्वा॥62॥

63. आसण्णभव्वजीवा, आसण्णभव्व-संगदिं हि लहेज्ज।
जह रसाल-उववणम्मि,रसाल-रुक्खाण करीराण॥63॥

64. इक्खुवाडम्मि इक्खू, हि होज्जा णेव णारिएल-रुक्खा।
सोहंति सीहमज्झे, सीहो हंसो हंसमज्झे॥64॥ (जुम्मं)

65. सीलवदाइं भव्वा, पालेज्ज पव्वदिणेसु सत्तीए।
अण्णविसेसपुण्णं पि, उववासादिं करेज्ज सया॥65॥

66. होंति पुण्णवंताणं, सुपुण्णकारणं पव्वदिवसाइं।
सव्वदा सज्जणाणं, णिग्गंथ-संगदीव णियमा॥66॥

67. सुसक्किदी सब्भदा य, कुलमज्जादा सया पालिदव्वा।
णायणीदी य सगकुल-मज्जादा हु अलंघणीया॥67॥

यहाँ हैमवत व हैरण्यवत शाश्वत जघन्य भोगभूमि हैं एवं हरि व रम्यक् क्षेत्र शाश्वत मध्यम भोगभूमि हैं।।50।। विदेह क्षेत्र के मध्य में उत्तर दिशा में उत्तरकुरु व दक्षिण दिशा में देवकुरु इस प्रकार शुभ नाम वाली शाश्वत उत्तम भोगभूमि हैं।।51।। सुमेरु पर्वत के चारों विदिशाओं में जिनालय से युक्त चार गजदंत हैं। उन सभी जिनालयों में चार सौ बत्तीस (432) जिनबिंब हैं। अर्थात् प्रत्येक गजदंत पर स्थित सिद्धकूट पर एक-एक जिनालय है, प्रत्येक जिनालय में 108 जिनबिंब हैं। इस प्रकार चार गजदंत के चार जिनालय व कुल जिनबिंब $108 \times 4 = 432$ हैं।।52।। ईशान कोण में माल्यवान् गजदंत, आग्नेय कोण में सौमनस गजदंत, नैऋत्य दिशा में विद्युत्प्रभ गजदंत एवं वायव्य कोण में गंधमादन गजदंत है।।53।। गंगा नदी, सिंधु नदी व रजताचल अर्थात् विजयार्द्ध पर्वत के माध्यम से भरत क्षेत्र के छः खंड होते हैं। उन छः खंडों में पाँच म्लेच्छखंड व आर्यजनों से युक्त एक आर्यखंड है।।54।। वहाँ सभी जीव देवपूजा, दया, जप, तप, दान, तीर्थयात्रा, शील तथा संयम आदि पुण्य कार्यों में रत रहते थे।।62।। उचित है आसन्न-भव्य जीव, आसन्न-भव्य जीवों की संगति प्राप्त करते हैं जैसे आम के बगीचे में आम के वृक्ष ही होते हैं, बबूल के नहीं। जैसे गन्ने के खेत में गन्ने ही होते हैं, नारियल के पेड़ नहीं होते अथवा सिंहों के मध्य सिंह एवं हंसों के बीच हंस ही शोभायमान होते हैं।।63-64।। वहाँ भव्यजीव पर्व के दिनों में शक्तिपूर्वक शील व्रतादि का पालन करते थे एवं सदा उपवास आदि अन्य विशेष पुण्य भी करते थे।।65।। पुण्यवानों के लिए पर्व के दिन वैसे ही समीचीन पुण्य का कारण होते हैं जैसे सज्जनों के लिए निर्ग्रन्थों की संगति नियम से सदा पुण्य का कारण होती है।।66।। सज्जनों के द्वारा सुसंस्कृति, सभ्यता एवं कुल की मर्यादा सदा ही पाली जानी चाहिए। न्याय, नीति व निज कुल की मर्यादा अलंघ्य अर्थात् उल्लंघन के योग्य नहीं होती।।67।।

68. जलासयस्स सोहा य, मिट्ठ-सच्छ-णीरेण जह हवेज्जा।
सच्छसलिलस्स हु तदा, उत्तम-रम्म-जलासयेणं॥68॥

69. जह कुलीण-सक्कारिद-रायकुडुंबादो दु पासादस्स।
रायादीणं सोहा, सेट्ठरायपासादेहिं च॥69॥

70. णदि-भूसणं च णीरं, इक्खुदंडाणं महुरिमा णिच्चं।
सुगंधो पुप्फाणं दु, रयणाणि सायरभूसणं च॥70॥

71. विज्जत्थीणं विज्जा, भूसणं संजमो णिग्गंथाणं।
दाणं पूया करुणा, सेट्ठ-भूसणं सुगिहत्थाण॥71॥

72. देसभत्ती सूरस्स, रायस्स भूसणं तहा सच्चं दु।
णारीणं सीलं सय, रयणत्तयं चिय जोगीणं॥72॥

73. सीहस्स परक्कमो य, भद्दत्तं भूसणं च बलिद्दस्स।
गयस्स साहिमाणं च, बालभूसणं चंचुरत्तं॥73॥

74. सेट्ठदेसस्स सोहा, सेट्ठ-णयर-जणादीदो तह होदि।
णागरिआणंसोहा,सुपइडि-संजुत्त-देसेणं॥74॥(सत्तगं)

75. विक्कमो णायसीलो,पयावच्छलो अणेग-गुण-सहिदो।
सुंदरो बुद्धिणिउणो, सेणिगो बिंबसारो णिवो॥75॥

76. तस्स धम्म-सुपोसिगा, सुहयरा भोयपदा अद्धंगिणी।
कासि-राय-चेडगस्स, चेलणा सुभद्दाइ पुत्ती॥76॥

77. सुहदा कामधेणू व्व, सा राणी चेलणा दु भूवदिस्स।
ताए सुहसक्कारं, पयाए अवि चिंतामणीव॥77॥

78. जह सेट्ठ-विज्जधराण,होदि लक्ख-साहिगा सया विज्जा।
तह रायस्स पुण्णेण, कप्पदुमोव्व पुण्णसीला॥78॥

79. ववसायीणं मित्तं, धणं रायाणं च णाय-पियत्तं।
सिसूण मादू पदिणो, गिहे सयायारिणी इत्थी॥79॥

जिस प्रकार जलाशय की शोभा मिष्ट स्वच्छ जल से होती है एवं स्वच्छ जल उत्तम मनोहर जलाशय में सुशोभित होता है। जैसे कुलीन, संस्कारित राजपरिवार से महल की शोभा होती है एवं श्रेष्ठ राजप्रासादों से राजा आदि की शोभा होती है। जैसे नदी का आभूषण जल है, गन्नों का आभूषण मधुरता है, पुष्पों का आभूषण सुगंध, सागर का आभूषण रत्न है, विद्यार्थियों का आभूषण विद्या, निर्ग्रंथों का आभूषण संयम एवं समीचीन गृहस्थों का आभूषण दान, पूजा व करुणा-दया है। जैसे शूरवीर का आभूषण देशभक्ति, राजा का आभूषण सत्य, नारियों का आभूषण शील एवं योगियों का आभूषण रत्नत्रय है। जैसे सिंह का आभूषण पराक्रम, वृषभ का आभूषण भद्रता, गज का आभूषण स्वाभिमान एवं बच्चों का आभूषण चंचलता होती है वैसे ही श्रेष्ठ देश की शोभा श्रेष्ठ नगरों, नागरिकों आदि (धर्म, संस्कृति, सभ्यता, कला) से होती है एवं नागरिकों की शोभा अच्छी प्रकृति से संयुक्त देश से होती है।।68-74।। राजा श्रेणिक, जिसका एक नाम बिंबसार भी है विक्रमी, न्यायशील, प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाला, सुंदर, बुद्धि में निपुण व अनेक गुणों से सहित था।।75।। उसकी भोग प्रदान करने वाली, धर्म की सम्यक् पोषिका, सुख देने वाली अर्द्धांगिनी काशी देश के राजा चेटक व रानी सुभद्रा की पुत्री चेलना थी।।76।। वह चेलना रानी राजा के लिए कामधेनु के समान सुख प्रदान करने वाली थी एवं उसके सुसंस्कार प्रजा के लिए भी चिंतामणि रत्न के समान सुखप्रद थे।।77।। जैसे विद्या श्रेष्ठ विद्याधरों के लक्ष्य को साधने वाली होती है उसी प्रकार राजा के पुण्य से वह रानी चेलना राजा के लिए कल्पवृक्ष के समान इच्छित भोगों को प्रदान करने वाली एवं पुण्यशीला थी।।78।। उचित ही तो है व्यवसायियों-व्यापारियों के लिए धन मित्र है, राजाओं के लिए न्याय-प्रियता मित्र है, बच्चों के लिए माता मित्र है एवं पति के लिए घर में सदाचारिणी स्त्री मित्र है।।79।।

80. जिणभत्ता धम्मभाव-जुत्ता परमसुंदरी सद्दिट्ठी॥
उदत्ता णिग्गंथ-गुरु-पय-सेविगा विणयसीला य॥80॥

81. भिच्चाण विणयधम्मो, विज्जत्थीणं महागुणो विणओ।
सहावो पदिवदाणं, जोगीणं च मोक्खकुंजीव॥81॥

82. पया-वच्छला सगपइ-चित्तहारिणी जिणागमणुरत्ता।
जिणिंदच्चगा सुपुण्ण-वड्ढगा वदाइ-सुकज्जेहि॥82॥

83. एयदिवसे सेणिगो, सीहासणारूढो रज्जसहाइ॥
सहसत्ति वणपालेण, णिवेदिदं दु आहम्मित्ता॥83॥

84. विणयेण अहो राओ! तव पुण्णेण खेम-कुसला रज्जे।
परम-पुण्णोदयादो, विहरंति णिग्गंथा देसे॥84॥(जुम्मं)

85. छरिदूण फल-फूलाणि, बोल्लिदं समप्पंत-वणपालेण।
विउलाचल-पव्वयम्मि, तित्थयर-सिरि-महावीरस्स॥85॥

86. समवसरणो आवीअ, बारससहासज्जिदो सुरादीण।
चेइयप्पासादाइ-अट्ठ-भूमीहि जुदो गगणे॥86॥(जुम्मं)

87. सुणिच्चा समायारं राओ होज्ज परमाणंदजुत्तो।
दाएज्ज वणपालस्स, सुरयणजडिदकंठाहारं॥87॥

88. सगासणादो उट्ठिय, ताइ गच्छिय सत्तपदं दिसाए।
अट्ठंग-णमणं परम-सद्धाइ करीअ विसुद्धीइ॥88॥

89. होज्ज णिक्कंखपुण्णं, भवोवहीए तारिदुं समत्थं।
पुण्णफलेण अरिहाइ-पण-परमेट्ठि-संगदिं लहदि॥89॥

90. धम्मणिमित्तं अणिट्ठ-विजोगो इट्ठजोगो पुण्णेणं।
संजमविड्ढी तेण वि, विणा सिवपहंसो असक्को॥90॥

महारानी चेलना परम सौंदर्य से युक्त, जिनभक्ता, धर्म भाव से युक्त, सम्यग्दृष्टि, उदार, निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरणों की सेविका एवं विनयशील थी।।80।। उचित ही कहा है कि सेवकों के लिए विनय धर्म है, विद्यार्थियों के लिए विनय महागुण है, पतिव्रता स्त्रियों का विनम्रता स्वभाव है एवं यह विनम्रता ही योगियों के लिए मोक्ष की कुंजी के समान है।।81।। प्रजावत्सला महारानी चेलना, अपने पति के चित्त का हरण करने वाली, जिनागम में अनुरक्त, जिनेंद्रप्रभु की अर्चा करने वाली एवं व्रत आदि श्रेष्ठ समीचीन कार्यों द्वारा अपने पुण्य का वर्धन करने वाली थी।।82।। एक दिन महाराज श्रेणिक राज्यसभा में सिंहासन पर बैठे हुए थे तभी अचानक वनपाल सभा में आया एवं उसने विनम्रता पूर्वक राजा से निवेदन किया कि हे राजन्! आपके पुण्य से राज्य में सब क्षेमकुशल है। आपके परम पुण्य के उदय से इस देश में निर्ग्रन्थ श्रमण विचरण करते हैं।।83-84।। पुनः षड्ऋतुओं के फल-फूल राजा के समक्ष अर्पित करते हुए वनपाल ने कहा कि हे स्वामी! विपुलाचल पर्वत पर तीर्थंकर श्री भगवान् महावीर स्वामी का समवसरण आया है जो आकाश में बारह सभाओं से सज्जित एवं चैत्यप्रासाद आदि आठ भूमियों से युक्त है।।85-86।। इस समाचार को सुनकर राजा श्रेणिक परम आनंदित हुआ एवं अपने कंठ में पहना हुआ रत्नहार वनपाल को भेंट स्वरूप प्रदान किया।।87।। तथा अपने सिंहासन से खड़े होकर जहाँ भगवान् विराजमान थे उसी दिशा में सात कदम आगे जाकर परमश्रद्धा व विशुद्धि से श्री तीर्थंकर प्रभु को साष्टांग नमस्कार किया।।88।। पुण्य के फलस्वरूप ही जीव श्री अरिहंत आदि पाँच परमेष्ठियों की संगति प्राप्त करता है एवं वह निःकांक्ष अर्थात् आकांक्षा से रहित पुण्य संसार सागर से तारने में समर्थ होता है।।89।। पुण्य से धर्म के निमित्त प्राप्त होते हैं, अनिष्ट का वियोग व इष्ट का संयोग होता है, पुण्य से ही संयम की वृद्धि होती है, उसके बिना मोक्ष पथ का अंश भी अशक्य है।।90।।

91. पुण्णफलेणं केवलि-पदं सण्णाणं तहा सच्चरियं।
जिणसासणपहावणा, अचिंत-इड्ढीओ पुण्णेण॥91॥

92. गुणगाहगभावो तह, दोसादु परमविरत्ती पुण्णेण।
सव्वजीवेसु मेत्ती, दुहिजणेसुं करुणाभावो॥92॥

93. पुण्णफलेणं देसे, अहिंसा वड्ढदि सच्चवायि-जणा।
संतुट्ठा गंभीरा, परोप्परे धम्मरायजुदा॥93॥

94. पुण्णुदयादो जीवो, सक्कदि सहजेण पालिदुं सीलं।
हिंसं मुसं चोरिअं उज्झिदुं परिग्गहमबंभं॥94॥

95. पुण्णेण लहदि जीवो, जहत्थणाणं भव-देह-भोयाण।
तादो विरज्जित्तु भव-वड्ढगकज्जेसु रज्जदि णो॥95॥

96. जिणपूयं गुरुसेवं, सज्झायं जव-तवं तित्थजत्तं।
कुव्वंते पुण्णप्पा, दोसवादे अव्वाहारा॥96॥

97. पुण्णेण सुपत्तदाण - साहुसेवा - वद - वेज्जावच्चेसु।
महापुरिसाणं च गुणकहा-सुणणम्मि रुई पीदी॥97॥

98. पुण्णेण जिणदंसणं, भावो चिय थुदिभत्ति-वंदणाणं।
जिणणाम-सिमरणंअवि,णेवसंभवोविणापुण्णं॥98॥

99. अणेगचरमदेहीण, दंसणं सेणिग-पुण्णेण जदीण।
सुपुण्णपेरिगा सदी, अद्धंगिणी चेलणा तस्स॥99॥

100. बोद्धणुयायि-संघसिरि-णिमित्तेण तेण कडुअ उवसग्गं।
णिरयाउं बंधिदं च, णवरि तित्थणामं वीरस्स॥100॥

101. सम्मपुरिसट्ठं विणा, सुणिमित्तं णेव कया वि फलदं हु।
णेवओग्गहिज्जदि जदि,असुहणिमित्तंहुतोदुहदं॥101॥

102. पुण्णेणं आरोग्गं, पहावी वयणं जीवण-चरियं च।
तिव्वपुण्णोदयेणं, पावो वि संकमदे पुण्णे॥102॥

पुण्य के फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र प्राप्त होता है। यहाँ तक कि केवली पद भी पुण्य से प्राप्त होता है, जिनशासन की प्रभावना व अचिंत्य ऋद्धियाँ भी पुण्य से प्राप्त होती हैं।।91।। पुण्य से गुण ग्रहण करने का भाव होता है, दोषों से परम विरक्ति होती है, पुण्य से ही सभी जीवों में मैत्री भाव व दु:खीजनों में करुणा भाव होता है।।92।। पुण्य के फलस्वरूप देश में अहिंसा वृद्धिंगत होती है तथा नागरिक सत्यवादी, संतुष्ट, गंभीर, परस्पर में धर्मानुराग से युक्त होते हैं।।93।। पुण्योदय से जीव सहज ही शील पालन करने में समर्थ होता है एवं पुण्य से ही हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह व अब्रह्म त्याग करने में समर्थ होता है।।94। पुण्य से जीव को संसार, शरीर व भोगों का यथार्थ ज्ञान होता है। वह उनसे विरक्त होकर संसार को बढ़ाने वाले कार्यों में रंजायमान नहीं होता।।95।। पुण्यात्मा जीव श्री जिनेंद्रदेव की पूजा, निर्ग्रंथ गुरुओं की सेवा, स्वाध्याय, जप, तप तथा तीर्थयात्रा करते हैं। वे दोषों के कहने में सदैव मौन रहते हैं।।96।। पुण्य से ही जीव की सुपात्र-दान, साधुसेवा, व्रत, वैयावृत्ति तथा महापुरुषों की गुणकथा सुनने में रुचि व प्रीति होती है।।97।। पुण्य से ही जिनेंद्र प्रभु के दर्शन होते हैं, उनकी स्तुति, भक्ति व वंदना के भाव होते हैं। पुण्य के बिना जिनेंद्र भगवान् के नाम का स्मरण भी संभव नहीं है।।98।। राजा श्रेणिक के पुण्य से उसको अनेक यतियों व चरमशरीरियों के दर्शन प्राप्त हुए। उसको सुपुण्य की प्रेरणा देने वाली उसकी अर्द्धांगिनी सती चेलना थी।।99।। उस राजा श्रेणिक ने बौद्धानुयायी संघश्री के निमित्त से श्री मुनिराज पर उपसर्ग करके नरकायु का बंध किया जबकि भगवान् महावीर स्वामी के निमित्त से तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया।।100।। सम्यक् पुरुषार्थ के बिना समीचीन निमित्त कभी भी फलप्रद नहीं होते। यदि अशुभ निमित्त ग्रहण नहीं किया जाता तो अशुभ निमित्त दु:खप्रद नहीं होता।101।। पुण्य से आरोग्य, प्रभावी वचन व प्रभावी जीवन चरित्र होता है। तीव्र पुण्योदय से पाप भी पुण्य में संक्रमित हो जाता है।।102।।

103. सत्तू होज्ज मित्ताणि, अणिट्ठकारगा अवि इट्ठरूवा।
सावरूवकम्मं चिय, वररूवं तिव्वपुण्णेणं॥103॥

104. इट्ठ-विज्जा-सत्ति-गुण-खमा-संति-दया-संपत्तीओय।
वद-गहणं सक्कारो, पुण्णं विणा संभवो णेव॥104॥

105. णेव कस्स मणुस्सस्स, सुहकारणं दु इट्ठसमायारो।
पहु - आगमण - सूयणा, सद्दीदाणंद - वड्ढगा॥105॥

106. महापुरिसो सय सव्वहिदाय वियारंति णयरम्मि।
तं सव्वजणहिदत्थं, उग्घोसिदं णिवसेणिगेणा॥106॥

107. सुवे पहादम्मि सव्व-जोग्ग-णागरिआ जिणसमवसरणं।
गच्छेज्जा भत्तीए, सहिदारायपरिसदेणंच॥107॥(जुम्मं)

108. तुच्छलाहस्स वि णरो, सिग्घं धावेदि लाहठाणं तं।
वीरदंसणावसरं, णिल्लुंछेज्ज पुण्णणरो को॥108॥

109. सव्वा सम्माइट्ठी, अइ-आउरा जिणदंसणं करिदुं।
चिंतीअ विसुद्धीए, सव्वण्हु - वीयराय - गुणा दु॥109॥

110. पुण्णवंत-सव्वपया, गच्छीअ अयलं वि जिणदंसणाय।
लहिदो परमाणंदो, पस्सित्तु पुण्णफलं तेहिं॥110॥

111. मुणी सावय-साविया, चदुविह-सुर-सुरंगणा संवेगी।
तहातिरियाविज्जीअ, तत्थसग-सग-णियद-कोट्ठम्मि॥111॥

112. जिणपूयणमच्चणंच, कडुअतिय-पदक्खिणंणमुक्कारं।
सगठाणे णिवज्जीअ, अवअच्छंता ते सव्वा हु॥112॥

113. भूवइ-सेणिगेणं वि, गदगदकंठेण जिणत्थुदिं कडुअ।
णियठाणं गहिदं भत्तीए दिव्वज्झुणी सुणिदो॥113॥

तीव्र पुण्य से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, अनिष्टकारक भी इष्ट रूप हो जाते हैं तथा अभिशाप रूप कर्म भी वरदान रूप हो जाते हैं।।103।। इष्ट विद्या, शक्ति, गुण, क्षमा, शांति, दया, संपत्ति और व्रत को ग्रहण करना व सुसंस्कार ये सब पुण्य के बिना संभव ही नहीं हैं।।104।। श्री जिनेंद्र प्रभु के आगमन की सूचना राजा के लिए शब्दातीत आनंद का वर्द्धन करने वाली थी। उचित ही तो है इष्ट समाचार किस मनुष्य के लिए सुख का कारण नहीं होता अर्थात् सबके लिए होता है।।105।। महापुरुष सदा सबके हित का विचार करते हैं अत: सभी नगरवासियों के हित के लिए राजा श्रेणिक ने नगर में घोषणा करा दी कि कल प्रात:काल संपूर्ण राजपरिवार जिन वंदना के लिए भक्तिपूर्वक समवसरण की ओर प्रस्थान करेगा। दर्शन करने की योग्यता से युक्त समस्त नगरवासी भी राजपरिषद के साथ समवसरण में चलें।।106-107।। उचित है कि छोटे से लाभ के लिए भी मनुष्य लाभ स्थान की ओर शीघ्र ही दौड़ता है, तब श्री भगवान् महावीर स्वामी के दर्शन का अवसर कौन पुण्यवान् नर छोड़ता।।108।। सभी सम्यग्दृष्टि जन श्री जिनदर्शन करने के लिए अति आतुर थे। वे सभी विशुद्धिपूर्वक सर्वज्ञ, वीतराग जिनेंद्र के गुणों का चिंतन कर रहे थे।।109।। अनंतर राजा श्रेणिक के साथ पुण्यवान् संपूर्ण प्रजा भी श्री जिनदर्शन के लिए विपुलाचल पर्वत की ओर गई। वहाँ पुण्य के फल को देखकर सभी को परम आह्लाद प्राप्त हुआ।।110।। वहाँ समवसरण में सभी मुनि, संवेगी श्रावक-श्राविका, चार प्रकार के देव-देवांगना तथा तिर्यंच अपने-अपने नियत कोठे में विद्यमान थे।।111।। वहाँ वे सभी जिनेंद्रदेव की तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार कर पूजन-अर्चना करके आह्लादित होते हुए अपने नियत स्थान पर बैठ गए।।112।। राजा श्रेणिक ने भी भक्तिपूर्वक गदगद कंठ से जिनेंद्रप्रभु की स्तुति की व अपने स्थान पर बैठ गया और प्रभु की दिव्यध्वनि सुनी।।113।।

114. ताए परमाणंदं, लहित्ता इत्थं संथुदी कुणिदा।
णमोत्थु वीयरायस्स, सव्वदंसिणो सव्वण्हुस्स॥114॥

115. णमो अणंतसुहेणं, अणंतवीरियगुणेहि संजुदस्स।
घादिकम्मविहीणस्स,णवकेवललद्धिसंजुदस्स॥115॥

116. णमो सवरकल्लाणे, समत्थस्स तह धम्मपवट्टगस्स।
महादिसय-संजुदस्स, परमविहूदिजुदजिणवरस्स॥116॥

117. सुद्धप्पगुणभोत्तुस्स, संसाररुक्खमूलहंतुस्स सय।
णमो पावसोसगस्स, अट्ठ-पाडिहेर-संजुदस्स॥117॥

118. छुहा तिण्हा य रोसो, भीरू रोय-मोह-चिंता मिच्चू।
सेओ खेदो णिद्दा, मदो रदि-जणुव्वेग-णिद्दा॥118॥

119. एदादो अट्ठारस-दोसादो विवज्जिदस्स वीरस्स।
णमोविमल-भावेहिं,अट्ठारस-दोसंखयेदुं॥119॥(जुम्मं)

120. णमो सोहम्मिंदाइ - सदिंदेहिं च वंदणीय - जिणस्स।
परममत्तंडस्सभवि-हिअय-पउम-सुविअसावयस्स॥120॥

121. सगसुद्धप्पे लीणं, लोयालोय - पयासगतित्थयरं।
सग-भवोदहि-सोसगं,सगसुद्धप्पंलहिदुंथुवमि॥121॥

122. तव दंसणं हरदि सय, मिच्छत्तण्णाणाघाइं भवीण।
सुहासवघसंवराण, अदिसयपुण्णकारणं तहा॥122॥

123. तव दंसणेण होज्जा, पावपइडी पुण्णरूवा णिच्चं।
करेदुं उक्कस्सणं, सक्कं हु पसत्थ-पइडीणं॥123॥

124. करिदु-मवकस्साण-मसुह-पइडीणुदीरणंपुव्वबद्धाण।
आणंदो उप्पज्जदि, पक्खालिदुं पावपंकं च॥124॥

उस दिव्यध्वनि के परमानंद को प्राप्त कर राजा ने इस प्रकार जिनेंद्रप्रभु की संस्तुति की। वीतरागी, सर्वदर्शी, सर्वज्ञजिन को नमस्कार हो।।114।। अनंतसुख व अनंतवीर्य आदि गुणों से सहित जिनेन्द्र प्रभु को नमस्कार हो, घाति कर्म से विहीन अरिहंत प्रभु को नमस्कार हो, नव केवललब्धियों से युक्त प्रभु को नमस्कार हो।।115।। स्व-पर कल्याण में समर्थ, धर्म का प्रवर्तन करने वाले जिनेंद्र को नमस्कार हो। महा अतिशय से संयुक्त प्रभु को नमस्कार हो, परम विभूति से युक्त जिनवर को नमस्कार हो।।116।। शुद्धात्मा के गुणों का उपभोग करने वाले भगवान् को नमस्कार हो, संसार रूपी वृक्ष के मूल का हनन करने वाले वीर प्रभु को नमस्कार हो, पाप का शोषण अर्थात् पाप को नष्ट करने वाले प्रभु को नमस्कार हो, अष्ट प्रातिहार्य से युक्त वीर प्रभु को नमस्कार हो।।117।। क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिंता, निद्रा, विस्मय, विषाद, खेद, स्वेद, रति इन अठारह दोषों से विवर्जित वीर प्रभु को अठारह दोषों के क्षय के लिए निर्मल भावों से नमस्कार हो।।118-119।। सौधर्म इंद्र आदि सौ इंद्रों के द्वारा वंदनीय श्री वर्धमान जिनेंद्र को नमस्कार हो, भव्यों के हृदय रूपी कमलों को विकसित करने के लिए जो परम सूर्य हैं उन महावीर प्रभु को नमस्कार हो।।120।। निज शुद्धात्मा में लीन लोकालोक को केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित करने वाले, अपने संसार सागर को सुखा देने वाले वीर प्रभु की अपनी शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए मैं स्तुति करता हूँ।।121।। हे प्रभो! आपका दर्शन सदैव भव्यों के मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप आदि को हरता है। आपका दर्शन शुभ के आस्रव, पाप के संवर तथा अतिशय पुण्य का कारण है।।122।। हे प्रभो! नित्य आपके दर्शन से पाप प्रकृतियाँ भी पुण्य रूप हो जाती हैं। आपका दर्शन पुण्य प्रकृतियों का उत्कर्षण करने में भी समर्थ है।।123।। हे जिनेन्द्र देव! आपका दर्शन पूर्व में बांधी हुई अशुभ प्रकृतियों की उदीरणा करने व उनका अपकर्षण करने में समर्थ होता है। आपका दर्शन पाप पंक को प्रक्षालित करने में समर्थ है। हे प्रभु! आपके दर्शन से अनुपम आनंद उत्पन्न होता है।।124।।

125. दक्खंता भव्वा तव, भामंडलम्मि पस्सिदुं समत्था।
सगसत्तभवा तम्हा, णमामि लहिदुं सकीय-पदं॥125॥

126. जिणवंदणाइ भव्वा, सक्कंति भवबंधणं विच्छेदुं।
जिणवंदणाए हंदि, वंदगा विस्सवंदणीया॥126॥

127. जिणपूयाए लहंति, बहुपुण्णरासिं लोयपुज्जपदं।
मिच्छादिट्ठी भव्वा, सम्मत्ताइ-गुणं णियमेण॥127॥

128. रयणायर-जल-वड्ढग-चंदोव्व गुणवड्ढगा जिणत्थुदी।
वेज्जावच्चं मुणीण, णेयं आरोग्ग-वड्ढगं दु॥128॥

129. णीरक्ककिरणादीहि, वड्ढंति रुक्ख-पुप्फ-फल-पत्ताणि।
जह तह जिणत्थुदीए, णिसग्गिय-गुणा चेयणाए॥129॥

130. परमेट्ठित्थवणेणं, धणधण्णं देहसुहं आरोग्गं।
पउर-साहणं सम्मद्दंसण-णाणं तवो चरियं॥130॥

131. लहंति तिजोगसुद्धिं, जीवा हु सिरिजिणगुणकित्तणेणं।
अणंतरं णस्संते, अघं दुहमणिट्ठसंजोगं॥131॥

132. जिणत्थुदि-मित्थं कडुअ, भत्तीइ उप्पुलइओ पणमंतो।
तिलोय-सव्व-पदत्था, जुगवं जाणगो हे वीरो!॥132॥

133. चित्ते तिव्वहिलासा, मे विआणिदुं वद-उववासाणं।
सरूवंताणसुफलं, अणुग्गहित्ताकहभव्वाण॥133॥(जुम्मं)

134. कसायं पावविट्टिं, विहाय चउविहाहार-पजहणं च।
णादव्वो उववासो, अल्लीअणं धम्मज्झाणे॥134॥

135. पावाणि विणस्संते, सव्वसोक्खं उववासेण भव्वा।
किं जप्पिदेण बहुहा, लहंति सेट्ठणिव्वाणपदं॥135॥

हे वीर वर्द्धमान जिनेन्द्र! आपका दर्शन करते हुए भव्यजन आपके भामंडल (आभामंडल) में अपने सात भवों को देखने में समर्थ होते हैं इसलिए स्वकीय शुद्ध पद की प्राप्ति के लिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।।125।। श्री जिनेंद्र प्रभु की वंदना से भव्य जीव संसार के बंध का विच्छेद करने में समर्थ होते हैं। जिन वंदना से वंदक निश्चय से विश्ववंदनीय हो जाते हैं।।126।। जिन-पूजा से भव्य जीव बहुत पुण्यराशि व लोकपूज्य पद को प्राप्त करते हैं एवं मिथ्यादृष्टि भव्यजीव नियम से सम्यक्त्व आदि गुणों को प्राप्त करते हैं।।127।। जिनेंद्र भगवान् की स्तुति एवं वैयावृत्ति उसी प्रकार गुणों का वर्द्धन करती है जिस प्रकार चंद्रमा समुद्र के जल की वृद्धि करता है। जिनस्तुति व मुनियों की वैयावृत्ति आरोग्य वर्द्धक जाननी चाहिए।।128।। जिस प्रकार जल और सूर्य की किरणों आदि के द्व ारा वृक्ष, पुष्प, फल, पत्ते आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जिनस्तुति से चेतना के स्वाभाविक गुण वृद्धिंगत होते हैं।।129।। परमेष्ठियों के स्तवन से धन-धान्य, दैहिक सुख, आरोग्य, प्रचुर साधन, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप प्राप्त होता है।।130।। श्री जिनेंद्र देव के गुणों के कीर्तन से जीव त्रियोग की शुद्धि प्राप्त करते हैं अनंतर पाप, दु:ख व अनिष्ट संयोग को नष्ट कर देते हैं।।131।। इस प्रकार जिनेंद्र प्रभु की स्तुति करके भक्ति से रोमांचित राजा प्रणाम करते हुए कहता है कि तीनों लोकों के सभी पदार्थों को युगपत् जानने वाले हे वीर जिनेंद्र! व्रत-उपवासों के स्वरूप व उनके सुफल को जानने के लिए मेरे चित्त में तीव्र अभिलाषा है। हे प्रभु! कृपा कर भव्यजनों के लिए उसे कहिए।।132-133।। इस प्रकार पूछने पर गौतम गणधर स्वामी कहते हैं कि कषाय व पापवृत्ति का त्याग कर चार प्रकार के आहारों का त्याग करना व धर्मध्यान में लीन होना उपवास जानना चाहिए।।134।। उपवास से पापों का नाश होता है, सर्व सुखों की प्राप्ति होती है। बहुत अधिक कहने से क्या लाभ? भव्य जीव तो उपवास से श्रेष्ठ निर्वाण पद भी प्राप्त करते हैं।।135।।

136. उववासेण लहंते, धण-भवण-वाहण-विहव-समिद्धीय।
त्थी आणाणुसारिणी, सुपुत्त - पुत्ती बंधुवग्गा॥136॥

137. णाणाविह - संसारिय - सेट्ठ - वत्थूणि भोगोवभोगाण।
अदिसय-सेट्ठपुण्णंहु, सारज्ज-मिंदाइ-विहूदी॥137॥(जुम्मं)

138. हे चउणाण - धारगो! बहुइड्ढि जुदो गणेस - मुणिरायो।
किंअज्जंअविकस्सवि, विसेस-वदस्सतिहीपहुदी॥138॥

139. भो! मुक्ख-सोदू णिवो, सुहणक्खत्तं हु रोहिणी अज्जं।
रोहिणीए रोहिणी, वदो सुप्पसिद्धो तिलोए॥139॥

140. रोहिणि-वद-पालणेण, पावदि अइ-थोग-भवेसुं भव्वो।
सस्सद-णिव्वाणपदं, णियमेण णेव संकणिज्जा॥140॥

141. एअस्स अभूदपुव्व-रोहिणिवदस्स सुपालणं केहिं।
पुण्णवंतेहि करिदं, तहा काए विहीए पहू!॥141॥

वसंततिलका छंद

142. उल्लंघणेण सुविहीइ कया वि हंहो,
सम्मं फलं सुकिरिया णहि देदि को ई।
देवो! अणुग्गहिय भाससु मे हिदत्थं,
कल्लाणकारगवदस्स विहिं वि तम्हा॥142॥

143. एगो तुमं चिय अकारण - बंधु - देवो!
दंसायगो सिवपहस्स सुणाणदादू।
अण्णाण - अंध - अवहारग - सेट्ठणाणी,
हं आउरो य सुणिदुं सुविहिं चरित्तं॥143॥

उपवास से जीव धन, भवन, वाहन, वैभव, समृद्धि, आज्ञा के अनुसार चलने वाली स्त्री, सुपुत्र, सुपुत्री व बंधु को प्राप्त करते हैं। नाना प्रकार की भोगोपभोग की सांसारिक श्रेष्ठ वस्तुएँ उपवास से प्राप्त होती हैं। उपवास से अतिशय श्रेष्ठ पुण्य का अर्जन होता है एवं स्वर्ग का साम्राज्य, इंद्रादि की विभूति प्राप्त होती है।।136-137।। इस प्रकार उपवास का अतिशय फल सुनकर राजा श्रेणिक ने पुनः पूछा मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय इस प्रकार चार ज्ञान के धारी, बहुत ऋद्धियों से संपन्न हे गणेश! हे मुनिराज! क्या आज भी किसी विशेष व्रत की तिथि आदि है?।।138।। यह सुनकर गणधर देव उत्तर देते हैं–हे मुख्य श्रोता नृप श्रेणिक! आज रोहिणी नामक शुभ नक्षत्र है। रोहिणी नक्षत्र के दिन रोहिणी व्रत होता है। जो तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध है।।139।। रोहिणी व्रत को पालन करने से भव्यजीव अति स्तोक (बहुत थोड़े) भवों में शाश्वत निर्वाण पद को नियम से प्राप्त करता है। इसमें कोई शंका नहीं है।।140।। रोहिणी व्रत का नाम सुनकर राजा श्रेणिक पुनः उत्सुकता से पूछते हैं–हे भगवन्! इस अभूतपूर्व रोहिणी व्रत का पालन किन पुण्यवान् जीव ने किया एवं किस विधि से उन्होंने व्रत पालन किया।।141।। अहो! श्रेष्ठ विधि का उल्लंघन करके निश्चय से कोई भी श्रेष्ठ क्रिया कदापि सम्यक् फल प्रदान नहीं करती। अतः हे देव! मेरे हित के लिए कृपा कर कल्याणकारक व्रत की विधि को भी कहिये।।142।। हे देव! संसारी प्राणियों के लिए आप ही एक अकारण बंधु हैं, आप ही मोक्षमार्ग के प्रदर्शक हैं, सम्यग्ज्ञान के दाता हैं। हे प्रभु! आप ही अज्ञान अंधकार को हरण करने वाले श्रेष्ठ ज्ञानी हैं। इस रोहिणी व्रत को पालन करने वालों का चरित्र एवं व्रत की विधि को सुनने के लिए मैं बहुत आतुर हूँ।।143।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक- रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में कथा पीठिका वर्णन करने वाला प्रथम नंद पूर्ण हुआ।।

विदिय-णंदो

144. अस्सिं वदे पसिद्धा, रायो असोगो रोहिणी राणी।
सासेमि ताण चरियं, वदविहिं पि सुणह थिरमणेण॥1॥

145. पढम-करण-चरण-दव्व-चउ-अणुजोगाआवसियासुहदा।
सया कल्लाण-हेदू, तेहिं विणा हु मुत्ती णत्थि॥2॥

146. पढमाणुजोगं सव्वपहाण-हेदू सव्वसारभूदं।
सेट्ठ-मोक्ख-पंथस्स दु, सहजं तह सरल-मच्चंतं॥3॥

147. जह आबालवुड्ढा दु, हवंति आणंदिदा य खादंता।
पायसं कुंडलिणिं च, घयपूरिं पहुदि-मिट्ठण्णं॥4॥

148. खिच्चडिअं खादंते, किण्णु दु तेसुं पडिऊलेसुं ते।
उदर-वियार-णासगं, रुइ-छुहा-वड्ढगमणुऊलं॥5॥

149. तह पढमाणुजोगं दु, अप्प-वियार-णासगं सव्वाणं।
बोहि-समाहि-णिहाणं, सुणाण-वेरग्ग-वड्ढगं च॥6॥(तिअं)

150. जह कोवि विज्जत्थी ण, पढिदुं सक्कदि विणा वण्ण-णाणं।
बोहण-मण्णुजोगाण, पढमज्झयणं विणा अवितह॥7॥

151. अत्थणाणं विणा जह, सद्द-सिमरणं ण सत्थगो मेत्तं।
पढमाणुजोगणाणं, विणा तह णाणं अपुण्णं हि॥8॥

152. जह इक्खुरसेण विणा, संभवो ण गुड-खंड-सक्करादी।
चरण-करण-दव्वाणं, णाणं वि पढमं विणा जाण॥9॥

153. अप्पवायग - कयारो, रणसद्दो जुद्धवायगो णेयो।
अप्पेण सह रण-कारग-कम्मस्स कारणं भावा॥10॥

154. मोहाइ-जणिद-भावा, पडिवायगो ठाण-मग्गणादीण।
ताणं वा तिलोयस्स, वण्णयं करणाणुओगं दु॥11॥

तब गणधर देव ने कहा–इस व्रत में राजा अशोक एवं रानी रोहिणी प्रसिद्ध हुए। उनके चरित्र को एवं व्रत की विधि को भी मैं यहाँ कहता हूँ तुम मन को स्थिर करके सुनो।।1।। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये चारों अनुयोग आवश्यक व सुखप्रद हैं, सदा कल्याण के हेतु हैं, उनके बिना मुक्ति नहीं है।।2।। प्रथमानुयोग सर्व सारभूत है, अत्यंत सरल व सहज है। श्रेष्ठ मोक्षमार्ग के लिए सर्वप्रधान कारण है।।3।। जिस प्रकार बच्चों से लेकर वृद्ध तक सभी जन खीर, जलेबी व पूरी-पराठे आदि खाते हुए अति आनंदित होते हैं किन्तु उनके (स्वास्थ्य के) प्रतिकूल होने पर वे सभी खिचड़ी खाते हैं जो उदर विकार का नाश करने वाली, रुचि व क्षुधा की वध र्क एवं स्वास्थ्य के अनुकूल होती है उसी प्रकार सभी अनुयोगों में यह प्रथमानुयोग आत्मविकार नाशक, सभी के लिए बोधि व समाधि का खजाना है तथा सम्यग्ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि करने वाला है।।4-6।। जिस प्रकार वर्णों के ज्ञान के बिना कोई भी विद्यार्थी पढ़ने में शक्य नहीं होता है उसी प्रकार प्रथमानुयोग के अध्ययन के बिना अन्य अनुयोगों का जानना भी शक्य नहीं है।।7।। जिस प्रकार अर्थ ज्ञान के बिना मात्र शब्दों को रटना सार्थक नहीं है उसी प्रकार प्रथमानुयोग के ज्ञान के बिना समस्त ज्ञान अपूर्ण ही है।।8।। जिस प्रकार इक्षुरस के बिना गुड़, खांड, शक्कर आदि संभव नहीं है उसी प्रकार प्रथमानुयोग के ज्ञान के बिना चरणानुयोग, करणानुयोग व द्रव्यानुयोग का ज्ञान जानो।।9।। ककार आत्मवाचक व 'रण' शब्द युद्धवाचक जानना चाहिए। आत्मा के साथ युद्ध करने वाले कर्म हैं उन कर्मों का कारण भाव है।।10।। मोह आदि से उत्पन्न भाव गुणस्थान व मार्गणा आदि के प्रतिपादक हैं, उनका अथवा तीन लोक का वर्णन करने वाला करणानुयोग कहलाता है।।11।।

155. सरीरम्मि हु चरणं व, चरणाणुओगं चउअणुजोगेसु।
णाणेण पालणेणं, विणा तस्स णेव सिवमग्गी॥12॥

156. लोयम्मि अणादीदो, जीवाइ-छद्दव्व- विज्जंताणं।
सुद्धगुणपज्जायाण, णयेण सुद्ध-कहगं अहवा॥13॥

157. ताण सुद्धवट्टणस्स, पमाणेण जाण दव्वाणुओगं।
पुण्ण-पावतच्चाणं,कल्लाणत्थंदु जीवाण॥14॥(जुम्मं)

158. पढमो जंबूदीवो, मज्झे असंखेज्जदीवसिंधूण।
तिरियलोयम्मि सोहदि, सोहम्मोव्व कप्पवासीसु॥15॥

159. सेलेसु सुदंसणोव्व, चंदोव्व गहेसु लवणं व रसेसु।
मंतेसु महमंतोव्व, सम्मेदोव्व सिवखेत्तेसुं॥16॥

160. खीरोव्व सिंधूसु धम्मेसु अहिंसा व्व बंभोव्व वदेसु।
गुरूसुंणिग्गंथोव्व,तह देवेसुलोयंतिगाव्व॥17॥(तिअं)

161. तस्स जंबूदीवस्स, जम्मादिसाए सुभरद - खेत्तं दु।
भाजिदं हिमव-णगादु, पडंताहिं बेसरिदाहिं॥18॥

162. गंगा - सिंधूहिं बेकूडठिद - जिण पडिमाए अइंचंते।
पुण भरदं विभंजता,मिलंति पुव्व-पच्छिम-लवणे॥19॥

163. ताण परिवार-णदीउ, तह ता णेव वहंति अज्जखंडे।
सज्जण-समण्णिदो सो, एगो अज्जखंडो सुहदा॥20॥

164. तस्सिं अज्जखंडम्मि, सुहणामधारगा अणेगदेसा।
धम्म-कम्मं कुणंता, णिवसंते अणेगजीवा दु॥21॥

165. णयणं व सुहगो तेसु, कुरुजंगलदेसो पसंसणीयो।
तस्स रायहाणी चिय, सुविसालं हत्थिणायपुरं॥22॥

जिस प्रकार शरीर में चरण (पद) होते हैं उसी प्रकार चार अनुयोगों में चरणानुयोग जानना चाहिए। उसके ज्ञान व पालन किए बिना कोई मोक्षमार्गी नहीं होता।।12।। लोक में अनादिकाल से जीवादि छः द्रव्य विद्यमान हैं। नय के द्वारा उनके शुद्ध गुण-पर्यायों का कथन करने वाला अथवा प्रमाण से उनके शुद्ध वर्तन का कथन करने वाला एवं कल्याणार्थ पुण्य-पाप व तत्त्वों का कथन करने वाला द्रव्यानुयोग जानो।।13-14।। असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य प्रथम द्वीप जंबूद्वीप है। जिस प्रकार कल्पवासियों के बीच में सौधर्मइंद्र सुशोभित होता है, जैसे पर्वतों में सुदर्शन मेरु, ग्रहों में चंद्रमा, रसों में नमक, मंत्रों में महामंत्र, सिद्धक्षेत्रों में सम्मेदशिखर जी, सागरों में क्षीर सागर, धर्मों में अहिंसा, व्रतों में ब्रह्मचर्य, गुरुओं में निर्ग्रंथ गुरु, देवों में लौकांतिक देव सुशोभित हैं उसी प्रकार तिर्यक् लोक में जंबूद्वीप सुशोभित होता है।।15-17।। उस जंबूद्वीप के दक्षिण दिशा में शुभ भरत क्षेत्र है जो हिमवन् पर्वत से गिरती हुई दो नदियों गंगा व सिंधु से भाजित है।।18।। वे नदियाँ सर्वप्रथम दोनों कूट पर स्थित जिन-प्रतिमाओं का अभिषेक करती हैं पुनः भरत क्षेत्र का विभाजन करती हुई पूर्व व पश्चिम लवण समुद्र में जा मिलती हैं।।19।। वे नदियाँ स्वयं व उनकी परिवार नदियाँ आर्यखंड में नहीं बहतीं। भरत क्षेत्र में वह आर्यखंड एक, सुखद व सज्जनों से समन्वित है।।20।। उस आर्यखंड में शुभ नाम वाले अनेक देश हैं। धर्म व कर्म को करते हुए अनेक जीव वहाँ निवास करते हैं।।21।। आनन पर नयनों के समान उन देशों में सुभग, प्रशंसनीय कुरुजांगल नामक देश शोभित है। उसकी राजधानी विशाल हस्तिनागपुर नगरी है।।22।।

166. इह भूमीए अंतिम-कुलयरस्स सुद-पढम-तित्थयरस्स।
उसहदेवस्स पढमाहारो णिग्गंथवत्थाए॥23॥

167. णिव - सोमप्पह - कुमार - सेयंस - दुग्गे पारणारूवो।
तेरस - मास - अट्ठ दिण - पच्छा गहिदो य आहारो॥24॥

168. जादिसिमरणेण पुव्व-भवं जाणित्तु आहारदाणस्स।
विहिं अवबोहिदूणं, दाएज्ज इक्खुरसाहारं॥25॥

169. इमा पुढवी पवित्ता, मल्लिणाहाइ-बहु- तित्थयराणं।
समवसरणादीहिं च, वंदणीया सुप्पसिद्धा दु॥26॥

170. तित्थपयरजपुणीदा, चउकल्लाणभूमी तितित्थाणं।
अणेगमुत्तजीवाण, णाण-णिव्वाण-सुभूमी अवि॥27॥

171. तित्थमहीइ वंदणा, पुण्णवङ्कगा कम्मक्खयहेदू।
तम्हा पवित्त-भूमिं, तं वंदेमि हं सुभावेहि॥28॥

172. जस्स आसयेण भवी, तरेदुं भवसायरं दु सक्कंति।
तं खेत्तं तित्थं चिय, जम्मादी तित्थयरादीण॥29॥

173. सुदं वदं तह धम्मो, सम्मत्ताइ-रयणत्तयं तित्थं।
सूरि-आइ-परमेट्ठी, चेयणतित्थं विआणेज्जा॥30॥

174. णवदेवदा य तित्थं, उवादाणसत्तिपगासणाए दु।
भव्वाण कारणादो, अप्पा अवि णिम्मलं तित्थं॥31॥

175. बहुगुणसज्जिदो वीदसोग-णिवो इंदोव्व तत्थ देसे।
णायपिओ धम्मपियो, पयावच्छलो पुण्णवंतो॥32॥

176. रायस्स रज्जसहाइ, अमच्चो बेदह-सचिवा पुरोहा।
जयं लहिदुं समत्था, मुक्ख-गोण-सुसेणावदी य॥33॥

177. धणसंपण्णा बहवा, णयरसेट्ठी य पयाजणा सिट्ठा।
अहिंसा - वित्थारो य, सच्च-पयासो देसे तम्मि ॥34॥

इस भूमि पर अंतिम कुलकर नाभिराय के पुत्र व प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभदेव मुनिराज का निर्ग्रन्थावस्था में प्रथम आहार हुआ।।23।। राजा सोमप्रभ व राजकुमार श्रेयांस के महल में तेरह महिने आठ दिन पश्चात् उन महामुनिराज ने पारणा रूप आहार ग्रहण किया।।24।। उन्होंने (युवराज श्रेयांस ने) जाति स्मरण से पूर्वभव को जानकर आहारदान की विधि का बोध कर इक्षुरस का आहार दिया।।25।। यह सुप्रसिद्ध पृथ्वी श्री मल्लिनाथ आदि बहुत से तीर्थंकरों के समवसरण आदि से वंदनीय व पवित्र है।।26।। यह हस्तिनागपुर नगरी तीर्थंकरों की पद रज से पावन, तीन तीर्थंकरों श्री (शांतिनाथ जी, कुंथुनाथ जी, अरनाथ जी) की गर्भ, जन्म, तप व ज्ञान भूमि भी है और अनेक मुक्त जीवों की ज्ञान व निर्वाण भूमि भी है।।27।। तीर्थक्षेत्र की वंदना पुण्य वर्द्धन करने वाली व कर्म क्षय का हेतु है इसलिए उस पवित्र भूमि को शुभ भावों से मैं वंदना करता हूँ।।28।। जिसके आश्रय से भव्यजीव संसार सागर को पार करने में समर्थ होते हैं, तीर्थंकर आदि के जन्मादि के वे क्षेत्र तीर्थ कहलाते हैं।।29।।

श्रुत, व्रत, धर्म, सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय तीर्थ हैं। आचार्य आदि परमेष्ठी चेतन तीर्थ जानने चाहिए।।30।। नवदेवता तीर्थ हैं तथा भव्यों की उपादान शक्ति के प्रकटीकरण का कारण होने से आत्मा भी निर्मल तीर्थ है।।31।। उस देश में इंद्र के समान राजा वीतशोक राज्य करता था। जो न्यायप्रिय, धर्मप्रिय, प्रजावत्सल, पुण्यवान् व बहुत गुणों से सज्जित था।।32।। उस राजा की राज्य सभा में अमात्य, बारह सचिव, पुरोहित एवं विजय प्राप्त करने में समर्थ मुख्य व गौण सेनापति थे।।33।। उस देश में धन-संपन्न बहुत से नगर श्रेष्ठी थे। वहाँ की प्रजा शिष्ट थी। वहाँ अहिंसा का विस्तार व सत्य का प्रकाश था।।34।।

178. जायगा चोर-दुट्ठा, तम्मि देसे अइदुल्लहा पावी।
विहरंते णिग्गंथा, पच्चक्खणाणी णियलीणा।।35।।

179. णिद्धणो य बहुकंखा - जुत्तो पुव्वपावकम्मोदयेण।
अण्णादो समं विणा, कंखदि जायदि जायगो सो।।36।।

180. रुद्दट्टज्झाणं अह-किरिया रोएज्ज अणिट्ठकम्माणि।
दुक्ख-साहणं च जस्स, विआणेज्ज णरो दुट्ठो सो।।37।।

181. अण्णायेण अपुट्ठे, परवत्थूणि कंखेदि गहेदि जो।
सो चोरो णो भुंजदि, पुण्णवत्थुं पावकत्ता य।।38।।

182. भंडा परित्थीरदा, परधणहारगा हिंसगा कामी।
कूरभावजुदा जत्थ, पुण्णज्जणं सुलहं ण तत्थ।।39।।

183. पुण्णपुरिसजुत्तपुण्ण-खेतम्मि दुल्लहा पावभोत्ता दु।
विणयसंजुदा धम्मी सयायारी सिट्ठा बहुहा।।40।।

184. गुणगाहगो गुणीसुं, णम्मो गुरुपादसेवी विणीदो।
सुहगुणेसुं तप्परो, उदाराइ-सुगुण-संपण्णो।।41।।

185. भद्दो मंदकसायी, सुहलेस्सासंजुदो दयावंतो।
जिणायदण-पीदिजुदो-सवरकल्लाणत्थी धम्मी।।42।।

186. सहिण्हू पिदर-भत्तो, अण्णाय-अभक्ख-परवत्थूणं च।
चागी कत्तव्वजुदो, सुचरियावंत-सयायारी।।43।।

187. सम्मत्ताइ - गुण - जुदो, हियंकरो महुरभासी सुभद्दो।
संजमी गुणाकंखी, जो सो सिट्ठो मुणेदव्वो।।44।।

188. तदा ताइ णयरीए, तह सव्वा पुव्वपुण्णफलभोत्ता।
पुण्णप्पेसुं पावी, हंसेसु बगो व्व ण सोहंति।।45।।

189. रुक्खेसु पुप्फाइं व, सोहिदा सा सीलवयधारीहिं।
अक्कपयासेण भू व्व, उल्लसिदा पुण्णवंतेहिं।।46।।

उस देश में याचक, चोर, दुष्ट व पापी जन अति दुर्लभ थे। किन्तु उस पुण्य नगरी में प्रत्यक्षज्ञानी, निज में लीन रहने वाले निर्ग्रन्थ गुरु विहार किया करते थे।।35।। पूर्व पापकर्म के उदय से जीव निर्धन व अत्यंत कांक्षा से युक्त होता है। जो बिना श्रम किए अन्य किसी से याचना करता है, आकांक्षा करता है वह याचक है।।36।। जिसे दुःख के साधन रूप आर्त्त व रौद्र ध्यान, पाप क्रिया व अनिष्ट कर्म रुचिकर होते हैं उस मनुष्य को दुष्ट जानना चाहिए।।37।। अन्यायपूर्वक वा बिना पूछे जो पर-वस्तुओं की आकांक्षा करता है, उन्हें ग्रहण करता है वह चोर है। उचित ही है पापों को करने वाला पुण्य वस्तुओं का भोग नहीं कर पाता है।।38।। जहाँ भांड, पर स्त्री में रत, दूसरों के धन को हरण करने वाले, हिंसक, कामी व क्रूर भाव से युक्त जन रहते हैं वहाँ पुण्य का अर्जन सुलभ नहीं है।।39।। पुण्य पुरुषों से युक्त पुण्य क्षेत्र में पापों को भोगने वाले दुर्लभ होते हैं। पुण्य क्षेत्र में बहुलता से शिष्ट, विनय से युक्त, धर्मी व सदाचारी लोग होते हैं।।40।। गुणों को ग्रहण करने वाला, गुणीजनों में नम्र, गुरु के चरणों का सेवक, शुभ गुणों में तत्पर और उदार आदि सुगुणों से संपन्न विनम्र है।।41।। भद्र (सरल), मंदकषायी, शुभ लेश्या से युक्त, दयावान्, जिनायतनों में प्रीतियुक्त एवं स्वपर कल्याण ाार्थी धर्मी है।।42।। सहिष्णु, माता-पिता का भक्त, अन्याय-अभक्ष्य व परवस्तुओं का त्यागी, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं श्रेष्ठ आचरण से युक्त सदाचारी है।।43।। जो सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त है, हितैषी, मधुरभाषी, भद्र, संयमी व गुणों का आकांक्षी है वह शिष्ट जानना चाहिए।।44।। उस समय उस नगरी में सभी पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के फल को भोगने वाले थे। जैसे हंसों के मध्य बगुला शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार पुण्यात्माओं के मध्य पापी जीव शोभायमान नहीं होते थे।।45।। जैसे वृक्षों पर पुष्प सुशोभित होते हैं उसी प्रकार वह नगरी शीलव्रतधारियों के द्वारा सुशोभित थी एवं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से भूमि उल्लसित होती है उसी प्रकार यह भूमि पुण्यवानों के द्वारा उल्लसित थी।।46।।

190. सायरे रयणाइं व, जोदिसविमाणा व जोदिसलोए।
उववणे पुप्फाइं व, पुण्णजणा पुण्णणयरीए।।47।।

191. सघण-रुक्खावलि-जुत्त-खेतम्मिपउर-सुहंकरावरिसा।
जीमूआ वरिसंते, रुक्खरहिदवल्लरे कयाइ।।48।।

192. तह ताए णयरीए, पुण्णकज्जजुदा पुण्णफलभोत्ता।
बहुहा आसण्णभवी, कयाइ चिय दिग्घसंसारी।।49।।

193. अदिसय-पुण्णवंता ण, णेव महापुरिसा तित्थयरादी।
हवंतिपावखेत्तम्मि, मिलिच्छखंडम्मि सलागा व्व।।50।।

194. पच्चक्खणाणजुत्ता, यदेस-परम-सव्वोहि-णाणेहिं।
केइ मुणी मणपज्जय-णाण-जुत्ता विहरीअ तत्थ।।51।।

195. केवलणाणिजिणस्स दु, आगच्छीअ गंधकुडी कयाइं।
तत्थ बहुदाणवीरा, जायगा चिय दुल्लहा णवरि।।52।।

196. तस्स दु पाणवल्लहा, विज्जुदपहा अइसुंदरी सचीव।
कत्तव्वणिट्ठा धम्म-वच्छला पुण्णवंत-राणी।।53।।

197. राणीइविणाराओ, विज्जुदहीण-विज्जुद-उवयरणंव।
सा अद्धंगिणी होच्चु, अवि पुण्णंगिणीव रायस्स।।54।।

198. मिअंगस्स रोहिणीव, सीयारदीव राम - सुमराणं च।
विज्जुदपहा रायस्स, ण केवलं देह-सुह-हेदू।।55।।

199. णवरि धम्ममग्गे सय, पणोल्लीअ विणयमहुरवयणेहिं।
सा राणी ण केवलं, रायस्स अवि सेट्ठं मित्तं।।56।।

200. ताए सह सो सुहेण, करीअ धम्मट्ठकामपुरिसट्ठं।
धम्मजुदा सा रायं, पडिसुकत्तव्व-परायणादु।।57।।(तिअं)

201. करभार-विमुत्तपया, णवरि उवहारं देज्ज सगणिवस्स।
तदो राय-भंडारो, सया हि धण-धण्ण-परिपुण्णो।।58।।

जैसे सागर में रत्न होते हैं, ज्योतिर्लोक में ज्योतिष विमान होते हैं एवं उपवन में पुष्प होते हैं उसी प्रकार उस पुण्य नगरी में पुण्यवान् लोग रहते थे।।47।। वहाँ पर क्षेत्र सघन वृक्षों की आवलियों से युक्त थे। जहाँ प्रचुर, सुखद व शुभकारक वर्षा होती थी, बादल बरसते थे। वृक्ष रहित निर्जन प्रदेश वहाँ कदाचित् ही थे।।48।। उस नगरी में बहुधा पुण्य कार्यों से युक्त व पुण्य के फल को भोगने वाले भव्यजीव थे। वहाँ कदाचित् ही दीर्घसंसारी कोई थे।।49।। किसी भी पाप क्षेत्र में वा म्लेच्छखंडों में शलाका पुरुष के समान अतिशय पुण्यवान् एवं तीर्थंकर आदि महापुरुष नहीं होते।।50।। उस देश में देशावधि, परमावधि व सर्वावधि ज्ञानों से युक्त एवं कई मनःपर्यय ज्ञान से युक्त मुनि विहार करते थे।।51।। वहाँ श्री केवलज्ञानी जिनेन्द्र प्रभु की कदाचित् (कभी-कभी) गंधकुटी आती थी। वहाँ दानवीर बहुत थे जबकि विशेषता यह है कि याचक बहुत दुर्लभ थे।।52।।
उस राजा वीतशोक की प्राणवल्लभा रानी विद्युत्प्रभा थी। जो शचि के समान अति सुंदर थी। वह कर्तव्यनिष्ठ, धर्मवत्सला व पुण्यवती थी।।53।। रानी के बिना राजा उसी प्रकार प्रतीत होता था जैसे विद्युत् के बिना विद्युत् उपकरण। विद्युत्प्रभा अर्द्धांगिनी होकर भी राजा की पूर्णांगिनी के समान थी।।54।। चंद्रमा के लिए रोहिणी, राम के लिए सीता व कामदेव के लिए रति के समान ही विद्युत्प्रभा राजा वीतशोक के लिए थी। वह राजा के लिए न केवल देह सुख का हेतु थी बल्कि वह विनययुक्त व मधुर वचनों के द्वारा सदैव धर्ममार्ग में प्रेरिका थी। यह रानी न केवल राजा की श्रेष्ठ मित्र थी अपितु रानी के साथ राजा धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थ सिद्ध करता था। वह धर्म युक्त रानी राजा के प्रति कर्त्तव्य परायण थी।।55-57।। वहाँ की प्रजा कर (टैक्स) के भार से मुक्त थी किन्तु विशेषता यह है कि वह अपने राजा के लिए उपहार दिया करती थी जिससे राजा का भंडार सदैव ही धन-धान्य से परिपूर्ण रहा करता था।।58।।

202. उवहाररूवधणं दुवारं दायित्तु पया पडिवस्से।
णंदीअ तहा धेणू, दुद्धं णिच्चं सगवच्छस्स॥59॥

203. रुक्खो पुप्फफलाइं, सरिदा जलं रयणायरो रयणं।
मिअंगोसीयलत्तं,जुण्हं जहतहआयामित्तु॥60॥(जुम्मं)

204. विअरीअ पुरक्कारं, णिवो पारिओसियं सगसत्तीइ।
दुट्ठाण देज्ज दंडं, सव्वहिदत्थं सुहसिद्धीइ॥61॥

205. दायगो णंददि इट्ठ-वत्थूइं दायित्ता सज्जणाण।
णूणोणं लहदि देदि, अहियाहियं पेम्मपत्ताण॥62॥

206. अइमहुरो संबंधो, जणगपुत्तोव्व चिय रायपयाए।
तं उहयो हि कंखीअ,दादुं अहियहिय-धण-वत्थुं॥63॥

207. तम्मि देसम्मि होज्जा, दिणं सुवण्णं व रत्ती रजदं व।
मिहिरो उदयेज्ज पुव्व-दिसाइ कणगरूवो जम्हा॥64॥

208. उदयसमये दिणंते, मत्तंडो सुवण्णं व भासेज्जा।
चंदकराहुसीयला,रजदंवओसहीरूवाय॥65॥(जुम्मं)

209. लहिय विज्जुदपहं तं, अइ-गोरव-जुत्तो मण्णीअ सगं।
जवीअ धम्मेणं सह, जिणपूयाइं करंता ते॥66॥

210. इग - रत्तीइ राणीइ, सह चिट्ठीअ णिवो अंतेउरे।
वत्तालाव-मज्झम्मि,तदा राणी चिय अल्लवीअ॥67॥

211. भो सामि-महारायो! उदासो किं कारणं तुमं हंदि।
तेण उत्तरिदं णेव,देवी सय सोगमुत्तो हं॥68॥(जुम्मं)

212. किण्णु पाणपिया हु तव, वदणं पम्माणं दुह-हेदू मइ।
का चिंता तुज्झ मणे, उप्पालेसु णेव संकुचसु॥69॥

213. कहदि संकुचंता सा, किं णो जाणेसि तुमं हे देवो!।
सुदमंतरेण - मित्थी, कहं लोए पसंसणीया?॥70॥

वर्ष में दो बार उपहार रूप धन राजा को देकर प्रजा उसी प्रकार आनंदित होती थी जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिए दुग्ध देकर, वृक्ष अपने पुष्प-फलों को देकर, सरिता अपना जल, रत्नाकर अपने रत्न एवं चंद्रमा अपनी चाँदनी व शीतलता देकर आनंदित होता है।।59-60।। सबके हित व सुख की सिद्धि के लिए राजा अपनी शक्ति के अनुसार पुरस्कारों का वितरण करता था, पारितोषिक देता था एवं दुष्टों को दंड भी दिया करता था।।61।। दाता सज्जनों को इष्ट वस्तुएँ देकर आनंदित होता है। वह कम से कम लेता है एवं स्नेहीजनों के लिए अधिक से अधिक देता है।।62।। राजा व प्रजा में पिता व पुत्र के समान अति मधुर संबंध थे इसलिए दोनों ही एक-दूसरे को अधिक से अधिक धन व वस्तु देने की आकांक्षा करते थे।।63।। उस समय उस देश में दिन सोने के समान और रात्रि चाँदी के समान थी क्योंकि पूर्व दिशा में सूर्य स्वर्ण के समान उदित होता है। सूर्योदय के समय व दिन के अंत अर्थात् सूर्यास्त के समय सूर्य स्वर्ण के समान प्रतिभासित होता है एवं रात्रि में चंद्र की किरणें चाँदी के समान शीतल व औषधि रूप होती हैं।।64-65।। रानी विद्युत्प्रभा को प्राप्तकर राजा वीतशोक स्वयं को अति गौरव से युक्त मानता था। वे दंपत्ति जिनेंद्र-पूजा आदि करते हुए धर्मध्यान के साथ अपना समय व्यतीत कर रहे थे।।66।। एक रात्रि राजा अंत:पुर में रानी विद्युत्प्रभा के साथ बैठे हुए थे तभी वार्तालाप के मध्य रानी ने कहा—हे महाराज! हे स्वामी! आप किस कारण उदास हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया—हे देवी! मैं उदास नहीं हूँ। मैं राजा वीतशोक सदा शोक मुक्त हूँ।।67-68।। किन्तु हे प्राणप्रिया! आपका मुख निस्तेज, मुरझाया हुआ चेहरा मेरे लिए दु:ख का कारण बन रहा है। आपके मन में क्या चिंता है? कहो, तनिक भी संकोच मत करो।।69।। तब थोड़ा सकुंचाती हुई महारानी कहती हैं कि हे देव! क्या आप नहीं जानते कि पुत्र के बिना नारी लोक में कैसे प्रशंसनीय हो सकती है?।।70।।

214. रायेण आलिंगिदा, राणी तदा रायणेहभावेण।
धीरवंतो कहदि सो, हे देवी! तुह पुण्णवंता॥71॥

215. तुमं दु विप्पसीदेसु, पाउणस्ससि अइपुण्णवंत-सुदं।
किंणोजाणसिसमयं,वीईवणएगसरिसोसो॥72॥(जुम्मं)

216. इह हुंडवसप्पिणीइ, परिवट्टणं तुमं अज्जखंडम्मि।
णासि कम्मभूमीए, भोयभूमि-अवसाणादो य॥73॥

217. पडिसुदि-आइ-चउद्दस-कुलयरेहिं संबोहिदा पया दु।
कुव्विदा भयविमुक्का,णवीण-परिवट्टणादु तदा॥74॥

218. के के कुलयरा हु ते, कहं तेहि करिदा भयमुक्क-पया।
अहो देवो! मम चित्तसंतीइ कहेज्ज वित्थरेण॥75॥

219. जिणवयणं णियमेणं, चित्तथिरिमाए संति-सुह-हेदू।
भव्वाणं सुपुण्णस्स, असुहादो य विणिवित्तीए॥76॥

220. तम्हा मम पाणपिया, चेइत्ता सुणहि हरिसभावेणं।
जहा मए केवली दु, सुणिदो तहेव उप्पालेमि॥77॥

221. कमसोभोयभूमीइ,चउदस-कुलयरा खलुअवसाणम्मि।
तेसु पडिसुदी पढमो, हिदमग्गदंसगो पयाए॥78॥

222. पल्लस्स दसमभागो, आउं अट्ठदस-सयाइं धणू य।
उच्छेहो णायप्पिय - सुपुण्णवंत - महारायस्स॥79॥

223. भोयभूमीए णेव, दिट्ठं पस्सिय तदा सूर-चंदं।
भयणासस्स सरूवं कहीअ अइभयवंतपयाइ॥80॥

224. ते पहावहीणा जोदिरंग-कप्परुक्खाण पहावेण।
किण्णु कालदोसेणं, दिट्ठा पहावमंदत्तादु॥81॥

225. असंखेज्जकोडि-वास-अणंतरं सम्मदी मणू विदियो।
अमम-पमिदं आउं च, तेरस-सय-धणू उच्छेहो॥82॥

तब राजा ने राग व स्नेह के भाव से रानी का आलिंगन किया। पुनः उस धीरवान् राजा ने कहा–हे देवी! तुम पुण्यवती हो। हे देवी! तुम प्रसन्न रहो, तुम्हें अति पुण्यवान् पुत्र की प्राप्ति अवश्य होगी। क्या तुम समय को नहीं जानतीं? पानी की लहरों के समान वह समय भी सदा एक सा नहीं रहता।।71–72।। अहो देवी! इस हुंडावसर्पिणी काल में इस आर्यखंड में भोगभूमि का अवसान होने से कर्मभूमि में हुए परिवर्तन को तो तुम जानती हो।।73।। तब नवीन परिवर्तन होने से भय युक्त हुई प्रजा को प्रतिश्रुति आदि चौदह कुलकरों ने भय से मुक्त किया।।74।। अहो देव! वे कुलकर कौन-कौन थे? उन्होंने किस प्रकार प्रजा को भयमुक्त किया? मेरे चित्त की शांति के लिए कृपया विस्तार से कहिए।।75।। जिनवचन नियम से चित्त की स्थिरता, सुख-शांति, भव्यों के पुण्य व अशुभ से निवृत्ति का हेतु हैं।।76।। अतः मेरी प्राणप्रिया! हर्षभाव से सावधान होकर सुनो। जिस प्रकार मैंने केवली भगवन् से सुना उसी प्रकार मैं कहता हूँ।।77।। भोगभूमि का अवसान होने पर क्रमशः चौदह कुलकर हुए। उनमें प्रतिश्रुति नामक पहले कुलकर थे जो प्रजा के लिए हित मार्ग दिखाते थे।।78।। उन सुपुण्यवान्, न्यायप्रिय महाराज की आयु पल्य के दसवें भाग और शरीर की ऊँचाई अट्ठारह सौ धनुष थी।।79।। भोगभूमि में सूर्य, चंद्र कभी दिखाई नहीं देते थे। पहले कभी न दिखने वाले उन सूर्य चंद्र को देखकर भयभीत हुई प्रजा को भय के नाश के लिए उनके स्वरूप को कहा।।80।। उन्होंने बताया कि ज्योतिरङ्ग जाति के कल्पवृक्षों के प्रभाव से वे सूर्य-चंद्र प्रभावहीन थे अर्थात् कल्पवृक्षों के प्रकाश से उनका प्रकाश तिरोहित रहता था किन्तु अब कालदोष से उन ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों का प्रभाव मंद होने से ये दिखने लगे हैं। (इस प्रकार बताकर प्रजा को भय मुक्त किया)।।81।। पुनः असंख्यात करोड़ वर्षों के अनंतर सन्मति नामक द्वितीय कुलकर हुए। उनकी आयु अमम के बराबर वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई तेरह सौ अर्थात् एक हजार तीन सौ धनुष थी।।82।।

226. गगणंगणे तारिगा, पस्सिय भीरू पया य संभंता।
पण्णवीअ जोदिरंग-पहाव-अइमंदादु दिट्ठा॥83॥

227. पुणो असंखेज्ज-कोडि-वास-पच्छा खेमंकरो तिदियो।
अटटपमाणं आउं, अट्ठसया-धणू उच्छेहो॥84॥

228. पयाइ पोसिदा भद्द-परिणामि-सीह-भेरुंडाइ-पसू।
घास-भक्खगा अहुणा, वियारी भीसण-सद्द-जुदा॥85॥

229. कहिदं तदा भो जणा!, अविस्सस्सणीया काल-दोसेण।
णिल्लुंछेज्ज पसू ता, रक्खाइ णहदाढादीदो॥86॥

230. असंखेज्ज - कोडि - वास - अणंतरं खेमंहरो चदुत्थो।
तुडिग-पमिदमाउं,पणहत्तरि-अहिय-सत्त-सय-धणू॥87॥

231. कट्ठ - लगुडादीहिं च, सीह - भेरुंडाइ - दुट्ठ - पसूदो।
सग-रक्खणं दु तेणं, उवदिसिदं दयावंतेणं॥88॥

232. पुण सीमंकर-पणगो, कुलयरो आउगं कमलपमाणं।
अवगाहणा पण्णास-णूण-अट्ठ-सया धणू तस्स॥89॥

233. कप्परुक्खाण ताणं, फलाण अप्पत्तादो कुलयरेण।
करिदा सीमा ताणं, जणेसुं विवाद-संतीए॥90॥

234. छट्ठमो सीमंधरो, कुलयरो णलिण-पमाणं आउं च।
पणवीस-समहिद-सत्त-सया धणू हु देहुच्छेहो॥91॥

एक बार रात्रि में गगनांगन में तारों को देखकर प्रजा भ्रम में पड़ गयी और अत्यन्त भयभीत हुई। उन्होंने प्रजा को उपदेश दिया कि ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों का प्रभाव अतिमंद होने से ये दिखाई दे रहे हैं अतः भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।।83।। पुनः असंख्यात करोड़ वर्ष पश्चात् क्षेमंकर नामक तीसरे मनु हुए। उनकी आयु अटट बराबर थी और शरीर की ऊँचाई आठ सौ धनुष की थी।।84।। पहले जो सिंह, चीता आदि पशु थे वे अत्यंत भद्र परिणामी थे, घास आदि खाते थे उनका पोषण प्रजा ही किया करती थी। किन्तु अब वे विकार को प्राप्त होने लगे अर्थात् मुँह आदि फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे थे।।85।। तब उन्होंने प्रजा को भयमुक्त करने हेतु कहा हे प्रजाजनों! काल दोष के कारण अब ये पशु अविश्वसनीय हो गए हैं अतः पशुओं के नख, दाढ़ आदि से अपनी रक्षा के लिए उन्हें छोड़ दो।।86।। पुनः असंख्यात करोड़ वर्षों के अनंतर क्षेमंधर नामक चौथे कुलकर हुए। जिनकी आयु तुटिक प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष थी।।87।। उन दयावान् राजा ने लकड़ी-लाठी आदि के द्वारा सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट पशुओं से अपनी रक्षा करने का उपदेश दिया।।88।। पुनः असंख्यात करोड़ वर्षों पश्चात् सीमंकर नामक पाँचवें कुलकर हुए। उनकी आयु कमल प्रमाण वर्षों की थी और शरीर की अवगाहना सात सौ पचास धनुष थी।।89।। उस समय कल्पवृक्षों की संख्या अल्प रह गई और उनका फल भी अल्प हो गया अतः लोगों में विवाद होने लगा। तब इस विवाद की शांति के लिए उन कुलकर राजा ने कल्पवृक्षों की सीमा नियत कर दी अर्थात् इस स्थान तक के कल्पवृक्षों का प्रयोग इतने लोग करें और उस स्थान के कल्पवृक्षों का प्रयोग उतने लोग करें।।90।। पुनः असंख्यात करोड़ वर्षों बाद सीमंधर नामक छठवें कुलकर हुए। उनकी आयु नलिन प्रमाण वर्षों की थी एवं उनके शरीर का उत्सेध सात सौ पच्चीस ध नुष था।।91।। उपर्युक्त कारण से ही अर्थात् जब कल्पवृक्ष व उसके

235. उवजुत्त-कारणेणं, अइ-कलह-पिट्टणादीण संतीइ।
सीमा करिदा ताणं, अणेग-रुक्ख-झाडादीहिं॥92॥

236. पउम-पमाणं आउं, सत्तसया धणू देहुच्छेहो य।
कुलयर-विमलवाहणो, सत्तमो सुपसंतो भद्दो॥93॥

237. अस्स - गयाइ - पसूण, अंकुस-तोत्तादीण पउत्तेणं।
उवरि आरोहणं चिय, उवदिसिदं विमलवाहणेण॥94॥

238. अट्ठम-चक्खुस्माणो, पणहत्तरि-अहिय-छस्सया धणूय।
देहावगाहणा तह, आउगं पउमंग-पमाणं॥95॥

239. अदिट्ठ पुव्व-संताण-मुहं खणं पस्सित्तु मिदा अहुणा।
अज्जा भीदा करिदा, भयमुक्का सम्मुवदेसेण॥96॥

240. कोडि-वास-अणंतरं, जसव्वाणो कुलयरो णवमो पुण।
कुमुद-पमाणं आउं, पण्णासणूणसत्तसया य॥97॥

241. तस्स उवदेसेणं दु, आसीवायं देच्चा णियसिसूण।
खणमेत्तं ठाइत्ता, परलोयगमणं सुह-जुगलं॥98॥

242. अहिचंदो दसम-मणू, पणवीस-समहिद-छस्सया धणूय।
देहुच्छेहो आउं, कुमुदंग-पमाणं दयालू॥99॥

243. तस्स सुउवदेसेणं, किड्डाविदा तदा णियसंताणा।
पिदरेहि ससि-सम्मुहे, तम्हा णाम-सत्थगो तस्स॥100॥

244. कोडि-वास-अणंतरं, एयारसमो कुलयर-चंदाभो।
णउद-पमाणं आउं, छस्सया धणू य उच्छेहो॥101॥

245. णियसंताणेहिं सह, तदा सुहेणं जवंता अंतम्मि।
मरणं लहीअ पिदरो, आणंदेणं उच्छाहेण॥102॥

246. जोग्ग-समय-अणंतरं, धणू पणहत्तरि-अहिय-पंचसया।
णउतंग-पमिद-माउं, मरुदेवो मणू बारसमो॥103॥

फल बहुत अल्प रह गए तब लोगों में भारी कलह और मारामारी होने लगी अतएव शांति की स्थापना हेतु उन्होंने अनेक वृक्ष व झाड़ियों के द्वारा कल्पवृक्षों की सीमा कर दी।।92।। इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षों पश्चात् विमलवाहन नामक सातवें कुलकर हुए जो अति प्रशांत व भद्र थे। उनकी पद्म प्रमाण आयु थी और शरीर की ऊँचाई सात सौ धनुष थी।।93।। उन विमलवाहन कुलकर ने घोड़ा, हाथी आदि पशुओं पर अंकुश, तोत्र (सोंटा, चाबुक, डंडा या पेनिया) आदि के प्रयोग से चढ़ने व सवारी करने का उपदेश दिया।।94।। पुनः असंख्यात करोड़ वर्षों के बाद चक्षुष्मान् नामक आठवें कुलकर हुए। उनकी आयु पद्मांग प्रमाण वर्षों की थी एवं उनके शरीर की अवगाहना छह सौ पचहत्तर धनुष थी।।95।। पहले लोग अपनी संतान का मुख नहीं देखते थे किन्तु अब वे क्षण भर मुख देखकर मृत्यु को प्राप्त होने लगे। उनके लिए यह नया था अतः वे आर्यजन भयभीत हुए। सम्यक् उपदेश के द्वारा उन कुलकर ने प्रजा को भय मुक्त कर दिया।।96।। पुनः करोड़ों वर्ष व्यतीत होने पर यशस्वान् नामक नौवें कुलकर हुए। वे कुमुद प्रमाण आयु के धारक थे। उनके शरीर की ऊँचाई छह सौ पचास धनुष की थी।।97।। उनके उपदेश से अब शुभ युगल अपनी संतानों को आशीर्वाद देकर और क्षण भर ठहरकर परलोक गमन किया करते थे।।98।। इनके करोड़ों वर्षों बाद दयावान् अभिचंद्र नामक दशवें मनु हुए। वे कुमुदांग प्रमाण आयु के धारक थे और उनके शरीर की ऊँचाई छह सौ पच्चीस धनुष थी।।।99।। उस समय उनके उपदेश से माता-पिता ने चंद्रमा के सन्मुख अपनी संतानों को क्रीड़ा कराई अतः उनका अभिचंद्र नाम सार्थक था।।100।। पुनः करोड़ों वर्ष बाद ग्यारहवें चंद्राभ नामक कुलकर हुए। इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षों की थी एवं शरीर की ऊँचाई छह सौ धनुष थी।।101।। उनके समय में माता-पिता अपनी संतानों के साथ उत्साह, आनंद व सुख के साथ समय व्यतीत करते हुए अन्त में मरण प्राप्त करते थे।।102।। योग्य समय व्यतीत होने पर मरुदेव नामक बारहवें मनु हुए। उनकी आयु नयुतांग प्रमाण वर्षों की थी एवं शरीर की अवगाहना पाँच सौ पचहत्तर धनुष थी।।103।।

247. उप्पण्णा गिरी णदी, उवएसं णाव-चालणस्स देज्ज।
सिड्ढी-णिम्माणस्सय, मेहवरिसा अवि आढत्तो॥104॥

248. पुण तेरसम-कुलयरो, पसेणजिदो पव्वेगपमिदाउं।
पण्णास-णूण-छस्सय-धणू सुंदर-देहुच्छेहो॥105॥

249. जराउ-अणुकड्ढणस्स, उवएसो दायिदो जम्मसमये।
बालग-सरीरादो हु, जुगपरिवट्टणसमयम्मि चिय॥106॥

250. चउदसम-णाहिरायो, एगकोडिपुव्वपमाणं आउं।
पणवीस-समहिद-पंच-सया धणू देहुच्छेहो य॥107॥

251. णाहिणालं दिस्सिदं, सुदुप्पत्तीइ सह तस्स यालम्मि।
तं हु सत्थगो णामो, उवदिसिदं तण्णिकत्तणं च॥108॥

252. धम्मवत्ताइ इत्थं, किच्चा चित्त-संतं सगपियाए।
जवीअ पुण्ण-सव्वरी, वत्थुसरूवं दंसंतेण॥109॥

253. किच्चा चदुत्थ-ण्हाणं, सगपदिणा सह एयदा सयीअ दु।
अइपेम्मजुदरायेण, भुंजिदं वर-भोय-मिंदोव्व॥110॥

254. कप्परुक्खं च सिंधू, चंदक्को विमाण-सुमेरू ताइ।
णिद्धूमग्गी णिसाइ, अंते सिविणाणि पस्सिदाणि॥111॥

255. सा सुपहादे पसण्ण-चित्तेण उक्कुसीअ रायणियडे।
फलाणि सगसिविणाणं, पुच्छीअ अइविणयभावेण॥112॥

256. तदा रायदरबारे, पुच्छिदाणि चिय सत्तसिविणफलाणि।
पुढविपदिणा कहिदाणि, णिमित्तणाणिणा सुहफलाणि॥113॥

उस समय पर्वत व नदियों की उत्पत्ति हुई। उन्होंने नाव चलाने का एवं सीढ़ी निर्माण का उपदेश दिया। मेघ की वर्षा भी प्रारंभ होने लगी थी।।104।। पुनः प्रसेनजित नामक तेरहवें कुलकर हुए। उनकी आयु एक पर्व प्रमाण थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पचास ध नुष थी।।105।। उस समय बालक जर सहित जन्म लिया करते थे। तब उन्होंने जन्म समय में बालक के शरीर से जरायु को खींचने का उपदेश दिया।।106।। इसके पश्चात् नाभिराज नामक चौदहवें कुलकर हुए। उनकी आयु 1 कोटि पूर्व की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष थी।।107।। उनके समय में संतान की उत्पत्ति के साथ नाभि की नाल दिखने लगी थी। उन्होंने उसे काटने का उपदेश दिया इसीलिए उनका नाभिराय नाम सार्थक था।।108।। इस प्रकार धर्मवार्तापूर्वक वस्तु-स्वरूप को दर्शाते हुए राजा ने अपनी प्रिया का चित्त शांत कर पूर्ण रात्रि व्यतीत की।।109।। एक बार चतुर्थ दिन स्नान करके उसने अपने पति के साथ शयन किया एवं अति प्रेम से युक्त राजा ने इंद्र के समान उत्तम भोगों को भोगा।।110।। रात्रि के अंत में महारानी विद्युत्प्रभा ने स्वप्न में कल्पवृक्ष, सागर, चंद्र, सूर्य, देवविमान, सुमेरुपर्वत व निर्धूम अग्नि को देखा।।111।। वह रानी प्रातःकालीन बेला में प्रसन्नचित्त होकर राजा के निकट गयी एवं अति विनयभाव से राजा से अपने स्वप्नों का फल पूछा।।112।। तब राजा ने निमित्तज्ञानी से राजदरबार में रानी द्वारा देखे गए सात स्वप्नों का फल पूछा एवं निमित्तज्ञानी ने उन शुभ फलों को इस प्रकार कहा।।113।।

257. कप्परुक्ख-दंसणादु, अइसुही य विउलविहवसंजुत्तो।
सिंधु-पस्सणादो तह, गंभीरो सुमज्जाइल्लो॥114॥

258. केवलणाणी लोयालोयपयासगो मिहिर-णिअणादो।
चंद-पुलोअणादो य, सुहदो सगसमीवत्थाणं॥115॥

259. सुमेरू-णिअच्छणादो, णिच्छलो अकंपो रयणत्तयम्मि।
सुरविमाण-णिअणादो, अवयरेज्ज चयित्तुसग्गादु॥116॥

260. भो राओ! तव पुत्तो, णिस्संदेहो खयिय सव्वकम्मं।
भोत्ता मोक्खलच्छीइ, णिद्धूमग्गि-आलोअणादु॥117॥(चउक्कं)

261. फलाणि सव्वसिविणाण, आयण्णित्ता अइ-आणंद-जुदा।
पुत्तपत्तीव होज्जा, तक्खणम्मि महाराणी सा॥118॥

262. गब्भसंविद्धीइ सह, सुहसंतिरायविहव-धणधण्णाण।
विद्धी वि तत्थ देसे, अइ-हरिसाइया सव्वपया ॥119॥

263. तदा णवमासा गदा, सिग्घं खणं व अइ-आणंदेणं।
पुण्णोदये को वि णो, जाणेदि गच्छमाण-यालं॥120॥

264. गच्छिद-एगखणं अवि, अइसंकिलेस-भावेहि भासेदि।
तिव्वपावोदयम्मि दु, अइ-कट्ठेणं एगजुगोव्व॥121॥

265. पुण्णाहे सुहजोगे, सुणक्खत्ते चंदे सगगिहीए।
गुरुम्मि उच्चे सुह-गयकेसरि-जोगे तह केंदम्मि॥122॥

266. मेसे दिवायरम्मि य, भूपुत्तम्मि दसमरासीए सदि।
सणीइ कुंभरासीइ, राहु-केदूसु सुहठाणेसु॥123॥

267. बुहे मिहुणरासीए, सुक्के सत्तमभावे रासीए।
सव्वगिहेसु सुठिदीसु, इत्थं सुहाणंद-वड्ढगो॥124॥

268. अदिसयसुपुण्णवंतो, पुत्तो जादो चिय रायभवणम्मि।
सोगविहीणो य सुगुण-जुत्तो संतिदो मंगल्लो॥125॥(तिअं)

हे राजन्! कल्पवृक्ष को देखने से आपको पुत्र की प्राप्ति होगी जो अति सुखी और विपुल वैभव से युक्त होगा। समुद्र को देखने से वह गंभीर और मर्यादित होगा। सूर्य को देखने से वह लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञानी होगा। चंद्र को देखने से वह पुत्र अपने समीपस्थों के लिए सुख देने वाला होगा। सुमेरु पर्वत को देखने से वह पुत्र रत्नत्रय में पर्वत के समान निश्चल, अकंप होगा। देव विमान को देखने से ज्ञात होता है कि आपका पुत्र स्वर्ग से चयकर यहाँ जन्म लेगा। हे राजन्! निर्धूम अग्नि को देखने से आपका पुत्र नि:संदेह सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष लक्ष्मी का भोक्ता होगा।।114-117।। इस प्रकार स्वप्नों के फल को सुनकर वह महारानी विद्युत्प्रभा इस प्रकार आनंदित हुई मानों कि उसे उसी क्षण पुत्र की प्राप्ति हो गयी हो।।118।। जैसे-जैसे महारानी के गर्भ की वृद्धि हो रही थी वैसे-वैसे उस देश में सुख, शांति, राजवैभव, धन, धान्य की वृद्धि हो रही थी। वहाँ समस्त प्रजा भी अति हर्षित थी।।119।। उस समय नव मास एक क्षण के समान शीघ्र ही अति आनंद के साथ व्यतीत हो गए। ठीक ही कहा है कि पुण्योदय में व्यतीत होते हुए काल का पता किसी को नहीं लगता।।120।। तथा तीव्र पापकर्म के उदय में अति कष्ट से व अति संक्लेश भावों से व्यतीत हुआ एक क्षण भी एक युग के समान प्रतिभासित होता है।।121।। शुभ दिन, शुभ योग, शुभ नक्षत्र में जब चन्द्र स्वग्रही अर्थात् कर्क राशि पर था, गुरु उच्च का अर्थात् कर्क राशि पर था, केंद्र में दोनों के साथ होने से गजकेसरी योग था।।122।। सूर्य मेष राशि में था अर्थात् उच्च का था, मंगल दसवीं राशि-मकर राशि पर उच्च का था। शनि कुंभ राशि का अर्थात् स्वग्रही था एवं राहु-केतु भी शुभ स्थानों पर थे। बुध मिथुन राशि पर अर्थात् स्वग्रही था। शुक्र सप्तम भाव में स्व राशि पर था। इस प्रकार सभी ग्रहों के शुभ स्थानों पर होने से सुख व आनंद की वृद्धि करने वाले अतिशय पुण्यवान् पुत्र ने राजभवन में जन्म लिया। वह पुत्र शोकविहीन, सुगुणों से युक्त, शांति को देने वाला व मंगलकारी था।।123-125।।

269. तं दायिदं सुणामं, सत्थग-मसोगो रायकुमारस्स।
णिमित्तणाणिणा तदा, सुहउच्छवे अइहरिसेणं॥126॥

270. पालण-पोसणत्तादु, किच्छं णेव विजाणीअ कुमारो।
सव्वसुहभोत्ता तहा, तिप्पो विणओ य णिब्भीओ॥127॥

271. सेट्ठपाढगादो बहु-सुविज्जाहि सुसक्कारिदो कलाहि।
अइरपावीअविज्जं, वर-खओवसम-जुत्तादो दु॥128॥

272. पावीअअप्पयाले, सण्णाण-समण्णिद-सेट्ठसिक्खंदु।
सुपुण्णवंताणं किं, इट्ठत्थं दुल्लहं लोए॥129॥

273. णेव विवेगरित्तदा, बालयाले वि तम्मि अणुकंवो य।
किदण्णू अणुअत्तयो, वुड्ढधी विज्जज्झयणेणं॥130॥

274. चंदकला जह वड्ढदि, देदि सीयलत्तं सुहं सव्वाण।
वड्ढंतो असोगो वि, सुह-कारणं तह सव्वाणं॥131॥

275. संगठिद-चमूव्वतम्मि, असंखगुणा जयिदुं विरोहिचमुं।
दोसचमुं रोहेदुं, सरयचंदामलमरीई दु॥132॥

276. दुहद-वसणेहिं तस्स, चित्तं अवहरिदं दु णेव कया वि।
अब्भंतर-सत्तुजयी, मणस्सी य णिव्विआरी सो॥133॥

277. तिव्ववेगजुदसरिदा, जह जह वहदे य तह तह वड्ढेदि।
गुणलंकिद-वड्ढंतो, गुणणंद-वड्ढण-कारणं च॥134॥

278. जोवणम्मि पविसंतो, असोगो ससिविमाणस्स इंदोव्व।
तस्स बल-बुद्धि-कंती, रूव-लावण्णादी सुहदा॥135॥

अतः शुभ जन्म उत्सव में अतिहर्ष से निमित्तज्ञानी के द्वारा उस राजकुमार का अशोक यह सार्थक नाम दिया गया।।126।। श्रेष्ठ पालन-पोषण होने से राजकुमार किसी दुःख को नहीं जानता था। वह सभी सुखों का भोक्ता, संतुष्ट, विनयी और निर्भीक था।।127।। श्रेष्ठ क्षयोपशम होने से राजकुमार ने श्रेष्ठ पाठक (शिक्षक) से शीघ्र ही विद्या प्राप्त की। वह राजकुमार बहुत सी श्रेष्ठ विद्याओं व कलाओं के द्वारा सुसंस्कारित था।।128।। अल्पकाल में ही उसने सम्यग्ज्ञान से समन्वित श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त की। उचित ही है कि पुण्यवानों के लिए कौन सी इष्ट वस्तु लोक में दुर्लभ है? अर्थात् कोई नहीं।।129।। वह राजकुमार बाल्यावस्था में भी विवेकहीन नहीं था। वह कृतज्ञ, अनुकूल आचरण करने वाला था। विद्या अध्ययन से उसकी बुद्धि परिपक्व हो गयी थी।।130।। जिस प्रकार चंद्रमा की कला वृद्धिंगत होती है तब वह सभी के लिए सुख व शीतलता प्रदान करती है उसी प्रकार बढ़ता हुआ अशोक भी सभी के लिए सुख का कारण था।।131।। जैसे एक सेना अपनी विरोधिनी सेना को जीतने के लिए आपस में संगठित होती है व विरोधी सेना का प्रतिकार करती है उसी प्रकार शरत्कालीन चंद्रमा की किरणों के सामान निर्मल व कीर्ति उत्पन्न करने वाले असंख्यात् गुण मानो दोषों की सेना को रोकने के लिए उस राजकुमार के भीतर संगठित हुए थे।।132।। दुःखद व्यसनों ने उसके चित्त का हरण कभी नहीं किया था। वह आंतरिक शत्रुओं को जीतने वाला मनस्वी व निर्विकारी था।।133।। तीव्र वेग से युक्त सरिता जैसे-जैसे आगे प्रवाहमान होती है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त होती है। उसी प्रकार जैसे-जैसे अशोक वृद्धिंगत हो रहा था वैसे-वैसे गुणों से अलंकृत हो रहा था। वह सभी के लिए गुण व आनंद की वृद्धि का कारण था।।।134।। यौवनावस्था में प्रवेश करता हुआ राजकुमार अशोक चंद्र विमान के इंद्र के समान प्रतिभासित हो रहा था। उसका बल, बुद्धि, कांति, रूप, लावण्य आदि सुख प्रदान करने वाला था।।135।।

279. गुणुप्पण्णो मणोण्णो, अणुराय-उप्पायगो जसो तस्स।
सुरभिद-जणणुरायकर-कुमुदं व दु रायकुमारस्स॥136॥

शार्दूल विक्रीड़ित छंद

280. णिव्वेरो सुहणीदिपालग-गुणी धम्मस्स संपालगो,
दोसादोस-वियारगो दु सददं णिग्गंथभत्तो जसो।
णिच्चं जेण्हसुसासणे अणुरदो सक्कार-संवड्ढगो,
मेत्तिदाणदयाखमाहि सहिदो विस्सस्स खेमंकरो॥137॥

281. विस्सासी सुदयाउसे सुहमणो णम्मो पयावच्छलो,
गंभीरो रयणायरोव्व णिउणो कत्तव्वणिट्ठो सया।
णिक्कंखी जिणुवासगो सुहरदो सव्वेहि लद्धायरो,
सो सीहोव्व सुविक्कमी मणहरो सत्थाणुरायी मिदू॥138॥

जिस प्रकार कुमुद सुगंधित एवं लोगों के अनुराग को उत्पन्न करने वाला होता है उसी प्रकार उस राजकुमार का यश उसके गुणों से उत्पन्न, मनोज्ञ और प्रजाजनों के अनुराग को उत्पन्न करने वाला था।।136।। वह किसी के प्रति भी बैर से रहित, शुभ नीतियों का पालन करने वाला, गुणी, धर्म-पालक, निरंतर दोष व गुणों का विचार करने वाला, निर्ग्रन्थ गुरुओं का भक्त, यशस्वी, जैन शासन में अनुरत, संस्कारों का संवर्द्धन करने वाला, मैत्री, दान, दया, क्षमा आदि गुणों से सहित एवं विश्व के लिए कल्याणकारी था।।137।। वह राजकुमार अशोक श्रेष्ठ अहिंसाधर्म में विश्वास रखने वाला था, शुभ मन वाला अर्थात् शुभ परिणामों से युक्त था। वह विनम्र, प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाला, रत्नाकर के समान गंभीर, सर्व कार्यों में दक्ष, अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करने वाला, सर्व आकांक्षाओं से रहित संतुष्ट था। वह जिनेंद्रप्रभु का उपासक, पुण्य कार्यों में रत, सभी के द्वारा आदर को प्राप्त, सिंह के समान विक्रमी, अपनी चेष्टाओं व गुणों से सभी का मन हरण करने वाला, शास्त्रों का अनुरागी एवं कोमल वाणी, व्यवहार व मन वाला था।।138।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में अशोक की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला द्वितीय नंद पूर्ण हुआ।

तिदिय-णंदो

282. अस्सिं भरदखेत्तम्मि, सुसोहिदो दु अंगणामयदेसो।
उसहदेवस्स सुदस्स, सुप्पसिद्धो अंगणामेण॥1॥

283. अंगदेसो पवित्तो, कल्लाणमही दु महापुरिसाणं।
गब्भ-सुजम्मतवणाण-णिव्वाणाहि चिय धण्णा सा॥2॥

284. ममपडिवक्खिया अत्थ, णिवसेज्ज धणधण्णसंपदादीय।
विवत्ती असूयाए, अवयज्झेदि णेव दु तम्हा॥3॥

285. सुधण-धण्ण-रयण-धादु-उप्पायणेण देसो संपण्णो।
तम्हा जहट्ठणामा, वसुमदी जादा तक्काले॥4॥

286. अग्गिमंदिर-समीवे, मंदारणगस्स अहवा देसस्स।
चंपापुर - णयरी विक्खादा रायहाणी दु अस्स॥5॥

287. दिवस्स अमरावदीव, देसो पुण्णवंतमाणुसजुत्तो।
मघवाचक्कीव विहवजुत्तो मघवा महाराओ॥6॥

288. अस्स देसस्स सोहा, विदेहस्स सुह-सुसीमाणयरीव॥
पुण्णवंताण जत्थ, सहजसंजोगो पुण्णेणं॥7॥

289. पुण्णवंत-पुरिसाणं, सामी अवि अच्चंत-पुण्णवंता।
उण्ह-वेस्साणरस्स वि, पहावो य दिस्सदे उण्हो॥8॥

290. जह रसालरुक्खेसुं, रसालो दाडिमो दाडिमतरूसु।
गवेसेज्जा णरो तह, मित्तं कत्थ वि भाविल्लं॥9॥

291. तिव्वपावकम्मुदये, सीददे जीवो चउकसायेहिं।
चउविह-अणिट्ठ-वत्थुं, तादो पावेदि बहुदुक्खं॥10॥

292. चउगदीसु भमंतो सय, णेव लहेज्जा चउपुरिसट्ठ फलं।
अज्जदि पुण्णुदये बहुपुण्णं सुकिदेहि णरो किण्णु॥11॥

इस भरत क्षेत्र में ही अंग नामक देश सुशोभित था, जो श्री वृषभदेव के पुत्र अंग के नाम से सुप्रसिद्ध था।।1।। अंग देश एक पवित्र देश था। वह महापुरुषों के गर्भ, सुजन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण द्वारा धन्य कल्याणभूमि थी।।2।। यहाँ लोगों के पास मेरी विरोधिनी (सौत) धन-धान्य, संपदा आदि निवास करती है, मानो इसी ईर्ष्याभाव के कारण विपत्ति वहाँ किसी मनुष्य की ओर देखती तक नहीं थी।।3।। वह देश श्रेष्ठ धन-धान्य, रत्न, धातु आदि के उत्पादन से संपन्न था अतः तत्काल में वहाँ की वसुमती अर्थात् भूमि का, वसुमती अर्थात् धन वाली नाम सार्थक हो गया।।4।। अंग देश के अग्निमंदिर वा मंदारगिरी पर्वत के निकट इसकी राजधानी चंपापुर नगरी विख्यात थी।।5।। स्वर्ग की अमरावती के समान शोभायमान वह देश पुण्यवान् मनुष्यों से संयुक्त था। वहाँ का महाराजा मघवा, मघवा अर्थात् इंद्र के समान अथवा चक्रवर्ती के समान वैभव से युक्त था।।6।।इस देश की शोभा विदेह क्षेत्र की सुसीमा नगरी के समान थी, जहाँ पुण्यवानों का पुण्य से सहज संयोग था।।7।। पुण्यवान् पुरुषों के स्वामी भी अत्यंत पुण्यवान् होते हैं। सही है उष्ण अग्नि का प्रभाव भी उष्ण ही दिखता है।।8।। जैसे आम्र के वृक्षों पर आम, अनार के वृक्षों पर अनार ही होते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी अपने स्वभाव वाले मित्र को खोज ही लेता है। अर्थात् जो जैसा होता है वह वैसा मित्र खोज लेता है।।9।। तीव्र पापकर्म के उदय में जीव चारों कषायों से दुःखी होता है इसलिए वह द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चार प्रकार की अनिष्ट वस्तुएँ एवं बहुत दुःख प्राप्त करता है।।10।। वह पापी जीव यहाँ चारों गतियों में भ्रमण करते हुए चारों पुरुषार्थ के फल को नहीं प्राप्त करता। किंतु पुण्य के उदय में जीव अच्छे पुण्य कार्यों के द्वारा बहुपुण्य का अर्जन करता है।।11।।

293. तम्मि देसे विहरेज्ज, सूरी पाढगा णिग्गंथसाहू।
णियधम्मं सड्ढाए, पालीअ अविरद-देसवदी॥12॥

294. गंधरायेण पुप्फं, पडि फुल्लंधया अहिपच्चुअंते।
धम्मभावेण धम्मी, जह तह मुणिवरा पडि णिच्चं॥13॥

295. बहुहा णरा तिरिया वि, सद्दिट्ठी अणुव्वदी सव्वदा य।
करीअ सगकत्तव्वं, दयाइ-पालणं जिणपूयं॥14॥

296. सुगंथाण-मज्झयणं, दाणं पडि सुह-पडिप्फद्दा तत्थ।
सत्तीए उववासं, सीलपालणं करीअ सया॥15॥

297. कुणित्था तित्थजत्तं, परोवयारं तह वेज्जावच्चं।
महामंत-जवं तदो, पावं णेव तत्थ पस्सेज्ज॥16॥

298. जिणजत्तं महुच्छवं, णिम्माणं जिणबिंबागाराणं।
धम्मो पुण्णजणेसुं, वरिसोव्व दु पाविडयालम्मि॥17॥

299. इक्खुस्स सव्वंगेसु, होदि महुरिमा जह तह णियमेणं।
पुण्णवंताण सोक्खं, पुण्णेणं सव्वपयारेण॥18॥

300. राणी सुपुण्णवंता, अद्धंगिणी सुहा तस्स रायस्स।
पदिअणुगामिणी कला-विज्जाजुत्ता गुणी विणया॥19॥

301. महुरभासिया धम्मी, कत्तव्वणिट्ठा य णंदमुत्तीव।
सिरीव दु सिरिमदी सा, मणोहरा सुवच्छल्लणिही॥20॥

302. कवोलमंडल-गोरं, मदणेण मिअंगोव्व सेट्ठवत्तं।
लावण्ण-सायरस्स दु, इंदू व्व सहासफेणो तं॥21॥

उस देश में आचार्य, उपाध्याय, निर्ग्रन्थसाधु विहार करते रहते थे। वहाँ सभी देशव्रती व सम्यग्दृष्टि श्रावक श्रद्धा से अपने धर्म का पालन करते थे।।12।। जिस प्रकार गंध के राग से भँवरे पुष्प की ओर खिंचे चले आते हैं उसी प्रकार धर्मभाव से धर्मी जन नित्य ही मुनिराज की ओर खिंचे चले आते थे।।13।। बहुधा नर व तिर्यंच अणुव्रती व सम्यग्दृष्टि थे। श्रावकजन सदा ही दया आदि का पालन, जिनपूजन इत्यादि अपने कर्त्तव्यों को करते थे।।14।। समीचीन-सम्यग्ज्ञान से समन्वित ग्रंथों के अध्ययन व दान के प्रति लोगों में शुभ प्रतिस्पर्द्धा थी। वे सदा शीलधर्म का पालन व शक्तिपूर्वक उपवास किया करते थे।।15।। वहाँ के मनुष्य तीर्थयात्रा, परोपकार, वैय्यावृत्य एवं महामंत्र की जाप करते थे। वहाँ पाप तनिक भी दृष्टिगोचर नहीं होता था।।16।। वे लोग जिनयात्रा, धर्ममहोत्सव एवं जिनबिंबों व जिनालयों का निर्माण किया करते थे। जिस प्रकार प्रावृट्काल (वर्षाकाल) में वर्षा होती है उसी प्रकार पुण्यजनों में धर्म की वर्षा हुआ करती थी।।17।। जिस प्रकार इक्षु दंड के सर्वांग में मधुरता होती है उसी प्रकार पुण्यवानों के पुण्य से सर्व प्रकार से सुख होता है।।18।। उस राजा की अर्द्धांगिनी रानी शुभा, सुपुण्यवती, पति की अनुगामिनी, कला व विद्या से युक्त, गुणी और विनयी थी।।19।। वह रानी श्रीमती श्री (लक्ष्मी) के समान, मधुर-भाषिणी, धर्मिष्ठा, कर्तव्यनिष्ठा, आनंद की मूर्ति के समान मनोहरा व सुवात्सल्य की निधि थी।।20।। उसका कपोल मंडल गोरा था कामदेव ने उसे और भी गोरा कर दिया था अतएव उसका श्रेष्ठ मुख चंद्रमा के समान दिखायी देता था। वह साक्षात् लावण्य का समुद्र ही थी। उसका मंदहास उसमें फेन का स्थान ले रहा था।।21।।

303. तं लहिय मघवा सगं, मण्णेज्जा इंदोव्व पुण्णवंतो।
रायस्स हियमंदिरे, लच्छीव सोहग्गिआ हंदि॥22॥

304. सव्वदा ताण चित्तं, परोप्पर-णेह-विस्सास-णिबद्धं।
जसवंत-अट्ठपुत्ता, सिरिवालो तहा गुणवालो॥23॥

305. वसुवाल-पयावाला, वयवालो सिरीहरो गुणहरो य।
जसोहरोसिद्धाणं,अट्ठगुणावसुप्पसिद्धादु॥24॥(जुम्मं)

306. सिद्धीव एगपुत्ती, आणंदकारगा रोहिणी ताण।
सव्वगुणेहिं जुत्ता, धम्मिट्ठा साणुक्कोसा य॥25॥

307. चउसट्ठि-कलाजुत्ता, सुंदरिमाए कमणीया रम्मा।
पुण्णणीर-सुपूरिदा,सुसोहिदा मिअंग-जुण्हा व॥26॥

308. पसंत-रोहिणीए दु, हासुज्जलजुण्हाइ पुण्णजगदी।
णिम्मलजुइमंता चिय, सुहायरम्मि अत्थे ताए॥27॥

309. मिगणयणी दु ससलंछणोव्व कंती णवरि लंछणहीणा।
देहो य णमणसीलो, कोमलो सुमरधणुलयणं व॥28॥

310. ताए रूववविहवेण, पराइदो उक्कोसेण पुण्णेण।
जीहंत-कामदेवो, विलिज्जित्तु अदेहो जादो॥29॥

311. ससंगकलावकण्णा,वड्ढेज्जणिम्मलासणिअंसणिअं।
पस्सिय जोवणवत्थं, ताइ रदी वि कुणीअ इस्सं॥30॥

312. अज्जिगाए कण्णाइ, सुसिक्खा चिय आयामिदा ताए।
सुगंधोव्व पुप्फम्मि हु, कण्णाए बहु-सुविज्जाओ॥31॥

उसको पाकर राजा मघवा स्वयं को इंद्र के समान पुण्यवान् मानता था। राजा के हृदय मंदिर में वह सौभाग्यवती शोभायमान थी।।22।। उनका चित्त सर्वदा परस्पर स्नेह और विश्वास से निबद्ध था। उनके यशवान् आठ पुत्र थे–श्रीपाल, गुणपाल, वसुपाल, प्रजापाल, व्रतपाल, श्रीधर, गुणधर और यशोधर। सिद्धों के आठ गुणों के समान ये आठों पुत्र प्रसिद्धि को प्राप्त थे।।23-24।। उनके आनंद की कारणभूत रोहिणी नामक एक पुत्री थी जो सिद्धि के समान ही थी। वह सर्वगुणों से युक्त, धर्मिष्ठ एवं दयावान् थी।।25।। वह चौंसठ कला से युक्त, सौंदर्य से संयुक्त, कमनीया, मनोरमा, सुपुण्य नीर से परिपूरित एवं चंद्रमा की चांदनी के समान सुशोभित थी।।26।। चंद्रमा के अस्त होने पर भी उस प्रशांत रोहिणी की मुस्कान से संपूर्ण पृथ्वी तल प्रकाशमान् था।।27।। वह मृगनयनी थी, उसकी कान्ति चंद्रमा के समान थी किन्तु उसमें कभी लांछन (कलंक) नहीं था। उसका शरीर कामदेव की धनुर्वल्लरी के समान नमनशील और कोमल था।।28।। उस रोहिणी के रूपवैभव, उत्कर्ष व पुण्य से पराजित होकर कामदेव शर्माता हुआ उसमें ही विलीन होकर देह रहित हो गया।।29।। चंद्रमा की कला के समान वह निर्मल कन्या शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। उसकी यौवन अवस्था को देखकर रति भी उससे ईर्ष्या करने लगी थी।।30।। उस श्रेष्ठ कन्या ने आर्यिका माता जी से सुशिक्षा ग्रहण की। जैसे पुष्प में सुगंध होती है वैसे ही उस कन्या में बहुत सी श्रेष्ठ विद्याएँ थीं।।31।।

313. जुण्हा दु सीयला जह, चंदणं सुगंधिदं गुडो मिट्ठं।
अग्गी उण्हो अक्को, पयासगो चिय सहावेणं।।32।।

314. कडुओ णिंबं खारो, लवणो तहा सज्जणो खलु विणदो।
तह पुव्वपुण्णादोय, रोहिणी बहुगुणसंजुत्ता।।33।।(जुम्मं)

315. पिदर-सुसक्कारेहिं, कल्लाकल्लिं सुहभत्तीए सा।
जिणच्चणाइं दु कडुअ, णिरुवारेज्जा कल्लवत्तं।।34।।

316. एयदा रोहिणीए, जिणचेइयालयं पच्छंदिदूण।
कुव्विदा जिणदेवस्स, संपुण्णंगजुत्ता पूया।।35।।

317. णिट्ठ-जिणभत्ताए दु, जिणभत्ति-रायेण पूयंताए।
अदिसय-पुण्णकम्माण, आसवो करिदो पुलोमीव।।36।।

318. पूयं कुव्वंताए, अंगमंगं पुलआएज्जा ताइ।
अदिसय-उद्धुसियाए, वत्तं विअसिद-मुप्पलिणीव।।37।।

319. जिणच्चणं किच्चा पुण, सेसक्खदं गंधोदग-मोग्गहिय।
णियजणगसमीवे सा, पहुच्चीअहरसिद-चित्तेण।।38।।

320. मिट्ठिट्ठ सिट्ठा मणोहरा-ललिअ-हियपिय-वाणी ताए।
सुसक्कार-कयंबिदा, ललंत-चंद चंचलकरोव्व।।39।।

321. अहुणा विवाह-जोग्गा, सुसक्कार जुदसुंदरिमामुत्ती।
णियगुणवंतं पुत्तिं, पस्सिय वियारिदं णिवेणं।।40।।

322. पुण परिणय-संबंधे, वियारिदं रायेण राणीइ सह।
राणीइ मणोभावं , तदा बोहिदूण-माहविदं।।41।।

323. ससेट्ठ - मंतिमंडलं, परामरिसस्स विप्पसिअंतेणं।
पुत्तिं पडिजणगस्सदु, कत्तव्वपालणायलोए।।42।।(जुम्मं)

जैसे चाँदनी स्वभाव से शीतल, चंदन सुगंधित, गुड़ मीठा, अग्नि ऊष्ण, सूर्य प्रकाशक होता है, नीम कड़वा, नमक खारा और सज्जन विनयी होते हैं उसी प्रकार पूर्व पुण्य से रोहिणी स्वभावतः बहुत गुणों से युक्त थी।।32-33।। माता-पिता के सुसंस्कारों से वह कन्या प्रतिदिन शुभभक्ति पूर्वक जिनेंद्रप्रभु की अर्चना करके ही जलपान ग्रहण करती थी।।34।।एक बार की बात है रोहिणी ने जिनचैत्यालय जाकर श्री जिनदेव की संपूर्ण अंगों से युक्त पूजा की।।35।। उस निष्ठ-जिनभक्ता ने जिनभक्ति के अनुराग से इंद्राणी के समान जिनदेव की पूजन करते हुए अतिशय पुण्य कर्मों का आस्रव किया।।36।। जिनपूजा करते हुए उस रोहिणी का अंग-अंग पुलकित हो जाता था। अतिशय रोमांचित उस राजकुमारी का मुख खिली हुई कमलिनी के समान था।।37।। जिनेंद्र भगवान् की अर्चना कर वह शेषाक्षत और गंधोदक को लेकर प्रसन्नचित्त से अपने पिता के निकट पहुँची।।38।। उसकी वाणी मिष्ट, इष्ट, शिष्ट, मनोहारिणी, मधुर, विनीत, हितकर व प्रिय थी। वह सुसंस्कारों से अलंकृत एवं विलास करती हुई चंद्रमा की चंचल रश्मि के समान थी।।39।। सुसंस्कारों से युक्त, सौंदर्य की मूर्ति मेरी यह पुत्री अब विवाह योग्य हो गई है, इस प्रकार अपनी गुणवती पुत्री को देखकर राजा ने विचार किया।।40।। पुनः पुत्री के परिणय के संबंध में राजा ने रानी के साथ विचार-विमर्श किया। रानी के मनोभावों को समझकर राजा ने प्रसन्न होते हुए लोक में पुत्री के प्रति पिता के कर्तव्य पालन के लिए विवाह संबंधी परामर्श हेतु अपने श्रेष्ठ मंत्रीमंडल को बुलाया।।41-42।।

राजा मघवा के सम्मुख सुमति नामक प्रधानमंत्री ने निवेदन किया

324. सुमदि-पहाणमंतिणा, णिवेदिदं सम्मुहम्मि भूवदिस्स।
देज्ज सुजोग्गवरस्स दु, सुकण्णं सयंवर-विहीए।।43।।

325. विदियो मंती रवीअ, रायो! इमो हु उत्तमो वियारो।
इमादोअण्ण-णिवाण,विहोज्जतुमंपडिसुहभावो।।44।।

326. गुणजुदसुंदरिमाए, मुत्तिं णिउणं बहुविज्जाकलासु।
सेट्ठकण्णारयणं ण, विलुंपदि गुणाणुरायी को?।।45।।

327. धणत्थी अप्पधणं वि, णेव णिल्लुंछेदि सहजदाए दु।
तो अपुव्वणिहिरूवं कण्णारयणं को मिल्लेज्ज?।।46।।

328. सुदसायराइ - णिम्मलबुद्धिधारग - मंतीहिं इत्थं दु।
परामरिसिदं जम्हा, णिवं पडि सोहदं सव्वाण।।47।।

329. ता णीदी आढविदा, तिदिययालंते णिव-अकंवणेण।
भरदखेत्ते अज्जं वि, विज्जमाण - सयंवरणीदी।।48।।

330. सयंवरविही सेट्ठा, माणणीया रायपरिवारेसुं।
तुमं तं वरं णीदिं, रोहिणीए पडिसंधेज्जा।।49।।

331. संगच्छिदो णिवेणं, परामरिसो दु उग्घोसाविदं च।
हवेज्जा पाणिगहणं, सयंवरविहीइ रोहिणीइ।।50।।

332. कुणिदं विवाहलग्गं, सुणिच्छिदं तदा रायपुरोहेण।
उक्किट्ठ-मुहुत्तम्मि य, सयंवरसहाइ पुण्णाहे।।51।।

333. अणेग-णिवा कुमारा, आमंतीअ अच्चंत-आयरेण।
पट्टविय रायदूदा, णिउणा रायकज्जसिद्धीइ।।52।।

334. सयंवरं गच्छेदुं, उच्छाहेण तप्परा सव्वजणा।
तस्स अइ-उच्छाहम्मि, चित्तविचित्तचेट्ठा ताणं।।53।।

कि हे राजन्! इस श्रेष्ठ कन्या को स्वयंवर विधि से ही सुयोग्य वर के लिए देना चाहिए।।43।। तब दूसरे मंत्री ने भी कहा–हाँ महाराज! यह विचार उत्तम है। इससे अन्य राजाओं को भी आपके प्रति शुभ भाव होगा।।44।। गुणों से युक्त, सौंदर्य की मूर्ति एवं बहुत विद्या व कलाओं में निपुण श्रेष्ठ कन्या-रत्न को कौन गुणानुरागी नहीं चाहता? अर्थात् सब उसकी अभिलाषा करते हैं।।।45।। धन का आकांक्षी अल्प धन भी सहजता से नहीं छोड़ता फिर ऐसी अपूर्व निधि रूप कन्या रत्न को कौन छोड़ेगा अर्थात् कोई नहीं।।46।। इस प्रकार श्रुतसागर आदि निर्मल बुद्धि के धारक मंत्रियों के द्वारा परामर्श किया गया क्योंकि राजा के प्रति सभी का सौहार्द होता है।।47।। पुनः एक मंत्री ने कहा हे राजन्! वह स्वयंवर नीति तृतीय काल के अंत में राजा अकंपन के द्वारा प्रारंभ की गई थी। भरतक्षेत्र में आज भी स्वयंवर नीति विद्यमान है।।48।। राजपरिवारों में माननीय यह स्वयंवर विधि श्रेष्ठ है अतः रोहिणी के लिए आपको उस श्रेष्ठ नीति को स्वीकार करना चाहिए।।49।। राजा ने उन मंत्रियों के परामर्श को स्वीकार किया एवं घोषणा करायी कि रोहिणी का पाणिग्रहण संस्कार स्वयंवर विधि से होगा।।50।। तब राजपुरोहित ने स्वयंवर सभा के लिए उत्कृष्ट मुहूर्त व शुभ दिन में विवाह लग्न सुनिश्चित किया।।51।। राजकार्य की सिद्धि में कुशल राजदूतों को भेजकर अत्यंत आदर के साथ अनेक राजाओं व राजकुमारों को स्वयंवर हेतु आमंत्रित किया गया।।52।। स्वयंवर में जाने के लिए सभी लोग अति उत्सुकता से तत्पर थे। जाने के अतिउत्साह में उस समय उनकी चेष्टाएँ चित्र-विचित्र हो रही थीं।।53।।

तब किसी ने अपनी नाव विपरीत दिशा में बहा दी, किसी के द्वारा

335. खिविदा णियणावा खलु, केणं दु विवरीयदिसाए तदा।
पुच्छणे अण्णुत्तरा, केणं कुद्दिदं रुक्खादो॥54॥

336. काइ भाले कज्जलं, काइ णारीइ बिंदी णासिगाइ।
कण्णफूलं करेसु, धारिदं करफूलं कण्णे॥55॥

337. णिउरं धरिदं कंठे, कंठाहारं च पादेसुं काइ।
केयूरं णियमत्थगे, फुल्लगं चिअ णियहत्थेसुं॥56॥

338. मुद्दिगा पदंगुलीइ, णासाभरणं काए वेणीए।
धारिदं अघोवत्थं, उवरि उवरिमवत्थं अहोभागे॥57॥

339. काए णियसंताणं, भुंजाविदाइ गासं णासिगाइ।
मुहे णीरं ण दायिय, अंगोहलाविदो सो ताइ॥58॥

340. गच्छंताए ताणं, तह पाद - पक्खालण-भावेणं।
कलसं व पुत्तं गहिय, कलसं सुदोव्व गहीअ काइ॥59॥

341. वत्थुट्ठाणे माणं, देज्ज आवणिया घिदस्स तिल्लं च।
को अवि कोसियारस्स, ठाणे कप्पासिअं तराइ॥60॥

342. केणं दु अइ-तराए, भुंजिदो चिअ बज्झभागो फलस्स।
अंतभागो य खिविदो, गच्छंतेणं च पुरिसेणं॥61॥

343. को वि अपक्कघडम्मि, णीरं भरीअ पक्कघडट्ठाणे।
आअंछीअ गवेणं, खेत्तं को वि उसहं दुहीअ॥62॥

344. पडिदेगित्थी कोक्कदि, सगपदिं ठासु ठासु य सगडादो।
पुच्छणे भासदे सा, रोहिणीए सुकप्पणाए॥63॥

345. भुल्लीअ हं सव्वं, कहं सा परिहाविस्सदे मालं।
वरं तं वियारंता, उट्ठीअ जेण पडीअ अहं॥64॥ (जुम्मं)

पूछे जाने पर किसी ने कुछ और ही उत्तर दिया। अरे कोई ऊँचे पेड़ से यूँ ही कूद गया।।54।। किसी स्त्री ने माथे पर काजल लगा लिया किसी ने बिंदी नाक पर लगा ली।।55।। किसी ने कर्णफूल हाथ में और हथफूल कानों में डाल लिये। किसी ने पायल कंठ में और कंठाहार पैरों में पहन लिया। किसी ने बाजूबंद को मस्तक पर और मांगटीका को हाथों में पहन लिया।।56।। किसी ने अंगूठी पैरों की अंगुली में पहन ली तो किसी ने नथ चोटी में लगा ली। कोई ऊपर के वस्त्र नीचे और अधोवस्त्र ऊपर धारण करने लगी।।57।। अपनी संतान को भोजन कराती हुई किसी महिला ने ग्रास उसके मुँह में न देकर नाक में दे दिया और जल पिलाने की बजाय उसे नहला दिया।58।। उन वर-वधू के पाद प्रक्षालन के भाव से जाती हुई एक स्त्री ने पुत्र को कलश के समान सिर पर रख लिया और कलश को पुत्र के समान ग्रहण कर लिया।।59।। कोई दुकानदार वस्तु के स्थान पर बाँट ही देने लगे तो कोई घी के स्थान पर तेल देने लगे और कोई रेशमी वस्त्र के स्थान पर शीघ्रता में सूती वस्त्र देने लगे।।60।। बहुत जल्दी में जाते हुए किसी पुरुष ने फल का छिलका खा लिया और गूदा फेंक दिया।।61।। कोई पके घड़े के स्थान पर अपना कच्चे घड़े में पानी भरने लगा। कोई अतिशीघ्रता से गाय से खेत जोतने लगा और बैल को दुहने लगा।।62।। वाहन से स्वयंवर के लिए जाती हुई एक स्त्री गिर पड़ी। उसके पति को ज्ञात नहीं हुआ तब वह आवाज लगाने लगती है—ठहरो! ठहरो! तब उसके पति ने पूछा कैसे गिरी तो वह कहने लगी अरे! राजकुमारी रोहिणी की कल्पना में मैं सब कुछ भूल गई थी। वह किस प्रकार अपने वर को माला पहनाएगी यह विचार करते हुए मैं खड़ी हो गई जिससे मैं गिर पड़ी।।63-64।। राजा के सुनिर्देश से स्वयंवर मंडप का निर्माण किया गया था। वहाँ

346. णिम्माविदो सयंवर - मंडवो सुणिद्देसेण रायस्स।
कुव्विदं जहाजोग्गं, सम्माण-मागद-अदीहीण॥65॥

347. अणेगरयणझल्लरी, झलझलंता झसयाइ-आयारे।
झणज्झणंता झसिंध-दूईव दु झुल्लंता तत्थ॥66॥

348. विहिण्ण-रयण-चुण्णेहि,णिम्मिद-रंगावलीहि बहुठाणेसुं।
सहाव्व आखंडलस्स, सोहिदो तदा मंडवो सो॥67॥

349. तदा देसस्स वि सव्व-पुरिसा चिय भासीअ पुरुहूदोव्व।
णारी देवंगणा व्व, कयबरुज्झिया अवि सोहीअ॥68॥

350. सव्वाण णिवज्जेदुं,कलहोय-णिम्मिद-आसणाणि तत्थ।
राय-रायकुमाराण, बहुमुल्ल-बहुरयणजडिदाणि॥69॥

351. आगद-णिवा कुमारा,विराजीअ चिय सयंवर-सहाए।
सग-सग-जोग्गासणेसु, इंदोव्व तदा उच्छाहेण॥70॥

352. बद्धकरेण णिवेणं, कुव्विदं अहिवादणं अदिहीणं।
उप्पालिदं विणयेण, तुज्झे जाणह सहाणीदिं॥71॥

353. तुज्झसव्व-पदिट्ठिदा,कुल-मज्जादा-सुरक्खगाणिच्चं।
सक्किदि-संवड्ढगाय,सुसब्भदा-संवाहगाअवि॥72॥

354. सम्माणीया सव्वा, णिवेदमि विणयेण मे पुत्ती।
सोहेज्ज वरमालाइ,जस्स पुण्ण-णर-कंठं सो दु॥73॥

355. होज्जा मे जामादू, पुण्णवंतो मए माणणीयो।
अइवत्तिस्सेदिकोवि,जदिहुदंडभाजगोसोतो॥74॥(जुम्मं)

356. कडुअ सम्माण-मित्थं, णियमं बोहित्ता मघवा राओ।
ससेट्ठसीहासणम्मि, णिवज्जीअ अइ-उच्छाहेण॥75॥

आये हुए अतिथियों का यथायोग्य सम्मान किया गया।।65।। वहाँ मत्स्य आदि के आकार में लटकती हुई अनेक रत्नों की झालरें प्रकाशमान हो रही थीं। झुनझुन की आवाज करती हुई वे झालरें ऐसी प्रतीत हो रहीं थीं मानों कामदेव की दूती ही हों।।66।। बहुत से स्थानों पर विभिन्न रत्न के चूर्णों से निर्मित रंगोली से वह स्वयंवर मंडप सुशोभित था। उस समय वह सौधर्मइंद्र की सभा के समान ही शोभित हो रहा था।।67।। तब देश के सभी मनुष्य देव के समान व समस्त नारियाँ देवांगना के समान ही प्रतिभासित हो रही थीं। यहाँ तक कि उस समय कचरा साफ करने वाली दासियाँ भी सुशोभित हो रही थीं।68।। वहाँ सभी राजागण व राजकुमारों के बैठने के लिए बहुमूल्य बहुत रत्नों से जड़ित स्वर्णमयी सिंहासन थे।।69।। स्वयंवर सभा में आए राजा व राजकुमार अपने-अपने योग्य आसनों पर उत्साह के साथ इंद्र की भाँति विराजमान हुए।।70।। राजा ने हाथ जोड़कर सभी अतिथियों का अभिवादन किया एवं विनयपूर्वक कहा कि आप सभी सभा की नीति को जानते हो।।71।। आप सभी प्रतिष्ठित, कुल-मर्यादा के रक्षक, संस्कृति के संवर्द्धक एवं सुसभ्यता के संवाहक भी हैं।।72।। मैं राजा मघवा सभी सम्मानीय जनों से विनयपूर्वक निवेदन करता हूँ कि मेरी पुत्री जिस पुण्यवान् नर के गले को वरमाला से सुशोभित करेगी वही पुण्यवान् मेरा दामाद होगा, वही मेरे लिए माननीय होगा। यदि कोई भी इस नियम का अतिक्रमण करेगा तो वह दंडभाजक होगा।।73-74।। इस प्रकार सबका सम्मान करके नियम को समझाकर राजा मघवा अति उत्साह से अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान हो गया।।75।।

357. सेट्ठवर-चयणायखलु,साणिय-सव्वपुण्ण-मारोलित्ता।
अभिपत्थीअ जिणिंदं, पावेज्जा हं वरं जोग्गं।।76।।

358. जं पडिलंभिदूणं दु, सिलाहेमु अहं णिय-सोहग्गं दु।
मिमंआवज्जियसोवि,अच्चीकरिदुणियसोहग्गं।।77।।(जुम्मं)

359. वरं कुलं च सुवित्तं, वयो सुबुद्धी य णिरोयि-सरीरं।
सुसक्कारो पदिट्ठा, धम्मत्तं च जिण-गुरु-भत्ती।।78।।

360. णीदियारेहि कहिदा, इमा दसगुणा हंदि सेट्ठवरस्स।
णियपुण्णेणंपावमु,वरंजुत्तंइमेहिगुणेहि।।79।।(जुम्मं)

361. कम्महीण - सव्वसुद्ध - सिद्धाणं पणमिदूणं भावेमि।
जाव ण लहमु सिवपदं, ताव मे सहजत्ती धम्मी।।80।।

362. अंतरभावणाहि हं, णमामि उहयलच्छिजुदा जिणिंदा।
मे जीवण-सह-जत्ती, पुण्णं लहिदुं अघक्खयिदुं।।81।।

363. जिणिंद-सिमरणं च गुरु-वंदणं धम्मपालणं णियमेण।
इट्ठवत्थुपत्तीए, कारणं खलु पावक्खयस्स।।82।।

364. सोहग्ग-संविड्ढीइ, सव्वाणिट्ठं णिवारिदुं पुण पुण।
विसुद्धीए पणमामि, हं तियालविट्टि-पणगुरुणो।।83।।

365. णिय-पिदु-संगेदेणं, पडिच्छिय पंचवण्णिपुप्फमालं।
सगपिदरंपणिवयित्तु,दोण्णि-परिचारिआहिंसहदु।।84।।

366. पालय-मादु-सहिदा य, सणिअं सणिअं ओगाहंता सा।
णमोक्कारं सरंता,ओउंठणम्मिजीहंताय।।85।।(जुम्मं)

367. ओणेज्जाव्व पइडीइ, रयणा व्व रणझणंता कंकणेहि।
सेट्ठोंडल-संजुत्ता, ओच्छविया ओमोयेहिं च।।86।।

वह रोहिणी श्रेष्ठ वर को चयन करने के लिए अपने सर्व पुण्य को इकट्ठा कर जिनेंद्र भगवान् से प्रार्थना करने लगी कि मैं श्रेष्ठ वर को प्राप्त करूँ। जिसको प्राप्त कर मैं भी अपने सौभाग्य की सराहना करूँ और मुझे प्राप्त कर वो अपने सौभाग्य की प्रशंसा करे।।76-77।। श्रेष्ठ कुल, न्यायोपार्जित धन, आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, निरोगी शरीर, सुसंस्कार, प्रतिष्ठा, धर्मत्व, जिनभक्ति व गुरुभक्ति, नीतिकारों ने श्रेष्ठ वर के ये दस गुण कहे हैं। हे प्रभु! अपने पुण्य से मैं इन गुणों से युक्त वर को प्राप्त करूँ।।78-79।। कर्मों से हीन सभी शुद्ध सिद्धों को नमस्कार कर मैं भावना भाती हूँ कि हे प्रभु! जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक मेरा सहयात्री धर्मात्मा हो।।80।। अंतरंग व बाह्य दोनों लक्ष्मी से युक्त जिनेंद्र भगवान् को मैं अंतरंग की भावनाओं से नमस्कार करती हूँ। हे भगवन्! मेरा जीवन साथी पुण्य की प्राप्ति व पाप के क्षय के लिए हो।।81।। जिनेंद्र प्रभु का स्मरण, गुरु वंदना व धर्म पालन नियम से इष्ट वस्तु की संप्राप्ति और पाप क्षय का कारण है।।82।। अतः सौभाग्य की संवृद्धि व सर्व अनिष्टों के निवारण के लिए मैं विशुद्धि पूर्वक पुनः पुनः त्रिकालवर्ती पंच परमेष्ठी भगवान् को नमस्कार करती हूँ।।83।। अपने पिता के संकेत से पंच- वर्णीपुष्पमाला को ग्रहण कर माता व पिता को प्रणाम कर दो परिचारिकाओं के साथ व पालक माँ अर्थात् धात्री के साथ रोहिणी धीरे-धीरे पग रख रही थी।।84-85।। उस समय राजकुमारी रोहिणी ऐसी लग रही थी मानो साँचे में ढाल कर रति ही बनायी गई हो अथवा प्रकृति की श्रेष्ठ रचना ही हो। वह रुनझुन करते हुए कंगनों से युक्त थी, उसका केश विन्यास श्रेष्ठ था, वह आभूषणों से आच्छादित थी।।86।।

368. परिहाइदूणं हु सो तम्मवण्णि-चंडातकं पहट्ठा।
चंदिअं परिभवंता, अग्गे रीअ मदणावलीव॥87॥

369. कुरंगच्छी कुमारी, आयंबंत-रत्तप्पलोट्ठ-जुदा।
देवी व मज्जादाइ, मदणं च तप्पेदुं रदीव॥88॥

370. तत्थ दु सुमंगलाए, धत्तीए सव्व-राइद-रायाण।
दायिदो उइद-परिचयो, तह विणेवरंजीअ कस्सिं॥89॥

371. रोहिणिं पस्सिदूणं, के वि उप्पालीअ देवकण्णा य।
जक्खिणीय विज्जाहर-कुमारी गंधव्व-कण्णा दु॥90॥

372. के वि उव्वसी रंभा, तिलोत्तमा य णीलंजसा आदी।
दिक्ककण्णा इंदाणी, सची उदाहु चक्कि-पुत्ती य॥91॥

373. देंता परिचय-मित्थं, कहीअ इमो मेहपुरस्स राओ।
हेमरहो विक्खादो, परक्कमी तह सच्चवायी॥92॥

374. तिलगणयरस्स राओ, तिलगो तिलगोव्व सव्वमणुस्सेसु।
बंग-कलिंग-सोरट्ठ-विदब्भ-अवंति-मालवाणं॥93॥

375. पोयणपुर-इंदपत्थ-कासि-वच्छ-कच्छ-महाकच्छाणं।
चेदि-चंदणयर-सूर-पुरिच्चाइ-देसाण णिवाण॥94॥

376. परिचयं दु दाएज्जा, ताणं वइसिट्ठं वोच्छमाणा य।
पुण भावं रोहिणीइ, बोहिदूणं चरीअ अग्गे॥95॥(चउक्कं)

377. इमो सेट्ठ रायसुदो, कुरुजंगलदेसस्स पडिरुवंसी।
हत्थिणायपुरी पुण्ण-भूमी सुप्पसिद्धा लोए॥96॥

378. भूवदि-वीदसोगस्स, विज्जुदपहा पाणवल्लहा तस्स।
सोगहीण-सुदो ताण, असोगो सेट्ठो सज्जणेसु॥97॥(जुम्मं)

आनंद से युक्त ताम्रवर्णी लहंगे (परिधान) को पहनकर चंद्रमा की प्रभा को पराजित करती हुई वह रोहिणी मदनावली के समान आगे बढ़ रही थी।।87।। मृगनयनी राजकुमारी काँपते हुए लाल कमल के समान ओठों से युक्त थी। वह मर्यादा की देवी के समान ही थी। उस समय वह ऐसी लग रही थी जैसे मानो कामदेव को तृप्त करने के लिए साक्षात् रति ही हो।।88।। वहाँ सुमंगला धाय माँ ने सभी विराजित राजाओं का उचित परिचय दिया तथापि वह रोहिणी किसी में किंचित् भी रंजायमान नहीं हुई।।89।। रोहिणी को देखकर कई लोग तो ऐसा कह रहे थे कि ये देव कन्या है, कई कह रहे थे कि यह यक्षिणी है, कई कह रहे थे कि ये विद्याधर कुमारी है और कई कह रहे थे कि यह गंधर्व कन्या है।।90।। कई जन कह रहे थे कि यह उर्वशी, रंभा, तिलोत्तमा, नीलंद्यशा आदि है। कई जन कह रहे थे कि ये दिक्कन्या, इंद्राणी शची अथवा चक्रवर्ती की पुत्री है।।91।। धाय माँ इस प्रकार राजाओं-राजकुमारों का परिचय देती हुई कह रही थी कि अहो राजकुमारी! यह मेघपुर के विख्यात राजा हेमरथ हैं, जो पराक्रमी व सत्यवादी हैं, पुत्री! यह तिलक नगर के राजा तिलक हैं जो सभी मनुष्यों में तिलक के समान हैं। इस प्रकार धाय माँ ने बंग देश, कलिंग देश, सौराष्ट्र देश, विदर्भ देश, अवंति देश, मालव देश, पोदनपुर, इंद्रप्रस्थ, काशी देश, वत्स देश, कच्छ देश, महाकच्छ देश, चेदि देश, चंद्रनगर, शौर्यपुर आदि देशों के राजाओं का परिचय दिया। उनके वैशिष्ट्य को कहती हुई पुनः रोहिणी के भाव को समझकर वह आगे बढ़ती गई।।92-95।। अहो! ये कुरुजांगल देश के श्रेष्ठ राजा के रमणीय पुत्र हैं। लोक में हस्तिनागपुर नामक पुण्य भूमि सुप्रसिद्ध है। वहाँ के राजा वीतशोक हैं एवं उनकी विद्युत्प्रभा नामक वल्लभा है। उनके सज्जनों में श्रेष्ठ, शोक से रहित यह अशोक नामक पुत्र है।।96-97।।

379. झसचिंधयोव्व दु महापुण्णफलजुदो कुमारो असोगो।
सायरोव्व गंभीरो, रणंगणे जमोव्व सत्तूण॥98॥

380. सुणिय ताए वयणाणि, हवेज्ज थिरं दिट्ठी रोहिणीए।
उहयाणं णयणादो, णेह-पेम्मं तदा वरिसीअ॥99॥

381. मत्तंड - दंसणेणं, विहसंते सरसिरुहाइ - पुप्फाणि।
ताए चित्तंबुजं दु, विअसीअ तह परमणंदेण॥100॥

382. पुव्वभवसक्कारेहि, असोगं पडि आगिट्ठा पीदीइ।
मणोभावं विसुद्धं, किच्चा मालं परिहावीअ॥101॥

383. रोहिणी तह असोगो, वड्ढीअ परोप्परे सोह-मुहयो।
अंबुजसरोव्व सुवण्ण-रयणं व तह चंद-रत्तीव॥102॥

384. थीए भाल-तिलगं व, कर-रत्तगब्भोव्व पद-णेउरं व।
जुवदि-भूसणंवतहा,तित्थयर-समवसरणोव्वचिय॥103॥

385. तदा सहीहि कुव्विदा, पुप्फविट्टी उहयम्मि णंदिदूण॥
आणंदो णिस्सद्दो, अभिज्झिय-वत्थु-संपत्तीव॥104॥

386. अइ-हरिसिदो असोगो, विज्जासिद्धीए विज्जाहरोव्व।
अक्कुदयेण पउमं व, सुमेहवरिसाए भूमीव॥105॥

387. जदा रोहिणीए पण - वण्णजुदमणोहरपुप्फमालाइ।
असोगो सुअलंकिदो, तदा कइवय-राया कुद्धा॥106॥

महापुण्य के फल से युक्त कामदेव के समान यह राजकुमार अशोक सागर के समान गंभीर एवं युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के लिए यम के समान है।।98।। धाय माँ के वचनों को सुनकर रोहिणी की दृष्टि अशोक की ओर स्थिर हो गयी। तब दोनों के ही नयनों से स्नेह व प्रेम की वर्षा हो रही थी।।99।। जैसे सूर्य के दर्शन से कमलादि के पुष्प विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार अशोक के दर्शन से उस रोहिणी का हृदय कमल भी परमानंद से विकसित हो गया था।।100।। पूर्वभव के संस्कारों के कारण वह अशोक के प्रति प्रीतिपूर्वक आकृष्ट हुई पुनः अपने मनोभावों को विशुद्ध करके उसने राजकुमार अशोक को वरमाला पहनायी।।101।। रोहिणी व अशोक परस्पर एक दूसरे की शोभा को उसी प्रकार वृद्धिंगत कर रहे थे जैसे कमल से जलाशय की और जलाशय से कमल की शोभा वृद्धिंगत होती है, जैसे स्वर्ण से रत्न की और रत्न से स्वर्ण की शोभा वृद्धिंगत होती है तथा जैसे चंद्रमा से उसकी चाँदनी की एवं चाँदनी से उस चंद्र की शोभा वृद्धिंगत होती है।।102।। वे दोनों इस प्रकार एक-दूसरे की शोभा बढ़ा रहे थे जैसे स्त्री के भाल की शोभा तिलक से व तिलक की शोभा स्त्री के भाल से वृद्धिंगत होती है, जैसे हाथों से मेहंदी की व मेहंदी की शोभा हाथों से वृद्धिंगत होती है। जैसे पैरों की शोभा पायल से व पायल की शोभा पैरों से वृद्धिंगत होती है, जैसे युवति की शोभा आभूषणों से व आभूषणों की शोभा युवति से वृद्धिंगत होती है। जैसे तीर्थंकर की शोभा समवसरण से और समवसरण की शोभा तीर्थंकर से वृद्धिंगत होती है।।103।। उस समय सखियों ने आनंदित होकर उन दोनों पर पुष्पवृष्टि की। दोनों का आनंद निःशब्द था जैसे उन्हें वांछित वस्तु की प्राप्ति हो गई हो।।104।। रोहिणी को प्राप्त कर अशोक उस प्रकार अति हर्षित था जैसे विद्या की सिद्धि से विद्याधर, सूर्योदय से कमल व मेघ वर्षा से धरती हर्षित होती है।।105।। जब रोहिणी ने पंचवर्ण युक्त मनोहर पुष्पमाला से राजकुमार अशोक को अलंकृत किया तब कई राजा क्रोधित हो गए।।106।।

388. उट्ठित्ता पकुप्पंत-रायेणं परिणयं पस्सिदूणं।
भणिदं भो णिवो किं, अवमाणस्स आमंतिदं दु॥107॥

389. तस्स वयणं सुणिच्चा, अण्णा राया रायकुमारा अवि।
कुद्धा तह उत्तेइदा, विम्हरित्तु सयंवर-णीदिं॥108॥

390. विहवसंपण्णरायो, मगध-देसस्स विक्कंतो भणदे।
अहंकारेण सोहदि, गिद्धेणं सह हंसिणी किं॥109॥

391. सोहदि ण राहुणा सह, रोहिणी मेत्तं विमलचंदेणं।
रे कुमारो रोहिणिं, छड्डित्तु पलायेज्ज सिग्घं॥110॥

392. तुमं जाणित्तु बालं, खमामो वयं चिय तव अवराहं।
गच्छ गच्छ रे बालो, तुमं सगपाणरक्खाए हु॥111॥

393. असिं गहंतो कहदे, रे णिवो! सेणावदि-आसुरत्तो।
णोखमा-जोग्गोतुमं,जम-गिहंचियपहुच्चावेमि॥112॥

394. तदा असोगो भणदे, भो सेणावदी धारेज्ज धीरं।
वेधव्वं ण कंखेमि, अहं अस्स महाराणीए॥113॥

395. णो इच्छुगो पस्सिदुं, अणाहा चिअ एदस्स संताणा।
मगधेसो पडिमंतदि, भो विसपिंडो सोगसिंधू॥114॥

396. उइद-दंडं दायेमि, तुज्झं तप्परो रे मुहलो! तस्स।
णेव अणट्ठं जप्पदि, आगच्छ पहारेज्जा दु जदि॥115॥

397. तुमं सत्तिजुत्तो मम,अत्थं चिअ पडिसाहिज्जदि अहुणा।
असोगेण कहिदं पुण, सेणावदिं पडि इंगिदं दु॥116॥

398. कुव्वंतो महासयो, अणावस्सग-वाहिणी-हणणं हं।
णेवकंखेमितम्हा,सयमेवदंडेमिएदंदु॥117॥(पंचगं)

399. दप्पजुत्तेगागिणा, घोरसंगामो पारंभो तदा।
परोप्परम्मि सम्मुहो, सत्थत्थसुसज्जिदा उहया॥118॥

उस परिणय को देखकर खड़े हो गुस्सा करते हुए एक राजा ने कहा हे राजन्! क्या हमारे अपमान के लिए हमें यहाँ आमंत्रित किया गया है?।।107।। उस राजा के वचन सुनकर अन्य राजकुमार भी स्वयंवर नीति को भूलकर क्रोधित व उत्तेजित हो गए।।108।। तब मगध देश का वैभव संपन्न पराक्रमी राजा अहंकार से भरकर कहता है अरे! गृद्ध पक्षी के साथ क्या हंसिनी शोभा को प्राप्त होती है।।109।। यह रोहिणी राहु के साथ नहीं मात्र निर्मल चंद्रमा के साथ शोभा को प्राप्त होती है अतः रे कुमार! तुम शीघ्र ही रोहिणी को छोड़कर यहाँ से भाग जाओ।।110।। तुम्हें बालक जानकर हम तुम्हारे अपराधों को क्षमा करते हैं। रे बालक! अपने प्राणों की रक्षा के लिए तुम यहाँ से जाओ, जाओ।।111।। अशोक के प्रति यह सुनकर अतिक्रोधित सेनापति हाथ में तलवार लिए कहता है रे नृप! तुम क्षमा के योग्य नहीं हो, मैं अभी तुम्हें यम के द्वार पहुँचा देता हूँ।।112।। तब अशोक कहते हैं, हे सेनापति! धैर्य धारण कीजिए मैं इसकी महारानी का वैधव्य नहीं चाहता और इसकी संतानों को भी मैं अनाथ देखने का इच्छुक नहीं हूँ। यह सुनकर वह मगधेश उत्तर देता है अहो! विषपिंड, शोक के सागर मैं तुझे उचित दंड देता हूँ। रे वाचाल! उस दंड के लिए तैयार हो जाओ। अरे व्यर्थ की बातें मत करो। यदि तुम शक्ति से युक्त हो तो अब मेरे अस्त्र को उत्तर दो। राजकुमार अशोक ने पुनः सेनापति की ओर इशारा करते हुऐ हुए कहा–महाशय! मैं सेना का अनावश्यक विनाश नहीं चाहता अतएव मैं स्वयं ही इसे दंड दूँगा।।113-117।। जिन्हें अपने पराक्रम पर गर्व था ऐसे उन दोनों राजाओं ने अकेले ही घोर संग्राम शुरू कर दिया। शस्त्र व अस्त्र से सुसज्जित वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के सम्मुख हुए।।118।।

400. रहट्ठिदासोगेणं, खिविदो सरो हु णस्सेदुं सट्ठं।
सरासरिं पारंभो, अइतिव्ववेगवरिसो व्व चिअ॥119॥

401. धणुटंकारेण तदा, सव्वदिसा कंविदा भयंकरेण।
उप्पण्ण-फुलिंगासर-आघादेणअग्गि-वरिसाव॥120॥

402. फुक्कंता-सराण अवि, गदी अहिया तदा पवणवेगादु।
गगणमज्झभागो दु, संछण्णोव्व सरपंजरम्मि॥121॥

403. अस्स दु अण्णायि-राय-सहायं जमालयं पहुच्चावमि।
आगदा अण्णराया, पस्सिय कहिदं असोगेण॥122॥

404. तिक्खसरपहारेणं, अण्णोण्ण-केदू खंडिदा सिग्घं।
मगहेस-किरीडं अवि, पाडिदं दु अद्धचंदेणं॥123॥

405. सिग्घागद-रायेणं, जावदु पाडिदं असोग-छत्तं हु।
तावदु तेण खंडिदो, मगहेसस्स चावो सरेण॥124॥

406. धणुविज्जाविसारदं, तं जयिदुं णो संभवो सरेहिं।
वियारित्तु मगहेसो, असिणा सह कुद्दीअ रहादु॥125॥

407. तम्मि वि णिप्फलो वरं, तदा तेणं किद-कुंतपहारो वि।
णिरुंभिदो असोगेण, णियगदाइ अण्णपहारो वि॥126॥

408. परसण्णिदि-बंधिदो हु, अइकुविद मगहेसो असोगेणं।
संखदिव्वज्झुणिणा दु, अजोग-जयो घोसिदो तत्थ॥127॥

409. आयासेण कुव्विदा, पुप्फविट्टी सुर-सुरंगणाहिं च।
हरिसिदा हु मघवादी, सव्वा हु चिंतामुत्ता अवि॥128॥

410. जह पराइदो जोद्धो, उदासमणेण णिरिणासदि गेहं।
सयंवरादो सव्वा, मिलाणमुहेण तह वग्गीअ॥129॥

411. णिमित्तणाणिणा कहिद-उत्तम-मुहुत्ते विवाह-ववत्था।
समारिदा पवरेणं, उच्छाहेणं पल्हायेण॥130॥

रथ पर स्थित अशोक ने उसकी दुष्टता को नष्ट करने के लिए एक बाण चलाया। अति तीव्र वर्षा के समान बाणों का युद्ध प्रारंभ हो गया।।119।। तब भयंकर धनुष टंकार से सर्वदिशाएँ कंपायमान हो गईं। उस समय बाणों की टक्कर से अग्नि के कण ऐसे उत्पन्न हो रहे थे जैसे अग्नि की वर्षा ही हो रही हो।।120।। तब फूँ-फूँ करते हुए बाणों की गति वायु के वेग से भी अधिक प्रतीत हो रही थी। आकाश का मध्यभाग ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे वह बाणों के पिंजरे में ही बंद कर दिया गया हो अर्थात् आकाश में बाण ही बाण दिख रहे थे।।121।। तब बीच में अन्य राजाओं को आता हुआ देखकर अशोक ने कहा कि इस अन्यायी राजा की जो सहायता करेगा मैं उसे यमलोक पहुँचा दूँगा।।122।। तब बाण के तीक्ष्ण प्रहार से दोनों ने शीघ्र ही एक-दूसरे की ध्वजा खंडित कर दी। राजकुमार ने अर्द्धचंद्राकार बाण से मगध के राजा का मुकुट गिरा दिया।।123।। शीघ्रता से आते हुए राजा ने जब तक अशोक का छत्र गिराया तब तक उस अशोक ने मगध नरेश का धनुष अपने बाण से खंडित कर दिया।।124।। यह तो धनुर्विद्या में प्रवीण है, इसको बाणों के द्वारा जीतना संभव नहीं है यह विचार कर मगधेश तलवार के साथ रथ से कूद गया।।125।। किन्तु उसमें भी वह निष्फल रहा। तब उसके द्वारा किया गया भाले का प्रहार व अन्य प्रहार भी अशोक ने अपने गदा से रोक दिए।।126।। देखते ही देखते अशोक ने अति क्रोधित मगधेश को बंधनबद्ध कर लिया। तब वहाँ शंख की दिव्यध्वनि से राजकुमार अशोक की विजय की घोषणा की गई।।127।। आकाश से देव-देवांगनाओं ने पुष्पवृष्टि भी की। राजा मघवा आदि सभी लोग हर्षित व चिंतामुक्त हुए।।128।। जिस प्रकार एक पराजित योद्धा उदास मन से अपने घर जाता है उसी प्रकार अन्य सभी राजा व राजकुमार म्लान मुख से स्वयंवर से चले गए।।129। पुनः निमित्तज्ञानी ने जो उत्तम मुहूर्त बताया था उस दिन से विवाह की व्यवस्थाएँ श्रेष्ठ उत्साह व आनंद के साथ प्रारंभ कर दी गयीं।।130।।

412. ताणरासीइ चंदो, णो चदुत्थो अट्ठमो बारसमो।
उदयो गुरुसुक्काणं, सगेहे उच्चा मित्तगही॥131॥

413. सव्वा सुहट्ठाणेसु, सव्वसुहफलदायगा मंगल्ला।
छट्ठमट्ठम - बारसम - ठाणाइं सव्वरित्ताइं॥132॥

414. ताणणोजम्म-मासो,सुहमास-वार-तिहि-णक्खत्तेसुय।
सुह-लग्ग-चउघडियासु,सुहजोगेविवाह-दिवसम्मि॥133॥

415. अइ-उच्छाहविहवेण,करावितोपाणिगहण-सक्कारो।
जिणाहिसेगंचअट्ठ-दव्वेहि-अच्चणंतद्दिणे॥134॥(चउक्कं)

416. आयामिदा बहुविहव-संपत्ती रायेण सगसत्तीइ।
असोग-णिवकुमारस्स,अणेग-रह-पदाइ-सेवगा॥135॥

417. दिग्घयालंतं तत्थ, ठाएज्ज दंपइ-सुहं भोयंता।
ण जाणीअ गदयालं, सोहम्मिंदोव्व सचीव तह॥136॥

पृथ्वी छंद

418. सुहेण बहुगच्छमाणसमयं विआणेदि णो,
कुकम्मउदयम्मि कच्छवगदीव तं बोलदे।
सुहम्मि गरुडस्स तं अवहरित्तु पावं सया,
णरो सयल-मिच्छदे सुहफलं सुपुण्णं कुरु॥137॥

419. विहूदि-सुह-संति-धण्ण-विउलं समिद्धी तहा,
रमा य सुहसंददी सुवयणं कुडुंबीजणा।
गुणा सुजणसंगदी य वरजेण्हधम्मो कला,
इमाणि सुफलाणि तं कुणसु पुण्णकज्जं सया॥138॥

जब चंद्रमा उनकी राशि का, चौथा, आठवाँ व बारहवाँ नहीं था, जब गुरु व शुक्र का उदय था एवं वे उच्चग्रही या मित्रग्रही थे, जब सब ग्रह शुभ स्थानों पर स्थित थे, वे सभी शुभफलदायक व मंगलकारी थे। कुंडली में छठवाँ, आठवाँ व बारहवाँ भाव रिक्त था, उस समय उन भावों में कोई ग्रह नहीं थे, वर-वधु के जन्म का महीना भी नहीं था। शुभ मास, शुभ वार, शुभ तिथि व शुभ नक्षत्र में विवाह के दिन, शुभ लग्न, चौघड़िया, शुभयोग में अति उत्साह व वैभव से पाणि ाग्रहण संस्कार कराया। उस दिन उन्होंने जिनाभिषेक व अष्ट द्रव्यों से जिनार्चना भी की।।131-134।। राजा मघवा ने राजकुमार अशोक के लिए अपनी शक्ति के अनुसार बहुत सा वैभव, संपत्ति, अनेक रथ, पदाति व सेवक दिए।।135।। वहाँ दीर्घकाल तक सौधर्म इंद्र व शचि इंद्राणी के समान दाम्पत्य सुख को भोगते हुए कितना समय बीत गया वह उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ।।136।। सही है सुख से बीता हुआ बहुत समय भी ज्ञात नहीं होता। पाप कर्म के उदय में समय कछुए की गति के समान धीरे-धीरे व्यतीत होता है और शुभ पुण्य कर्म के उदय में समय गरुड़ की गति के समान शीघ्रता से व्यतीत हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य संपूर्ण पुण्य फल की आकांक्षा करता है अतः पापों का त्याग कर सदैव पुण्य करो।।137।। प्रचुर विभूति, सुख, शांति, धान्य, समृद्धि, अच्छी स्त्री, अच्छी संतति, मिष्ट वचन, परिवारजन, गुण, सज्जनों की संगति, उत्कृष्ट जैन धर्म एवं सुकलाओं की प्राप्ति ये सभी पुण्य के फल हैं अतः सदा पुण्यकार्य करो।।138।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में रोहिणी की उत्पत्ति व उसके स्वयंवर का वर्णन करने वाला तृतीय नंद पूर्ण हुआ।

चदुत्थ-णंदो

420. कुरुजंगलदेसादो, पाउणिदो एयदा समायारो।
वीदसोग-भूवदिस्स, रायकुमार-असोगेणं दु॥1॥

421. अइविआउल-असोगो, आयण्णिदूणं पिदु-समायारं।
पच्छंदिदुं सदेसं, सुमरंतो तदा सग-पिदरं॥2॥(जुम्मं)

422. मघवाराय-समच्छे, णियकंखा पागडिदा असोगेण।
तदा उदारचित्तेण, पेसिदा ता किंचिवि दुहेण॥3॥

423. मादूइ तदायाले, कदिवय-सिक्खा दायिदा पुत्तीइ।
ताए वरभविस्सस्स, सज्जणाण सहावो जम्हा॥4॥

424. कहिदमित्थं सुपुत्ती!, सीलवंता उहयकुलदीविगा य।
सेट्ठा कुलीण-कण्णा, धम्मवड्ढगा विणय-सरला॥5॥

425. ससुरस्स जणगोव्व सस्सूए मादू व्व जेट्ठ-देवराण।
अग्गओव्व अणुओव्व य, णणंदाए तहा बहिणीव॥6॥

426. देज्ज आयरं णेहं, सव्वं पडि करेज्ज मिदु-ववहारं।
सविणय-वत्तंसयाहि, सहजलक्खणंकुलंगणाइ॥7॥(जुम्मं)

427. णिरहंकार-पवित्ती, समवयंसं पडि य वच्छलभावो।
गुणवड्ढणस्स ताणं, दोसाणुवेक्खा अवि कयाइ॥8॥

428. जयिदुं णिय-पदि-हिअयं, समत्था आणाणुअत्तया होज्ज।
मणोणुऊल-पवित्ती, सय णिरहंकारि-भासणं च॥9॥

429. तस्स हिदयर-पिय-कडुअ-वयणाइं वि गहेज्ज सुमणेण।
भारदीय-सक्किदीइ, पदि-पुज्जो सव्वदा जम्हा॥10॥

430. देज्ज दोसं ण कस्स वि, जाणंताजाणंत-किद-तुडीए।
असुह-णिमित्तेमिलणे, णेवकरेज्जकुमणंकयावि॥11॥(जुम्मं)

एक बार राजकुमार अशोक ने कुरुजांगल देश से राजा वीतशोक का समाचार प्राप्त किया। पिता के समाचार को सुनकर वह अशोक अपने माता-पिता को याद करता हुआ अपने देश जाने के लिए अतिव्याकुल हुआ।।1-2।। राजकुमार अशोक ने राजा मघवा के सामने देश लौटने व अपने माता-पिता से मिलने की इच्छा प्रकट की। तब राजा मघवा ने उदार चित्त से एवं किंचित् दुःख के साथ अशोक व रोहिणी को विदा किया।।3।। उस समय माँ ने अपनी पुत्री के उत्तम भविष्य के लिए कुछ शिक्षाएँ दीं क्योंकि सज्जनों का यह स्वभाव है।।4।। माँ ने इस प्रकार कहा हे सुपुत्री! श्रेष्ठ व कुलीन घर की कन्याएँ शीलवान्, दोनों कुलों को प्रकाशित करने वाली दीपिका, धर्म-वर्द्धका, विनम्र और सरल होती हैं।।5।। हे पुत्री! ससुर को पिता तुल्य, सासु माँ को माता तुल्य, ज्येष्ठ को बड़े भाई के समान, देवर को छोटे भाई के समान और ननद को बहन के समान सदैव आदर और स्नेह देना। सभी के प्रति मृदु व्यवहार करना एवं विनयपूर्वक वार्तालाप करना ये कुलांगना के सहज लक्षण हैं।।6-7।।अपने समान आयु वालों के प्रति अहंकार से रहित प्रवृत्ति करना। उनके गुणों के वर्धन के लिए कदाचित् उनके दोषों की उपेक्षा भी करना।।8।। अपने पति के हृदय को जीतने में समर्थ होना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके मनोनुकूल प्रवृत्ति करना एवं सदैव अहंकार से रहित संभाषण करना।।9।। उनके हितकर प्रिय व कटुक वचनों को भी अच्छे मन से स्वीकार करना क्योंकि भारतीय संस्कृति में पति सर्वदा पूज्य ही होते हैं। जाने-अनजाने में हुई गलती का दोष कभी किसी को नहीं देना। अशुभ निमित्त मिलने पर कभी भी मन खराब नहीं करना।।10-11।।

431. महामंतस्स जवं च, पुव्वबद्धपावकम्मणिज्जराइ।
करेज्ज पव्वदिवसेसु, उववासं जहासत्तीए॥12॥

432. पुण्णं वड्ढेज्ज सया, जिणभत्तीए य सुगुरुसेवाए।
तित्थवंदणाए तह, सज्झायेण पत्तदाणेण॥13॥

433. भो मम णेत्ततारिगा! करेज्ज साउज्जं रज्जकज्जेसु।
विणयेण सुबुद्धीए, सया णियपुज्जपदिस्स तुमं॥14॥

434. पयं पडि जदि कयाइं, अइकुविदो दु तव महारायो तो।
तस्स कोहं समित्ता, खमावेज्ज संतचित्तेणं॥15॥

435. धम्मिट्ठ-दुब्बलाणं, असहायाणं होज्ज दयासिंधू।
ममत्तभावेण सया, देज्ज वच्छलं णिय-पयाए॥16॥

436. असोगरायपुत्तस्स, अद्धंगिणीदो अणुभूयंता हु।
तस्स सोक्खं च दुक्खं, सव्वदा रंजेज्ज धम्मम्मि॥17॥

437 मादूइ सिक्खं गहिय, ताइ मण्णिदा सयं पुण्णवंता।
पुण्णंविणाणसक्कदि,गहिदुंसिक्खंपिदर-गुरुण॥18॥

438 अणंतरं असोगेण, चरणं मघवापिदुस्स पणमित्ता।
आपुच्छिदं सकुसलं, अइयादुं विणयुच्छाहेहि॥19॥

439 करिदं सव्व-पबंधण-मुक्कोसेणं रायादेसेणं।
दुहमिस्सिदुच्छाहेण, पेसिदा पुत्ती जामादू॥20॥

440 विउल-धण-धण्ण-साहण-वत्थाभूसणाणिगय-अस्सादी।
देज्ज सुदा-सेवाए, विस्सत्था सेविगा भिच्चा॥21॥

441. हत्थिणायपुरणयरिं, टिविडिक्कीअ बहुरयणमुत्ताहिं।
णवा व अइहरिसेणं, सगपुत्तागमणं सुणित्ता॥22॥

442. अइ-उच्छाहेण सव्व-पयाए णियकुमार-णवोढाणं।
पकुव्विदं सुसागदं, अमरावदीव सुहणयरीइ॥23॥

अहो पुत्री! पूर्वबद्ध पाप कर्मों की निर्जरा के लिए महामंत्र की जाप करना। पर्व के दिनों में अपनी शक्ति के अनुसार उपवास करना।।12।। जिनभक्ति, सुगुरु की सेवा, तीर्थवंदना, स्वाध्याय और पात्रदान के माध्यम से अपने पुण्य को सदैव वृद्धिंगत करना।।13।। अहो मेरी आँखों की तारिका! तुम सदैव विनय पूर्वक समीचीन बुद्धि से अपने पति का राजकार्यों में सहयोग करना।।14।। अहो पुत्री! यदि कदाचित् आपके महाराज प्रजा के प्रति अति कुपित हो जाएँ तो उनके क्रोध को शांत कर, शांत चित्त से प्रजा को क्षमा कराना।।15।। धर्मात्मा, दुर्बल व असहाय जनों के लिए दया का सिंधु बनना। ममत्वभाव से अपनी प्रजा के लिए सदैव वात्सल्य प्रदान करना।।16।। राजकुमार अशोक की अर्द्धांगिनी होने से सदैव उनके सुख व दु:ख का अनुभव करती हुई उन्हें धर्म में अनुरक्त करना।।17।। इस प्रकार माता से शिक्षा ग्रहण कर उस रोहिणी ने स्वयं को पुण्यवती माना। उचित ही है पुण्य के बिना माता, पिता व गुरु की शिक्षा ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता।।18।। अनंतर अशोक ने पिता मघवा के चरणों में प्रणाम कर विनय व उत्साहपूर्वक सकुशल अपने देश जाने की आज्ञा प्राप्त की।।19।। राजा मघवा के आदेश से उत्कृष्टता से उनके जाने का सभी प्रबंध कर दिया गया था। दु:ख मिश्रित उत्साह से उन्होंने अपनी पुत्री व दामाद को विदा किया।।20।। राजा ने विपुल धन, धान्य, साधन, वस्त्र, आभूषण, हाथी, घोड़े आदि प्रदान किए एवं अपनी पुत्री की सेवा हेतु विश्वस्त दास-दासी भी प्रदान किए।।21।। अपने पुत्र के आगमन को सुनकर राजा वीतशोक के आदेश से हस्तिनापुर नगरी को अतिहर्ष के साथ बहु रत्न व मोतियों द्वारा नई दुल्हन की तरह मंडित किया गया।।22।। उस समय अमरावती के समान शोभायमान उस शुभ नगरी में सभी प्रजाजनों ने अपने राजकुमार व नव वधू का अति उत्साह के साथ स्वागत किया।।23।।

443. पडिदिणे पक्खुब्भीअ, धण-धण्ण-समिद्धी सुहं संतीय।
कलादी तम्मि रज्जे, मिअंगोव्व दु सुक्कपक्खस्स॥24॥

444. णंदीसरम्मि कत्तिय-फग्गुणासाढाण अट्ठ दिवसा व्व।
हणिंहणिं भासीअ दु, सुहवसंदमहुच्छवो तत्थ॥25॥

445. कल्लाकल्लिं करीअ, णरणारी जिणपूयं भत्तीए।
जिणं पडि आगासिया, संपाइमोव्व किंजक्कम्मि॥26॥

446. सगसत्तीए सावय-साविया पालीअ चिय णिट्ठाए।
सीलवदं उववासं, अण्णणियमं वि कल्लाणाय॥27॥

447. सहसत्ति एगदिवसे, धम्मणयरि-हत्थिणायपुरि-णियडे।
णंदणविविणसमीवे, आहम्मीअ मुणि-इड्ढि जुदो॥28॥

448. तस्स गुरु-णिग्गंथस्स, ओहिणाणिणो चिअ सुहदंसणाय।
सगरज्जे रायेणं, उग्घोसिदं अइहरिसेणं॥29॥

449. रायपरिसदेणं सह, राओ गच्छेज्ज पाविदुं धम्मं।
पुण्णवंताविसव्वा, चरेज्ज चियपुण्णकज्जत्थं॥30॥(जुम्मं)

450. णत्ते सम्माइट्ठी, सव्वा अइ-विआउला दंसणाय।
वरं मिच्छाइट्ठीहि, बोहिदा बाहा रायाणा॥31॥

451. जिण-मुणीणदंसणाय, होज्जा उच्छुगा जिण-महुच्छवस्स।
सम्माइट्ठी जीवा, विवरीया दु मिच्छाइट्ठी॥32॥

452. घोसणाणुसारेणं, रायो रायकुडुंबं णागरिआ।
भत्तीइ अणुवज्जीअ, सिरिणिग्गंथ-मुणिदंसणाय॥33॥

453. तत्थ पहुच्चिदूणं दु, गुणरायेण पदक्खिणिदं णिवेण।
णिग्गंथ-थुदिं किच्चा, णुमज्जीअ पुण गुरुपदेसुं॥34॥

454. तिसिद-कपिंजलोव्व चिय, धम्मामियं आवज्जिदुं तेणं।
णिण्णिमेसेणं तदा, अवअक्खिदो गुरु-णिग्गंथो॥35॥

उस राज्य में प्रतिदिन धन, धान्य, समृद्धि, सुख व शांति उसी प्रकार वृद्धिंगत हो रही थी जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चंद्रमा वृद्धि को प्राप्त होता है।।24।। वहाँ की शोभा को देखकर प्रतिदिन ऐसा प्रतिभासित होता था जैसे नंदीश्वर द्वीप में कार्तिक, फाल्गुन व आषाढ़ की अष्टाह्निका ही हो अथवा शुभ बसंत महोत्सव ही हो।।25।। नर व नारी प्रतिदिन भक्तिपूर्वक जिनेंद्र प्रभु की अर्चना-पूजन करते थे। वहाँ के श्रावक जिनेंद्र प्रभु के प्रति उसी प्रकार आकर्षित होते थे जिस प्रकार पराग पर भ्रमर आकर्षित होता है।।26।। सर्व श्रावक-श्राविका निष्ठापूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार निज कल्याण के लिए शीलव्रत, उपवास व अन्य नियमों का भी पालन करते थे।।27।। अचानक एक दिन धर्मनगरी हस्तिनागपुर के निकट नंदन वन के समीप ऋद्धिधारी मुनिराज पधारे।।28।। उन अवधिज्ञानी, निर्ग्रंथ मुनिराज का आगमन सुनकर राजा ने अति हर्षपूर्वक अपने राज्य में घोषणा करायी कि धर्म की प्राप्ति के लिए राजपरिषद् के साथ राजा मुनिदर्शन हेतु जाएंगे। सभी पुण्यवान् जीव भी पुण्य कार्य के लिए चलेंगे।।29-30।। उस रात्रि में सभी सम्यग्दृष्टि जीव मुनि दर्शन के लिए अति व्याकुल थे जबकि मिथ्यादृष्टियों ने राजा की आज्ञा को बाधा समझा।।31।। सम्यग्दृष्टि जीव ही जिनेंद्र प्रभु व मुनियों के दर्शन एवं जिन महोत्सव हेतु उत्सुक होते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव तो विपरीत अर्थात् अनुत्सुक होते हैं।।32।। पुनः घोषणा के अनुसार राजा, राजपरिवार, नागरिक भक्तिपूर्वक श्री निर्ग्रन्थ मुनिवर के दर्शन के लिए गए।।33।। वहाँ पहुँचकर राजा ने श्री गुरु के गुणानुराग से उनकी प्रदक्षिणा की। पुनः निर्ग्रंथ गुरु की स्तुति कर उन गुरु के चरणों में ही बैठ गया।।34।। तब धर्मामृत को प्राप्त करने के लिए राजा वीतशोक प्यासे चातक के समान निर्निमेष दृष्टि से उन निर्ग्रन्थ गुरु को निरखने लगा।।35।।

455. पुणो धम्मुवएसस्स, णियप्पं तिप्पेदुं दु विण्णविदं।
रायेणं भत्तीए, बद्धकरेहि विणयभावेण॥36॥

456. रायस्स धम्मभावं, पस्सिय विप्पसीअंतेण मुणिणा।
पच्चाहरिदं दु सव्व-भव्वाण कल्लाणाय तदा॥37॥

457. धम्मो दुविहो णेयो, समण-सावगाण धम्मभेयादो।
महव्वय-रूवपढमो, अणुव्वयरूवो सावगाण॥38॥

458. णवरि तादो भवादो, णिव्वाण-कारणं समण-धम्मो वि।
सावय-धम्मो सया हि, परंपराए सिवहेदू य॥39॥

459. समणाण सावयाण य, जाणेज्ज अहिंसा धम्ममूलो दु।
तम्हा सव्वजीवा हु, रक्खेज्ज सव्वपयारेणं॥40॥

460. आमुहंते समणा दु, हिंसं चिय छण्णिकायजीवाणं।
तियजोगेहि सावया, उस्सिक्केज्ज तस-जीवाणं॥41॥

461. सच्चं अचोरियं सगदार-संतोसं संगपरिमाणं।
भासिदं सावयाणं, पणणुव्वदं अहिंसाजुदं॥42॥

462. अहिंसा सच्चं अचोरियं बंभचेरं अपरिग्गहं च।
भासिदं समणाणंच, पंचमहव्वदं सिवपयस्स॥43॥(जुम्मं)

463. धम्मुवएसं दायिय, माणुस-पज्जायस्स दुल्लहत्तं।
बोहीअ दु करुणाए, सव्वजीवाण कल्लाणाय॥44॥

464. लवणसायरस्स उहय - तडेसुं पडंत - जूअ - सेलाणं।
संजोग-सुलहो तहवि, किण्णुणो माणुस-पज्जाओ॥45॥

465. एगरायपुत्तेणं, उप्पालिदं एयदा भो जणगो!।
तुज्झ वुड्ढावत्था दु, अहुणा मज्झं देज्ज रज्जं॥46॥

466. कहिदं रायेण तदा, भो सुदो! जदि पराजिणिदुं सक्को।
तुमं जूअ-केलीए, तो देज्ज रज्जं अण्णहा ण॥47॥

पुनः राजा ने दोनों हाथों को जोड़कर विनयभाव से भक्तिपूर्वक निजात्मा को तृप्त करने के लिए धर्म का उपदेश देने हेतु मुनिराज से प्रार्थना की।।36।। तब राजा के धर्म भाव को देखकर मुनिराज ने प्रसन्न होते हुए सभी भव्यों के कल्याण के लिए उपदेश दिया।।37।। श्रमणधर्म व श्रावकधर्म के भेद से धर्म दो प्रकार का जानना चाहिए। महाव्रत रूप प्रथम श्रमणों का धर्म है एवं अणुव्रत रूप श्रावकों का धर्म है।।38।। विशेषता यह है कि श्रमण धर्म उसी भव से भी निर्वाण का कारण है तथा श्रावक धर्म सदा ही परंपरा से मोक्ष का कारण है।।39।। श्रमण व श्रावकों के धर्म का मूल अहिंसा जानना चाहिए इसलिए सर्व प्रकार से सब जीवों की रक्षा करनी चाहिए।।40।। श्रमण तीनों योगों से छः निकाय के जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं और श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं।।41।। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार संतोष और परिग्रह परिमाण ये श्रावकों के पाँच अणुव्रत कहे गए हैं तथा मोक्ष पद के लिए श्रमणों के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत कहे गए हैं।।42-43।। मुनिराज ने धर्मोपदेश देकर करुणापूर्वक सभी जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य पर्याय की दुर्लभता का बोध कराया।।44।। हे राजन्! चार लाख योजन वाले लवण समुद्र के दोनों तटों पर जूआ व सेल अलग-अलग पड़ा हो। पुनः उनका मिलना फिर भी सुलभ है किन्तु मनुष्य पर्याय सुलभ नहीं है।।45।। मुनिराज पुनः दृष्टांत द्वारा समझाते हुए कहते हैं—एक बार एक राजकुमार ने अपने पिता से कहा—हे पिता जी! अब आपकी वृद्धावस्था है, आप यह राज्य मुझे दे दें।।46।। तब राजा ने कहा—हे पुत्र! यदि तुम मुझे द्यूत क्रीड़ा में हराने में समर्थ हो गए तो मैं तुम्हें राज्य दे दूँगा, अन्यथा नहीं।।47।।

467. रायभवणम्मि अस्सिं, अट्ठोत्तर-सहस्स-थंभुत्तुंगा।
उक्किण्णा पत्तेयं, थंभे अट्ठोत्तर-सहस्सा।।48।।

468. रायहंसा दु तेसुं, पत्तेयं गीवाए चिय हारा।
अट्ठोत्तर-सहस्सा हि, पत्तेयं हारम्मि तेसुं।।49।।

469. तावइया मुत्तिगा हि, एगेगं मुत्तिगं च विजयंतो।
हारमेगं जयेज्जा, इगिग-हारं इमेण कमेण।।50।।

470. हार-मिगिगं जयंतो, विजयेज्ज एगेगं रायहंसं।
तंजयंतोयथंभं,कमेणसव्व-थंभाइत्थं।।51।।(चउक्कं)

471. अपराजयंतो तुमं, मज्झे जयसि एगवारं अवि जदि।
तो दायिस्सामि अहं, इदं रज्जं अण्णहा णेव।।52।।

472. रज्जपत्ती दुल्लहा, जदवि रायसुदेण जूअ-केलीइ।
किण्णु इमादु दुल्लहं, सेट्ठ-माणुसभवपावणं च।।53।।

475. अणलेण डज्झिद-सुक्क-काणण-भस्सस्स पुण परमाणूहि।
तस्सविविणुप्पत्तीव,मणुस्स-भवोअइ-दुल्लहोदु।।56।।

481. खणिओसिविणंवहंदि,समागमोकंता-सुदाइ-पियाण।
मोहवसेणं वरयो!, भमदे इह घोरसंसारे।।62।।

476. फिट्टंतफलस्स ताल-रुक्खादो उड्ढंत-काग-मुहम्मि।
पडणं व दु अच्चंतो, दुल्लहो माणुस-पज्जाओ।।57।।

477. सुणिच्चु धम्मुवएसं, पडिच्छिदं अणुव्वदं रायेणं।
सगमहाराणीइ सह, अच्चंतविसुद्धभावेहिं।।58।।

478. अण्णपयाजणेहि जम-णियमा अहिपच्चुइदा सत्तीए।
पुणो पच्चागच्छीअ, उवएसस्स सिलाहंता।।59।।

सुनो, इस राजभवन में एक हजार आठ ऊँचे स्तंभ हैं। प्रत्येक स्तंभ पर एक हजार आठ राजहंस पक्षी उत्कीर्ण हैं। उनमें प्रत्येक राजहंस के गले में एक हजार आठ माला हैं और उनमें से प्रत्येक हार में एकहजार आठ ही मोती हैं। जुए में एक-एक मोती को जीतते हुए एक हार जीतना। क्रम से एक-एक हार को जीतते हुए एक-एक राजहंस पक्षी को जीतना, उन्हें जीतते हुए पुनः एक स्तंभ को जीतना। इसी क्रम से सभी एक हजार आठ स्तंभों को जीतना।।48-51।। यदि बीच में एक बार भी नहीं हारते हुए तुम जीत जाते हो तो मैं तुम्हें यह राज्य दे दूँगा अन्यथा नहीं दूँगा।।52।। अहो राजन्! यद्यपि द्यूतक्रीड़ा में राजकुमार के द्वारा राज्य की प्राप्ति दुर्लभ है किन्तु श्रेष्ठ मनुष्यभव को प्राप्त करना इससे भी दुर्लभ है।।53।। जिस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र में चिंतामणि रत्न के गिरने पर उसे पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्यभव दुर्लभ है।।54।। यद्यपि समुद्र में जल की बूंदों को गिनना फिर भी सुलभ है, ज्योतिष ग्रहों को गिनना सुलभ है किन्तु मनुष्यभव की प्राप्ति अति दुर्लभ है।।55।। जिस प्रकार अग्नि से जले हुए शुष्क वन की भस्म के परमाणुओं से पुनः उस वन की उत्पत्ति अति दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य भव दुर्लभ है।।।56।। जिस प्रकार ताल वृक्ष से फल का गिरना व उसी समय कौए पक्षी का वृक्ष के नीचे से उड़कर जाना एवं फल का उसके मुख में आ जाना अत्यंत दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय दुर्लभ है।।57।। राजा ने धर्मोपदेश सुनकर अत्यंत विशुद्ध भावों से अपनी महारानी के साथ अणुव्रत ग्रहण किए।।58।। अन्य प्रजाजनों ने भी अपनी शक्ति के अनुसार यम व नियमों को ग्रहण किया। पुनः वे सब उपदेश की प्रशंसा करते हुए अपने घरों को लौट गए।।59।।

479. हम्मिए ठिद-णिवेणं, आयासादो उक्का फिट्टंता।
पस्सिदा दु विसयादो, विरज्जिदूणं वियारिदं दु।।60।।

480. पुत्त-मित्तं कलत्तं, रज्जं तहा जोव्वणं धण-धण्णं।
दस्समाणत्थ-सव्वं,णस्सरंदुपडंत-उक्काव्व।।61।।(जुम्मं)

481. खणिओसिविणंवहंदि,समागमोकंता-सुदाइ-पियाण।
मोहवसेणं वरयो!, भमदे इह घोरसंसारे।।62।।

482. ममिदं अहमिद-महवा, पप्पोदि दुहं मिच्छाभंतीए।
अहो! अयं माणुसो दु, भुंजेदि मेरुव्व दुक्खं च।।63।।

483. णरभवमिदमुवकसीअ, कयाइ कागतालिज्जणायेणं।
संसार-विअ-जणा सग-हिदे णेव करेज्ज पमादं।।64।।

484. भव-सरीर-भोयादो, होही विरत्तो णिव-वीदसोगो।
बुद्धीए सप्फलं वि, पविट्टी चिय णियप्पहिदम्मि।।65।।

485. णिवेण समाकारिदो, किदपणामंजली अध णियपुत्तो।
कहिदंराय-रस-हीण-दिट्ठि-संजुद-महारायेण।।66।।

486. जावइय-जरावत्था, मम सरीरं ण जज्जरदि झंझा व्व।
णेत्तदिट्ठी उत्तमा, कुसलं पदं तित्थजत्ताइ।।67।।

487. गंथसवणस्स सत्ती, विज्जमाणा वरा सुमरण-सत्ती।
गंथज्झयणेणिउणो,णेवयपक्खलिद-वाणीमम।।68।।

488. हं तावइय-दियंबर-णिग्गंथ-दिक्खं पगिण्हदूणं दु।
दुहं भुंजंत-मप्पं, मोएज्ज भवादु अणादीदु।।69।।

489. कंखेमि सकल्लाणं, साउज्जं करेज्ज विरोहं णेव।
जंरज्जलच्छीइमा,हेदू भव-परंपराएदु।।70।।(पंचगं)

490. कत्तव्वं पालिदं दु, मए अहुणा सुरज्जपदं गहेसु।
पालहि मज्जादाए, समुद्दपज्जंतं पुढविं च।।71।।

एक दिन राजप्रासाद में स्थित राजा ने आकाश से गिरती हुई उल्का को देखा। जिसे देखकर वह विषयों से विरक्त हुआ और विचारने लगा–पुत्र, मित्र, कलत्र, राज्य, यौवन, धन-धान्य एवं संसार में दिखने वाले सभी पदार्थ उस उल्कापात के समान नश्वर हैं।।60-61।। स्त्रीपुत्रादि प्रियजनों का समागम स्वप्न के समान क्षणिक होता है। बेचारा यह जीव! इस मोह के वशीभूत होकर इस घोर संसार में परिभ्रमण करता है।।62।। यह मेरा है अथवा मैं यह हूँ, इस मिथ्या भ्रान्ति से मनुष्य दु:खों को प्राप्त करता है। अहो! यह मनुष्य मेरु पर्वत के समान दु:खों को भोगता है।।63।। कदाचित् काकतालीय न्याय से यह नर भव प्राप्त किया है इसलिये संसार के जानने वाले लोगों को अपने हित में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।।64।। इस प्रकार राजा वीतशोक संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हुआ। सही ही कहा है बुद्धि का सत्फल निजात्म हित में प्रवृत्ति ही है।।65।। अगले दिन राजा ने अपने पुत्र को बुलाया। वह पुत्र आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। राजा ने राग वा प्रीति के रस से रहित दृष्टि उस पर डाली और कहा–जैसे तीव्र प्रचंड वायु सब कुछ तहस-नहस कर देती है वैसे जब तक यह वृद्धावस्था मेरे शरीर को जर्जर नहीं करती, जब तक नेत्र शक्ति उत्तम है, मेरे पैर तीर्थयात्रा करने के लिए कुशल हैं, जब तक ग्रंथ सुनने की मेरी शक्ति विद्यमान है, जब तक स्मरण शक्ति श्रेष्ठ है, ग्रंथ के अध्ययन में निपुण हूँ। जब तक मेरी वाणी स्खलित नहीं होती तब तक मैं दिगंबर निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर अनादिकाल से दु:ख भोगती हुई आत्मा को संसार से मुक्त कराना चाहता हूँ, मैं अपना कल्याण करना चाहता हूँ। तुम मेरा सहयोग करना, तनिक भी विरोध नहीं करना क्योंकि यह राज्यलक्ष्मी संसार की परंपरा का हेतु है।।66-70।। अभी तक मैंने अपने सभी कर्तव्यों का पालन किया है। अब तुम राज्यपद ग्रहण करो। तुम मर्यादापूर्वक समुद्र पर्यंत पृथ्वी का पालन करना।।71।।

491. वसणादो दूरचरो, करेज्ज अब्भुदयस्स सय पयाए।
सम्मं कज्जं कयाइ, आगदकट्ठं णिवारेज्जा॥72॥

492. गुत्तयरेहिं च पया-कट्ठं अवहरेज्ज जाणिदूणं च।
चारचक्खुं व णिच्चं, जाणेदुं दूरदिट्ठीए॥73॥

493. णीदिविदू वज्जरंति, जणणुराग-लहणं णिज्झणं तेसुं।
विहूदीए चिय मुक्ख-णिब्बंधणं णेव बाहेज्ज॥74॥

494. विवदादो रक्खाए, कुडुंबं वसं च किदण्णत्तेणं।
करेज्ज पालेज्ज सया, कयग्घो आयासदि लोयं॥75॥

495. साम-दाम-दंड-भेय-णीदीहि चिय रज्जसंचालणं च।
करेज्ज णिट्ठाए सड-अंतरंग-सत्तु-विजयी सय॥76॥

496. बुड्ढ-पुरोह-मंतीहि, करेज्ज कज्जं च परामरिसित्ता।
पालेज्ज सव्वसुहस्स, सय दंड-पुरक्कार-णीदिं॥77॥

497. संवुडचित्तविट्ठिं हि, करेज्ज सहिदाय फलाणुमेयाणि।
गूढप्पमंतो च परमंतभेदी पराण अजेयो॥78॥(पंचगं)

498. रज्ज-संचालणं चिय, करंतो हणिहणि धम्मं पालेज्ज।
ओअग्गेज्ज सुकित्तिं, सव्वदिसासुं विदिसासुं च॥79॥

499. इत्थं सिक्खाए सह, दाएज्ज रज्जभारं सुपुत्तस्स।
सुदो अणुऊलविट्ठी, संगच्छिदं अणुरोहेणं॥80॥

500. पुण सव्वं संबोहिय, अणिच्चाइ-भावणा-उवएसेण।
पुच्छिय अध दिक्खाए, सिग्घं चिय तप्परो होज्ज॥81॥

501. विजोग-हरिस-भावेहि, करिदुं धम्मं गहिदो संकप्पो।
सव्वेहि सगसत्तीइ, कयाइ वाउलचित्तेहिं च॥82॥

देखो! व्यसनों से दूर ही रहना, प्रजा के अभ्युदय के लिए समीचीन कार्य करना। यदि कदाचित् कोई कष्ट या आपत्ति प्रजाजनों पर आए तो उसे दूर करना।।72।। गुप्तचरों के माध्यम से प्रजा के कष्ट का पता लगाकर उन्हें दूर करते रहना। दूर दृष्टि से जानने के लिए अर्थात् दूर की स्थिति देखने के लिए गुप्तचरों को ही तुम अपने चक्षु के समान समझना।।73।। नीतिज्ञ कहते हैं कि लोगों से अनुराग करना और उनसे अनुराग प्राप्त करना ही विभूति का कारण है। कभी प्रजाजनों का विरोध नहीं करना। विपदा से रक्षा के लिए अपने परिवार को वश में करना, कृतज्ञता से उनका परिपालन करना। कृतघ्न व्यक्ति समस्त लोक को खिन्न कर देता है। साम, दाम, दंड व भेद नीतियों से निष्ठापूर्वक राज्य संचालन करना एवं राजा के छः अंतरंग शत्रुओं पर सदैव विजय प्राप्त करना। वृद्ध, पुरोहित व मंत्रियों से विचार-विमर्श करके ही कार्य करना। सभी के सुख के लिए सदैव दंड नीति और पुरस्कार नीति का पालन करना। तुम अपने विचारों को सदा गुप्त रखना। जिन कार्यों को तुम करना चाहो उनका किसी को पहले से पता नहीं लगने देना। कार्य की समाप्ति होने के पश्चात् फल को देखकर लोग उसका केवल अनुमान ही लगा सकें। ध्यान रखना जो अपनी मंत्रणा को गुप्त रखता है और दूसरों की गुप्त मंत्रणा को प्रकट कर लेता है वह अपने शत्रुओं के लिए अजेय होता है।।74-78।। हे पुत्र! राज्य संचालन करते हुए प्रतिदिन धर्म का पालन करना एवं सभी दिशाओं और विदिशाओं में निर्मल कीर्ति विस्तृत करना।।79।। इस प्रकार राजा वीतशोक ने अपने पुत्र को शिक्षा के साथ राज्यभार प्रदान किया। पिता के अनुरोध से पुत्र ने भी राज्य स्वीकार कर लिया। उचित ही है कि सुपुत्र वही है जो पिता के अनुकूल वृत्ति करे।।80।। पुनः राजा वीतशोक ने सभी को अनित्य आदि भावना के उपदेश से संबोधित कर दिगंबर दीक्षा ग्रहण करने के लिए सभी की अनुमति प्राप्त की एवं शीघ्र दीक्षा हेतु तत्पर हुए।।81।। कदाचित् व्याकुल चित्त से युक्त सभी ने वियोग और हर्ष के मिश्रित भावों से अपनी शक्ति के अनुसार धर्म करने का संकल्प ग्रहण किया।।82।।

502. गुणधम्ममुणिचरणेसु, अध पहुच्चीअ पाववहारगस्स।
णरा जस्स दंसणेण, लहेज्ज सम्मत्ताइगुणा॥83॥

503. जस्स वंदणा भत्ती, हरदि सोग-मवजसं भयं रोयं।
इट्ठसुवत्थु-कारणं, विजोग-कारणं अणिट्ठाण॥84॥(जुम्मं)

504. सोगं भय - सत्तुत्तं, रोयं उहट्टंति मुणि - दंसणेण।
होज्ज सुभिक्खत्तं सुह-संती समिद्धी आरोग्गं॥85॥

505. सिरिगुणधम्म - मुणिवरं, णिवेदीअ भवदुक्खहारगाए।
सव्वसुहकारगाए, दियंबर - णिग्गंथ - दिक्खाइ॥86॥

506. संसार-तण-भोयादु, विरत्तीए आइक्खिदं मुणिणा।
आयण्णिय रायो तं, परमवेरग्गभावजुत्तो॥87॥

507. हे भयवो! अणुग्गहिय, महव्वदेहिं सुमंडिदं कुणेसु।
तह गुत्ति-समिदीहिं वि, दाएज्ज सिववयसक्कारं॥88॥

508. गुणधम्ममुणिसमीवे, सव्वपरिग्गहं पडियाइक्खित्तु।
सेट्ठ णिग्गंथदिक्खं, गहीअ णियप्पकल्लाणाय॥89॥

509. हिंस-मलीगं थेयं, अबंभं परिग्गहं पच्चक्खीअ।
मणवयणकायेहिं च, कदकारिदाणुमोदेहि॥90॥(जुम्मं)

510. पणसमिदि-अक्खणिरोह-सडावस्सगा सत्तसेसगुणा य।
महव्वदेहि सह अट्ठवीसमूलगुणा धारिदा य॥91॥

511. बावीस-परिसह-जयो, बेदहतवो कम्मक्खयिदुं खमो।
उहयो हि बे चरणं व, णिव्वाणमग्गे हु गमणस्स॥92॥

512. कम्मणिज्जराए चिय, संवर-णिब्बंधणं मुणेदव्वं।
समत्तपहावेणं दु, जोगी लहदि णिव्वाणपदं॥93॥

513. जाणह पंच-चिण्हाणि, दियंबरत्तं कमंडलुं पीछी।
करपत्त-भोयणं तह, पदविहारं णिग्गंथाणं॥94॥

पुनः राजा वीतशोक पापों का संहार करने वाले उन श्री गुणधर्म मुनिराज के चरणों में पहुँचे जिनके दर्शन से ही लोग सम्यक्त्व आदि गुण प्राप्त कर लेते थे, जिनकी वंदना, भक्ति शोक-अपयश-भय व रोग को हर लेती थी। जिनकी भक्ति इष्ट वस्तु की संप्राप्ति और अनिष्ट वस्तु व जनों के वियोग का कारण थी।।83-84।। सही तो है श्री मुनिराज के दर्शन से शोक, भय, शत्रुता व रोग नष्ट होते हैं तथा सुभिक्षता, सुख, शांति, समृद्धि तथा निरोगी देह होती है।।85।। राजा वीतशोक ने श्री गुणधर्म मुनिराज से संसार के दुःखों को नष्ट करने वाली, सभी सुखों को करने वाली निर्ग्रंथ दिगंबर दीक्षा के लिए निवेदन किया।।86।। श्री मुनिवर ने संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति प्रदान करने वाला उपदेश दिया जिसे सुनकर राजा परमवैराग्य भाव से युक्त हो गया।।87।। उसने कहा हे भगवन्! कृपा करके आप मुझे महाव्रतों, गुप्ति व समितियों से मंडित करें एवं मोक्ष व्रत के संस्कार प्रदान करें।।88।। तब श्री गुणधर्म मुनि के समीप राजा वीतशोक ने सर्व परिग्रह को त्यागकर निजात्म कल्याण के लिए श्रेष्ठ निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण की। मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमोदना से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह का त्याग किया।।89-90।। श्री वीतशोक मुनिराज ने पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेंद्रिय निरोध, षडावश्यक, सात शेष गुण इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों को धारण किया।।91।। बाईस परीषहजय और बारह तप कर्मों का क्षय करने में समर्थ हैं। परीषहजय व तप ये दोनों ही निर्वाण मार्ग में गमन करने के लिए दो चरण के समान हैं।।92।। कर्म निर्जरा के लिए संवर कारण जानना चाहिए। समत्व के प्रभाव से योगी निर्वाण पद प्राप्त करता है।।93।। निर्ग्रन्थ साधुओं के पाँच चिह्न जानने चाहिए—कमंडलु, पीछी, दिगंबरत्व (नग्नता), पाणिपात्र में भोजन लेना तथा पैदल विहार करना।।94।।

514. जे के वि हु णिग्गंथा, बज्झचिण्हसंजुदा पुण्णवंता।
पुज्जा आहाराइं, ताण देज्ज हु धम्म-रक्खाइ॥95॥

515. मुणिणा वीदसोगेण, णिद्दोससंजमो पालिदो सय हि।
बहु-इड्ढी पाविदा य, अप्पविसुद्धी परमरूवा॥96॥

516. पाविडयालम्मि रुक्ख-मूले सीदे तरंगिणी-तडम्मि।
उण्हे गिरि-सिहरम्मि दु, झाएज्जा कम्मक्खयेदुं॥97॥

517. रिसिणा पाविदं ओहि-णाणं मणपज्जयणाणं तिणं व।
पुण घादीसु णट्ठेसु, सुहं केवलणाणं फलं व॥98॥

518. सुक्कज्झाणबलेणं, पाउणिय सजोगकेवलि-अवत्थं।
णाणा-देसेसु तदा, विहरिदं सव्वकल्लाणाय॥99॥

519. गंधकुडीइ विज्जंत-देवस्स दिव्वज्झुणी णिस्सरिदो।
जिणधम्म-देसणाए, दंसाविदो कल्लाणपहो॥100॥

520. केहि भव्वेहि मोक्खो, केहि संजमो अणुव्वदं केहिं।
केहि लंभिदं उवसम-खयिअ-खओवसम-सम्मत्तं॥101॥

521. किंचणवस्स-पच्छा य, अजोगी खलु सजोगकेवलीदो।
खयिय अंतोमुहुत्ते, असेस-पयडी लहीअ सिवं॥102॥

522. सिद्धाणं अट्ठ गुणा, सम्मत्त - णाण - दंसण - वीरियं च।
सुहुम-मवगाहणत्तं, अगुरुलहुत्त-मव्वावाहत्तं अव्वावाहं च॥103॥

523. तेहि गुणेहि संजुदो, विमुक्को य जम्मजरामरणादो।
लोयग्गठिदो णिच्चो, दव्वभावणोकम्मरहिदो॥104॥

524. पच्छा राय-असोगो विरज्जिदूणं भवतणभोयादो।
तच्चं संझाएज्जा, सिरिजिणदिक्खं तु कंखंतो॥105॥

जो कोई भी निर्ग्रन्थ साधु बाह्य चिह्नों से युक्त हैं वे पुण्यवंत एवं पूज्य हैं। धर्म की रक्षा के लिए उन्हें आहार आदि देना चाहिए।।95।। मुनि वीतशोक ने सदा ही निर्दोष संयम का पालन किया। मुनिवर ने परम रूप आत्मविशुद्धि व बहुत ऋद्धियों को प्राप्त किया।।96।।

वर्षाकाल में वृक्षमूल में, शीतकाल में नदी के तट पर, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर वे कर्मक्षय के लिए ध्यान करते थे।।97।। श्री ऋषिराज ने संयम के प्रभाव से तृण के समान अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त किया पुनः घातिया कर्मों के नष्ट होने पर फल के समान शुभ केवलज्ञान को प्राप्त किया।।98।। शुक्लध्यान के बल से सयोगकेवली अवस्था को प्राप्त करके नाना देशों में सभी के कल्याण हेतु विहार किया।।99।। तब गंधकुटी में विद्यमान जिनेन्द्र देव की दिव्यध्वनि निःसृत हुई। जिनधर्म देशना से सभी के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।।100।। जिससे किन्हीं भव्यों ने मोक्ष प्राप्त किया तो किन्हीं ने संयम प्राप्त किया, किन्हीं ने अणुव्रत ग्रहण किए तो किन्हीं ने उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया। किन्हीं ने क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया तो किन्हीं ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया।।101।। कुछ वर्ष पश्चात् सयोग केवली अवस्था से वे अयोग केवली हुए एवं अंतर्मुहूर्त में सर्व प्रकृतियों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त किया।।102।। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध–ये सिद्धों के आठ गुण होते हैं।।।103।। वे जिनेंद्र प्रभु इन गुणों से संयुक्त हो गए, जन्म–जरा–मरण से सदा के लिए विमुक्त हो गए, लोक के अग्रभाग के निवासी, नित्य एवं द्रव्य, भाव व नोकर्म से रहित हो गए।।104।। उधर महाराज वीतशोक की दीक्षा के पश्चात् राजा अशोक संसार–शरीर–भोगों से विरक्त होकर श्री जिन दीक्षा को ग्रहण करने की इच्छा करते हुए तत्त्वचिंतन करने लगे।।105।।

525. बोहिय विरायभावं, रायकुडुंब-मंतिमंडलादीहि।
असोगो णिवेदिदो दु, भो सामी! तुमं भयवदो व्व॥106॥

526. पयाइ अण्ण-दायगो, पाण-रक्खगो सरणदयो सेट्ठो।
कत्तव्वं पालेज्जा, तव जणगाणाणुसारेणं॥107॥

527. बोहिदूण असोगेण, चिंतिदो भवसरूवो बहुवारं।
हा! मे इदाणिं चरिय-मोहकम्मतिव्वुदयो हंदि॥108॥

528. वियड्ढिमेणं तेणं, रज्जसंचालणं करिदं तदा हु।
स-संतोसविट्ठीए, पुव्वपुण्णं भुंजंतेणं॥109॥

529. णायेण रज्जकज्जं, करिदं पयं पडि वच्छलभावेण।
राणिंपडिमित्तभाव-सहिदेणसुणासीरोव्वखलु॥110॥(जुम्मं)

530. हियमियपियवयणेहिं, जुदा हणिंहणिं मंगलभावेहि।
पुण्णकज्ज-संलीणा, वर-परामरिसगा मित्तं व॥111॥

531. सव्व-रायविज्जाणं, ठाणं सहावादु तिक्ख-बुद्धीइ।
उच्छुहा व्व दु परोप्पर-दंसणस्स भद्दगे पसंति॥112॥

532. सूरत्तं सीहादो, वसिदा मुणीदु तुंगत्तं गिरीदु।
एसज्जं इंदादो, गंभीरं सिंधूदु तुलिदं॥113॥

533. गुणपुंज-कलाजुदेण, णायसील-सूरवीर-असोगेण।
पिदु-णिद्देसेण किदं, रज्जसंचालणं चक्कीव॥114॥

534. दिअ-अस्स-रह-पदादी, इच्चादी तस्स सोहाणिमित्तं।
णो को वि सत्तू तदा, जसकित्ति-आलयो राओ य॥115॥

535. णो जाण कधं राओ, सम-संती आइगुणा पसंसेदि।
दुगुंछेदि मिमं तहा, सो मुंचिदो रुट्ठमदेणं॥116॥

राजा अशोक के इन वैराग्यपूर्ण भावों को समझकर राजपरिवार व मंत्रीमंडल आदि सभी ने उनसे निवेदन किया कि हे स्वामी! आप हमारे लिए भगवान् के समान हैं।।106।। हे राजन्! समस्त प्रजा के लिए आप अन्न दाता हैं, सभी के प्राणों की रक्षा करने वाले हैं, सभी के त्राण कर्त्ता हैं, श्रेष्ठ हैं। हे स्वामी! आप अपने पिता की आज्ञा के अनुसार कर्तव्यों का पालन करें।।107।। इस प्रकार बोध को प्राप्त होकर राजा अशोक ने बहुत बार संसार के स्वरूप का चिंतन किया। उन्होंने विचार किया हाय! अभी मेरे चारित्र मोहनीय कर्म का तीव्र उदय है।।108।। तब उन कुशल शासक ने अपनी संतोषवृत्ति से व पूर्व पुण्य को भोगते हुए निपुणता से राज्य का संचालन किया। रानी के प्रति मित्रभाव से सहित राजा ने प्रजा के प्रति वात्सल्यभावपूर्वक देवराज इंद्र के समान न्यायपूर्वक राज्यकार्य किया।।109-110।। महारानी रोहिण ी सर्वदा हित-मित-प्रिय वचन ही बोलती थीं। वे मंगलभावों से युक्त सदा पुण्य कार्य में संलग्न रहती थीं। महारानी राजा अशोक के लिए श्रेष्ठ सलाहकार व मित्र के समान थीं।।111।। राजा अशोक की बुद्धि स्वभाव से अत्यंत तीक्ष्ण थी अतः उस सुख उत्पन्न करने वाले प्रशांत राजा में वे सारी विद्याएँ, जिनका अध्ययन राजाओं को अवश्य ही करना चाहिए, उन सबका स्थान वह था अर्थात् विद्याएँ उसमें ही आकर रहने लगीं। मानो वे पहले से ही एक-दूसरे से मिलने के लिए उत्सुक थे।।112।। उसकी शूरवीरता की तुलना सिंह से, जितेन्द्रियता की तुलना मुनियों से, ऊँचाई की पर्वत से, ऐश्वर्य की इंद्र से तथा गंभीरता की सागर से की जाती थी।।113।। राजा अशोक समस्त गुणों का पुंज था। नाना कलाओं से युक्त, न्यायशील व शूरवीर था। पिता के निर्देश से उसने चक्रवर्ती के समान अपने राज्य का संचालन किया।।114।। हाथी, घोड़े, रथ व पदाति इत्यादि उसकी शोभा के निमित्त ही थे। तब कोई भी उसका शत्रु नहीं था। वह राजा अशोक यश-कीर्ति का निवास स्थान ही था।।115।। यह राजा न जाने कैसा है जो सदा शम, शांति आदि गुणों की प्रशंसा करता है और मुझसे द्वेष करता है, मानो इसलिए अहंकार रुष्ट होकर उसे छोड़कर चला गया।।116।।

536. जलरासीव विसालो, मज्जाइल्लो सेट्ठो गंभीरो।
उवरि णिम्मलजलजुदो, अंतरे गुणरयणसंजुदो॥117॥

537. वच्छत्थलं दु माए, मुहो वाणीए देहो कंतीइ।
हिअयं खमाए बाहु-जुगलं वीरत्तस्स ठाणं॥118॥

538. सच्च-उदारत्त-खमा-दया-विणयाइ-गुणेहि पत्थिदं दु।
सेट्ठासय-वंछिदोव्व, आयरेण णिवालयो होज्ज॥119॥

539. पयाए भयवदोव्व हु, सुसंरक्खगो वर - संवड्ढगो य।
परम-विस्सासी तहा, पाणोव्व पियो दु ओयंसी॥120॥

540. तस्स णीदीइ सोहा, विहवेणं विहवस्स हु विणयेणं।
विणयस्सपसम-खमाइ, उहयाणंपरक्कमेणंच॥121॥

541. णिग्गंथाणुवासगो, पूयगो सिरिवीयराय-जिणाणं।
जिणवयणाणं वसणी, गुरुवयणं सुणेदुं लोही॥122॥

542. सत्त-खेत्तेसु दाणं, देच्चा महाणंदजुत्तो राओ।
धम्मकज्जविहीणम्मि, मण्णेज्जा विथा सगजम्मं॥123॥

543. सत्तूणं कालोव्व हु, सगासिद-पयाए कवयोव्व सो य।
दुट्ठाणं च अणिट्ठो, इट्ठो सुजण-सयायारीण॥124॥

544. कुमुदं व सद्दिट्ठीण, असोगो सीयल-मिअंगोव्व तदा।
ऊसमालीव णिच्चं, अवगुणरूवोसविणासगो॥125॥

545. दीण-हीण-दुहिणोपडि, पसुपक्खीओतह साणुक्कोसो।
ताणं सो ईसरोव्व, सत्तूण विरोहीण जमोव्व॥126॥

वह समुद्र के समान विशाल, मर्यादित, श्रेष्ठ व गंभीर था। वह समुद्र के समान ऊपर निर्मल जल से युक्त था एवं अंतरंग में गुणरूपी रत्नों से संयुक्त था।।117।। उस अशोक का वक्षस्थल लक्ष्मी का, मुख सरस्वती का, शरीर कांति का, हृदय क्षमा का एवं युगल बाहु वीरता के स्थान थे।।118।। श्रेष्ठ आश्रय को चाहने वाले के समान मानो सत्य, उदारता, क्षमा, दया, विनय आदि गुणों ने भी अपने आश्रय के लिए प्रार्थना की। मानो इसलिए आदरपूर्वक राजा इनका निवास स्थान हुआ।।119।। वह राजा अपनी प्रजा के लिए भगवान् के समान था। प्रजा का संरक्षण-संवर्द्धन करने वाला था। वह परम विश्वासी, प्राणों के समान प्रिय तथा ओजस्वी था।।120।। उसकी नीति की शोभा वैभव से थी, वैभव की शोभा विनय से, विनय की प्रशम व क्षमा से और प्रशम व क्षमा की पराक्रम से थी।।121।। वह निर्ग्रन्थ गुरुओं का उपासक, श्री वीतरागी जिनेंद्र प्रभु का पूजक, जिनवचनों का व्यसनी और गुरु के वचन सुनने के लिए लोभी था।।122।। सप्त स्थानों (जिनबिंब, जिनचैत्यालय, तीर्थयात्रा, जिनमहोत्सव, जिनागम, जिनायतन, जिनपूजा) में दान देकर राजा महाआनंद से युक्त होता था। धर्मकार्य से रहित होने पर वह अपना जन्म व्यर्थ ही मानता था।।123।। वह शत्रुओं के लिए काल के समान और अपने आश्रित रहने वाली प्रजाजनों के लिए ढाल के समान था। वह दुष्टों के लिए अनिष्टकारी एवं सज्जन व सदाचारियों के लिए इष्टकर था।।124।। जिस प्रकार शीतल चंद्रमा के द्वारा कुमुद विकसित होता है उसी प्रकार राजा अशोक सम्यग्दृष्टियों का विकास करने वाला था। जैसे सूर्य से ओस की बिंदुएँ नष्ट हो जाती हैं वैसे ही राजा प्रजाजनों के अवगुणों का नाश करने वाला था।।125।। दीन-हीन, दु:खीजन व पशु-पक्षियों के प्रति वह दया से युक्त था, उनके लिए वह ईश्वर के समान था जबकि शत्रुओं व धर्म विरोधियों के लिए वह यमराज के समान था।।126।।

546. समरंगणे अजेयो, अखंड-सेट्ठ परक्कम-संजुत्तो।
पुण्णखेत्ते सलिलंव, चित्त-पक्खालगो सरलोय॥127॥

547. सिरोमणी रायेसुं, णिग्गंथ-गुरुचरणंबुज-छप्पयो।
दियंबर-दंसणाय दु, कपिंजलोव्व तिसाउरो सो॥128॥

548. सोम्ममुत्ती य सुगठिद-देहजुत्तो तत्तहाडगवण्णो।
इट्ठ-कज्ज-कत्ताणं, महाबंधू व्व सहयारी य॥129॥

549. सबलाण बलं राओ, दुब्बलाण रक्खो मज्जाइल्लो।
कला-पेम्मी तिक्खधी-मंतो सक्किदि-संवड्ढगो॥130॥

550. विदूण सुजोग्ग-सिस्सो, सुणायगो य कलाविसारदाणं।
आयंसो सज्जणाण, जणगोव्व भादू व्व इत्थीण॥131॥

551. पुरोकरीअ आयंस-कज्ज-कत्तुणो पडिवस्से रज्जे।
पणोल्लेदुं अण्णं च, दंडीअ अवराही सुहस्स॥132॥

552. तस्स णामं सुणित्ता, दुट्ठा कंपीअ तरुपत्ताइं व।
वायणिग-दंडो तदा, अवि अवराहाणुसारेणं॥133॥

553. तत्थ पया संतुट्ठा, जत्तो अइणूणो चिय अवराहो।
सग्गोव्व सुहं लहीअ, णिवो पया सभासद-सव्वा॥134॥

554. असीमसीकिसि-विज्जा, वाणिज्ज-सिप्प-णच्चादी कलाय।
वड्ढीअ तत्थ देसे, ससि-पहावेण सिंधु-जलं व॥135॥

555. संखेवेणं देसो, समिद्धो सो दु सव्वपयारेणं।
दिणे दिणे समिद्धी य, वड्ढीअ णिव-पया-सव्वाण॥136॥

556. अइपुण्णवंत-राओ, समण्णिदो सव्वगुणेहि रायस्स।
दूरुल्ले खेत्ते णो, तदा को वि णिवो असोगोव्व॥137॥

557. सहजजीवणं वियार-उच्चो वसुहाकुडुंब-भावणा य।
विअड्ढो रज्जकज्जे, मच्छराइ-भाव-विरहिदो दु॥138॥

अखंड श्रेष्ठ पराक्रम से युक्त वह राजा युद्धक्षेत्र में अजेय था। पुण्य-क्षेत्र में वह जल के समान चित्त का प्रक्षालन करने वाला और सरल था।।127।। वह राजाओं में शिरोमणि था, वह निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरण कमलों का भ्रमर था एवं श्री दिगंबर गुरु के दर्शन के लिए चातक के समान तृषातुर था।।128।। वह सौम्यमूर्ति, सुगठित देह से युक्त था। उसकी देह का वर्ण तपे हुए स्वर्ण के समान था। वह इष्ट-कार्य करने वालों के लिए महाबंधु के समान सहयोगी था।।129।। वह राजा बलवानों का बल व दुर्बलों का रक्षक था। वह मर्यादित, कला-प्रेमी, तीक्ष्णबुद्धि वाला एवं संस्कृति का संवर्द्धक था।।130।। वह विद्वज्जनों का सुयोग्य शिष्य, श्रेष्ठ कलानायक, कला विशारदों के लिए आदर्श, सज्जनों के लिए पिता के समान, स्त्रियों के लिए भाई के समान था।।131।। वह राजा आदर्श कार्य करने वालों के लिए व अच्छे कार्य हेतु दूसरों को प्रेरणा देने वालों के लिए प्रतिवर्ष पुरस्कार दिया करता था एवं सुख-शांति की स्थापना के लिए वह अपराधियों को दंडित करता था।।132।। उस राजा का नाम सुनकर दुष्टजन काँपने लगते थे। अपराध के अनुसार तब वाचनिक दंड भी हुआ करता था।।133।। वहाँ की प्रजा संतुष्ट थी क्योंकि वहाँ अपराध बहुत कम थे। राजा, प्रजा, सभासद सभी जन स्वर्ग के समान सुख प्राप्त करते थे।।134।। जैसे चंद्रमा के प्रभाव से सागर का जल वृद्धिंगत होता है उसी प्रकार उस देश में असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प व नृत्यादि कला वृद्धिंगत होती थी।।135।। संक्षेप में वह देश सभी प्रकार से समृद्ध था। राजा व प्रजा सभी की समृद्धि दिनों-दिन वृद्धिंगत हो रही थी।।136।। अति पुण्यवान् वह राजा, राजा के सभी गुणों से समन्वित था। उस समय दूरवर्ती क्षेत्र में कोई भी राजा अशोक के समान गुणवान् नहीं था।।137।। राजा अशोक सहज जीवन जीते थे। उनके विचार उच्च थे और यह समस्त पृथ्वी परिवार ही है ऐसी भावना से युक्त थे। वे राजकार्य में निपुण एवं ईर्ष्याभाव से रहित थे।।138।।

558. पुण्णेणं पाविदा वा सुगुण-सुहकला तेण कित्ती पसंसा,
सक्कारा सेट्ठ विज्जा हियमियवयणं सत्थसंचालणे वा।
णेउण्णं रज्जकज्जे वरसजणकुलं जेण्हधम्मे सुपीदी,
णीदीरीदीइवत्तंसहजसरलविट्टीयउक्किट्ठबुद्धी॥139॥

559. संसारीणं सुपुण्णं इग-वर-सरणं रक्खिदुं वा दुहादो,
भव्वो! संसार-हेदू हवदि ण कया सेट्ठ णिक्कंखपुण्णं।
तम्हा तुम्हं करेज्जा वरसुहकिरियं सव्वकंखाविहीणं,
भावेहिं सव्वदाहि जिणसुदगुरुणोवापडुच्चंसुधम्मं॥140॥

राजा अशोक ने पुण्य से सुगुण, श्रेष्ठ कला, कीर्ति, प्रशंसा, संस्कार, श्रेष्ठ विद्या, हित-मित वचन, शस्त्र संचालन व राजकार्यों में निपुणता, श्रेष्ठ कुल, स्वजन, जैन धर्म में प्रीति, नीति व रीतिपूर्वक वार्ता, सहज-सरल वृत्ति एवं उत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त की।।139।। दुःख से रक्षा करने के लिए संसारी जीवों के लिए पुण्य ही एक उत्तम शरण है। हे भव्य जीव! श्रेष्ठ व निःकांक्ष पुण्य कभी भी संसार का कारण नहीं होता इसलिए तुम्हें जिनदेव, जिनशास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु एवं समीचीन धर्म का आश्रय लेकर भावों से सभी आकांक्षाओं से रहित सदैव श्रेष्ठ पुण्य कार्य करना चाहिए।।140।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में रोहिणी की विदाई, राजा वीतशोक का वैराग्य, उनके द्वारा अपने पुत्र अशोक को शिक्षा पूर्वक राज्य प्रदान करना व राजा अशोक के व्यक्तित्व का वर्णन करने वाला यह चतुर्थ नंद पूर्ण हुआ।

पंचम-णंदो

560. एयदा अंतउरम्मि, सगपाणवल्लहाइ सह णिमग्गो।
णिवो णेहेण कहीअ, एणंगोव्व तव आणणं दु॥1॥

561. किण्णु सो दोसजुत्तो, तुमं सुणिम्मला तह विणिद्दोसा।
वड्ढेदि हासदि चंद-कला तुमं सुवड्ढमाणाय॥2॥(जुम्मं)

562. उवरत्तो ससंगो दु, तुमं पावकम्मेहि गसिदा णेव।
अदिसयपुण्णसीला य, तव समा देवंगणा णो वि॥3॥

563. करेज्ज मच्छरं रदी, तव अप्पडिम-सुंदरिमाए किं ण।
मज्झं णिम्मला तुमं, सुरणदीव हे रूवरासी!॥4॥

564. रदी कप्पणा मेत्तं, णो कस्स वि दिट्ठि-गोयरा कया वि।
रदिं सेवेदुं कहं, सक्केज्ज सरो कायहीणो॥5॥

565. तुमं णेव कमल-मुही, जम्हा तं पमिलायदि रत्तीए।
सयदिणरत्तीइ णवरि, विअसदि सुहा! पुव्वपुण्णेण॥6॥

566. णारीणं अंगाणं, देदि उवमं जहा गयगामिणिआ।
मिगणयणी-चंदमुही, संखगीवजुदा को वि कवी॥7॥

567. कंठो कलयंठीव य, दाडिमबीअं व दंतो ताए य।
सुओव्व सुणासिगा किस-उदरी सा वल्लरीव पिया॥8॥

568. तुज्झ ता सव्वोवमा, णेव सत्थगा अणुवमा तुमं जं।
णदिस्सदि कंविवत्थुं, तवउवमाएहेणिरुवमा!॥9॥(तिअं)

569. भो देवी! पुव्वभवे, किं जिणभत्तिं करीअ घोरतवं।
वा णिग्गंथ-गुरूणं, दाएज्जा दु चदुविह-दाणं॥10॥

570. चउविह-संघो दु पुण्ण-जत्तं करावीअ सिद्धखेत्ताण।
वासिद्धंत-सत्थाणिलिहावित्तादेज्जसव्वाण॥11॥(जुम्मं)

एक बार राजा अशोक अंत:पुर मे अपनी प्राणवल्लभा के साथ निमग्न थे। राजा ने प्रेमपूर्वक कहा अहो प्रिये! आपका मुखमंडल चंद्रमा के समान है; किन्तु वह चंद्रमा तो दोषयुक्त होता है तुम तो निर्दोष व सुनिर्मला हो। चंद्रमा की कला तो बढ़ती-घटती है; किन्तु तुम सदैव गुणों की वृद्धि को प्राप्त होती हो।।1-2।। चंद्रमा तो राहु के द्वारा ग्रसा जाता है; किन्तु तुम पापकर्मों से ग्रसित नहीं होती। तुम अतिशय पुण्यवती हो, तुम्हारे समान देवांगना भी नहीं है।।3।। तुम्हारी अप्रतिम सुंदरता से रति मात्सर्य क्यों नहीं करे? अर्थात् तुम्हारा सौंदर्य रति के लिए भी ईर्ष्या का कारण है। मेरे लिए तुम गंगा के समान निर्मल हो।।4।। अहो रूपराशि! रति कल्पना मात्र है वह कभी भी किसी के दृष्टिगोचर नहीं हुई। काम तो शरीर से रहित है तब वह रति का सेवन कैसे करता होगा?।।5।। हे शुभे! तुम कमलमुखी नहीं हो; क्योंकि वह कमल तो रात्रि में मुरझा जाता है; किन्तु तुम दिन-रात सदैव पूर्व पुण्य से विकसित ही रहती हो।।6।।जो कोई भी कवि नारी के अंगों की उपमा देता है कि वह मृगनयनी, गजगा. मिनी, चंद्रमुखी, शंख के समान ग्रीवा वाली वा कोयल के समान कंठ वाली है अथवा उसके दाँत अनार दानों के समान हैं, नासिका तोते की नासिका के समान है अथवा वह कृश-उदरी है, लता के समान व प्रिय है; किन्तु तुम्हारे लिए ये सभी उपमा सार्थक नहीं हैं क्योंकि तुम अनुपम हो। हे निरूपमे! तुम्हारी उपमा के लिए कोई भी वस्तु संसार में दिखाई नहीं देती।।7-9।। अहो देवी! पूर्व भव में तुमने जिनभक्ति की या घोर तप किया अथवा निर्ग्रंथ गुरुओं के लिए चार प्रकार का दान दिया। चतुर्विध संघ को सिद्ध क्षेत्रों की पुण्य यात्रा करायी अथवा सिद्धांतशास्त्रों को लिखवाकर सभी के लिए दिया।।10-11।।

571. देज्जा करुणा-दाणं, किं तिरियाण दीणहीणजीवाण।
वा लक्खकोडिवारं, जवीअ णमोयारमंतं च॥12॥

572. सीलवदं णिद्दोसं, पालीअ सया सुदिग्घयालंतं।
पव्वेसुं उववासं, किं तुमं करीअ विसुद्धीइ॥13॥

573. तुमं अच्चंतधीरा, पुण्णं संगहिदुं वीरा रम्मा।
गुणगंभीर-पसंता, परपीडं अक्खमा सोढुं॥14॥

574. कुव्वेसितच्चचिंतण-समयम्मिचियसुदुवणम्मिकेलिं।
मादू व्व तुमं पयाइ, वच्छल्लछायादाणादो॥15॥

575. रंभा व्व रदी राणी, लच्छिरूवा मंतीव धीमंता।
सीलवंता सुमित्तं, खमा-धम्म-धारगा मही व्व॥16॥

576. रायसद्दं सुणित्ता, कहिदं विडिआए णो सच्चमिमं।
तिव्वरायेण कहिदं, तइ हि मे अत्थित्तं देवो!॥17॥

577. धण-सजण-सुदेहादी, सुपुण्णफलेणं हु दुल्लहा णेव।
होदि पुण्णवंताणं, सय धम्मे पुण्णे पविट्ठी॥18॥

578. तुहेव मे सोहग्गो, होही तुमए सोहग्ग-उदयो दु।
तुमं विणा मम सोहा, णीरेण विणा तरंगिणीव॥19॥

579. पउमं विणा सरोव्व य, णयणेहिं विणा आणणं व तहा।
जोदीइ विणा णयणं, ससंगेणं विणा रत्तीव॥20॥

580. तुह विणा णिय-जीवणं, मण्णेमि पाणेण विणा देहोव्व।
पणोल्लयोआयंसो, जिणधम्म-सुपालगोदेवो!॥21॥(तिअं)

581. सणेहादिरेगेणं, परोप्परम्मि वत्तं कुव्वीअ ते।
सुही संतुट्ठा पुण्ण-फल-भोत्ता दु आणंदेणं॥22॥

तुमने तिर्यंच दीन-हीन जीवों के लिए करुणादान दिया या लाखों-क. रोड़ों बार णमोकार मंत्र का जाप किया।।12।। तुमने सदा शीलव्रत का निर्दोष पालन किया या विशुद्धिपूर्वक दीर्घकाल तक पर्वों में उपवास किया।13।। अहो प्रिये! तुम अत्यन्त धीर हो, पुण्य संग्रह करने के लिए वीरांगना हो, रम्या हो, गुणों से गंभीर, प्रशांत एवं परपीड़ा सहने में असमर्थ हो।।14।। तुम तत्त्व-चिंतन के समय श्रुत रूपी उपवन में क्रीड़ा करती हो। अहो महारानी! वात्सल्य की छाया प्रदान करने से तुम प्रजा के लिए माता के समान हो।।15।। अहो रानी! तुम रंभा के समान रति, लक्ष्मी रूप, मंत्री के समान बुद्धिमती, शीलवती, श्रेष्ठ मित्र तथा भूमि के समान क्षमा धर्म की धारक हो।।16।। राजा के शब्दों को सुनकर शर्माते हुए रानी ने कहा-हे देव! आपसे ही मेरा अस्तित्व है। आपने जो कहा है वह सत्य नहीं, यह सब आपने तीव्र राग से ही कहा है।।17।। धन, स्वजन, श्रेष्ठ देह आदि अतिशय पुण्य के फल से दुर्लभ नहीं हैं। पुण्यवानों की धर्म व पुण्य में सदैव प्रवृत्ति होती है।।18।। तुम ही मेरा सौभाग्य हो, तुमसे ही मेरे सौभाग्य का उदय हुआ है। जैसे जल के बिना नदी की शोभा नहीं होती उसी प्रकार तुम्हारे बिना मेरी शोभा नहीं है। जैसे कमल के बिना जलाशय, नयनों के बिना मुख, ज्योति के बिना नेत्र, चंद्रमा के बिना रात्रि और प्राण के बिना शरीर होता है उसी प्रकार मैं अपना जीवन मानती हूँ। हे देव! आप मेरे आदर्श व प्रेरक हैं, आप जिन धर्म का पालन करने वाले हैं।।19-21।। इस प्रकार स्नेह के अतिरेक से वे सुखी व संतुष्ट, पुण्य के फल को भोगने वाले आनंद से परस्पर में वार्तालाप करने लगे।।22।।

582. पुण्णुदयेण संपत्त-गुणा पसंसंता हरिसिदा ते हु।
थिरा सुहसंती तत्थ, दंपत्ति-एगकंठो जत्थ॥23॥

583. परोप्परे पस्सित्ता, पेम्मेणं लहीअ बहुसंतोसं।
चंदबिंब-मवलोयिय, चायगो जह पाउणेदि तह॥24॥

584. सगपाणवल्लहाए, पत्तेय - मंगोवंगं पस्सीअ।
साइज्जीअ जिग्घीअ, फासीअ असोगो मदणोव्व॥25॥

585. महुमच्छिगा पुप्फेसु, फुल्लंधया जह सरसीरुहेसुं।
ठाएज्ज अइगिद्धीइ, तह सो ताइ अंके चित्ते॥26॥

586. चित्तपयंगोव्व सा वि, आसत्ता असोग-पुप्फरायम्मि।
चंदाहा चंदादो, जह तह णेव पिधं रोहिणी॥27॥

587. दंपत्ति-सुहं विहवो, भुंजिदो तेहिं पुव्वपुण्णेणं।
गच्छमाण-यालं णो, जाणिज्जेदि पडंत-णदीव॥28॥

588. सिग्घगामि-विमाणंव,कालोगच्छदि तिव्वपुण्णुदयम्मि।
सो एव पावुदयेण, हंदि पिवीलिगाए गदीव॥29॥

589. याले याले करीअ, तच्चवत्तं महाराओ राणी।
परोप्परम्मि पिच्छणं, सज्झायं ता अवि करेज्जा॥30॥

590. पुच्छिदं सुराणीए, सगपदिं णमिदूणं विणयेणं च।
अघबंधणं विच्छिदुं, कहं चिय सावगो समत्थो?॥31॥

591. परमेट्ठि-अच्चणाए, गुरुसेवा-जिणवंदणाहि कहिदं।
संजमतवुववासेहि, णायज्जिदधण - सज्झायेहि॥32॥

पुण्योदय से गुणों को प्राप्त करने वाले वे दम्पत्ति एक-दूसरे की प्रशंसा करते हुए हर्षित हो रहे थे। उचित ही है जहाँ दंपत्ति का एक कंठ होता है अर्थात् एकीभाव या एकत्वानुभव होता है, वहाँ सुख व शांति स्थिर होती है।।23।। प्रेम से एक दूसरे को देखकर उन्होंने उसी प्रकार बहुत संतोष प्राप्त किया जिस प्रकार चंद्रबिंब को देखकर चातक संतोष को प्राप्त होता है।।24।। राजा अशोक कामदेव की भाँति अपनी प्राणवल्लभा के प्रत्येक अंग को देख रहा था, सूंघ रहा था, स्पर्श कर रहा था एवं रस ले रहा था।।25।। जिस प्रकार मधुमक्खी पुष्पों पर एवं भ्रमर कमलों पर अति आसक्ति से ठहरता है उसी प्रकार वह अशोक उस रोहिणी के अंक व चित्त में ठहरा हुआ था।26।। तितली के समान रोहिणी भी अशोक रूपी पुष्पराज पर आसक्त थी। जैसे चंद्रमा की आभा अर्थात् चांदनी, चंद्रमा से कभी अलग नहीं होती उसी प्रकार रोहिणी भी अशोक से अलग नहीं थी।।27।। वे पूर्व पुण्य से दांपत्य सुख, वैभव को भोग रहे थे। जैसे पर्वत से गिरती हुई नदी शीघ्र वेग से नीचे आ जाती है उसी प्रकार पुण्य में व्यतीत हुआ काल शीघ्रता से चला जाता है। वह पुण्य काल कब बीत जाता है, यह किसी को ज्ञात नहीं होता।।28।। तीव्र पुण्य के उदय से व्यतीत काल शीघ्रगामी विमान के समान शीघ्र व्यतीत हो जाता है। पाप के उदय में वह काल ही चींटी की गति के समान व्यतीत होता है।।29।। समय-समय पर महाराज व महारानी तत्त्ववार्ता भी किया करते थे। वे आपस में पृच्छना स्वाध्याय भी करते थे।।30।। एक बार रानी रोहिणी ने अपने पति को प्रणाम कर विनयपूर्वक पूछा–हे स्वामी! पाप बंधन के छेदन के लिए श्रावक किस प्रकार समर्थ होता है?।।31।। राजा ने उत्तर दिया–परमेष्ठियों की अर्चना, गुरु सेवा, जिनवंदना, संयम, तप, उपवास, न्यायपूर्वक धनार्जन और स्वाध्याय के द्वारा श्रावक पाप बंध के छेदने में समर्थ है।।32।।

592. सम्मत्त-णिप्फत्तीइ, किं कारणं णर-तिरियेसु सामी!।
जिणदंसणं तह जादि-सिमरणं सिरि-गुरुवएसो।।33।।

593. इमेहि तिय-कारणेहि, होदि सम्मत्तुप्पत्ती भव्वाण।
भो देवी! वेउव्विय-सरीरीण हेदू किं कहसु।।34।।

594. बारसम-सग्गंतं च, जिणमहिमादंसणं धम्मसवणं।
देविड्ढिदंसणंतह,जादिसिमरणंविआणेज्जा।।35।।(तिअं)

595. पुणो सोडसंतं खलु, देविड्ढिदंसणेणं विणा तिण्णि।
गेवेज्जेसुं च जादि-सिमरणं तहा धम्मसवणं।।36।।

596. तस्स उवरि णियमेणं, सव्वा देवा चिय सम्माइट्ठी।
सम्मत्तेण सह तत्थ, जीवो जादो णिच्छयेणं ।।37।।

597. होज्जतिदिय-णिरयंतं,जादि-सिमरणंवेदणाणुभवोय।
धम्मसवणं अधं तह, धम्मसवणेणं विणा दोण्णि।।38।।

598. उक्कस्सेण मुणिवरो, के परीसहा जयेदि यालेगे।
उप्पालह मज्झं जं, परीसहजइ-सुदं कंखेमि।।39।।

599. छुहादी बावीसा दु, हिय-वल्लहा! परीसहा तियाले।
किण्णु एगयालम्मि दु, परीसहा एगूणवीसा।।40।।

600. जम्हा सीदुण्हेसुं, एगो चरिया-णिसज्जा-सयणेसु।
कस्सअविमुणिरायस्स,णेवतत्तोअहियाकयावि।।41।।(जुम्मं)

पुनः रानी ने पूछा हे स्वामी! मनुष्य और तिर्यंचों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का क्या कारण है? राजा उत्तर देते हुए कहते हैं–जिनदर्शन, जाति स्मरण और गुरु का उपदेश इन तीन कारणों से मनुष्य व तिर्यंच जीवों के सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। हे देवी! बताओ, वैक्रियक शरीर युक्त जीवों के सम्यक्त्व की उत्पत्ति का क्या कारण है? रानी ने उत्तर दिया–हे स्वामी! देवों में बारहवें स्वर्ग तक सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण जिनमहिमा दर्शन, धर्मश्रवण, देवऋद्धि दर्शन और जाति स्मरण जानना चाहिए।।33-35।। पुनः तेरह से सोलहवें स्वर्ग तक सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण देवऋद्धि दर्शन बिना अन्य तीन हैं अर्थात् जिनमहिमा दर्शन, धर्म श्रवण और जाति स्मरण। ग्रैवेयकों में सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण जातिस्मरण और धर्मोपदेश है।।36।। उसके ऊपर सभी देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। वहाँ अनुदिश व अनुत्तर विमानों में जीव निश्चय से सम्यक्त्व के साथ ही उत्पन्न होता है।।37।। हे राजन्! तृतीय नरक तक नारकियों के सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण जाति स्मरण, वेदनानुभव और धर्म श्रवण जानना चाहिए। नीचे सर्व नरकों में धर्म श्रवण के बिना दो अर्थात् जातिस्मरण और वेदनानुभव जानना चाहिए।।38।। अब रानी पूछती है, मुनिराज एक समय में कितने परीषहों को जीतते हैं? हे स्वामी! मेरे लिए इसका उत्तर कहिए क्योंकि मैं चाहती हूँ कि मेरा पुत्र परीषहों को जीतने वाला हो।।39।। अहो हृदय वल्लभा! तीनों काल में क्षुधा आदि बाईस परीषह होते हैं किन्तु एक समय में अधिक से अधिक उन्नीस परीषह होते हैं क्योंकि शीत वा ऊष्ण में से एक और चर्या, निषद्या व शयन में से एक ही परीषह होता है। किन्हीं भी मुनिराज के उन्नीस से अधिक परीषह एक समय में कभी नहीं होते।।40-41।।

601. केत्तिय-भववड्ढगाणि, झाणाणि केण कारणेण ताइं।
अट्टरुद्दज्झाणाणि, भववड्ढगाणि भो वल्लहा!॥42॥

602. बे भववड्ढगझाणं, अट्टज्झाणं तह रुद्दज्झाणं।
सहाव-पदणादोभव-वड्ढगाणिहिअयेसरोभो॥43॥(जुम्मं)

603. णादव्वं सत्थेहिं, इट्ठविजोगो अणिट्ठसंजोगो।
चउविह - अट्टज्झाणं, पीडाचिंतणं णिदाणं च॥44॥

604. अट्टज्झाण - यालम्मि, कहं सक्कदि सगसहावे ठादुं।
सच्छं पडिबिंबं णो, जह अच्चंत-उब्बिबलम्मि॥45॥

605. हिंसा - मिसाणंदी य, चोरिआणंदि - परिग्गहाणंदी।
चउविह-रुद्दज्झाणं, असुहगदि-कारणं णियमेण॥46॥

606. रुद्दज्झाण-याले ण, संभवो णाणट्ठिदी अप्परुई।
तहेव सुद्धुवओगो, महव्वदं च खरविसाणं व॥47॥

607. तिव्वकसायुदयादो, संति-असक्का रुद्दभावत्तादु।
उक्कलंतणीरम्मि, णियबिंबं पस्सिदुं णो समत्थो॥48॥

608. सव्वसंसारी अट्टरुद्दज्झाणं, कुणंति अणादीदु।
ताण फलादो लहेज्ज, दुग्गइं दुह-मणंतवारं॥49॥

609. भो देवो! मे अप्पा, कहं परमप्पा होदुं समत्थो।
केहि झाणेहि कम्मक्खयो होदि पुरिसट्ठबलेण॥50॥

610. हे पुण्णवंता! हिअयवासिगा! सुणेह सग-कल्लाणाय।
धम्मं सुक्कज्झाणं, अप्पहिद-कारणं णियमेण॥51॥

611. धम्मे धम्मफले वा, साहम्मीसुं रुई धम्महेदू।
सगचित्ते धम्मुप्पत्तीइ हेदू धम्मज्झाणं॥52॥

उत्तर देते हुए राजा ने कहा–हे प्रिय देवी! बताओ, कितने ध्यान संसार की वृद्धि करने वाले होते हैं? वे किस कारण से संसारवर्द्धक होते हैं? रानी ने उत्तर में कहा–हे हृदयेश्वर! भववर्द्धक ध्यान दो होते हैं–आर्तध्यान और रौद्रध्यान। स्वभाव से पतन करने के कारण ये भववर्द्धक होते हैं।।42-43।। शास्त्रों से आर्तध्यान चार प्रकार का जानना चाहिए–इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतन और निदान।।44।। जिस प्रकार अत्यंत मलिन जल में स्वच्छ प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई दे सकता उसी प्रकार आर्तध्यान के समय जीव अपने स्वभाव में स्थित रहने में कैसे समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।।45।। नियम से अशुभ गति के कारण रौद्रध्यान के चार भेद हैं–हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और परिग्रहानंदी।।46।। रौद्रध्यान के काल में ज्ञान में स्थिति, आत्मरुचि, शुद्धोपयोग और महाव्रत उसी प्रकार असंभव हैं जैसे गधे के सींग।।47।। तीव्र कषाय के उदय से रौद्र परिणाम होते हैं और रौद्र परिणाम होने से शांति उसी प्रकार अशक्य है जैसे उबलते हुए जल में व्यक्ति अपना बिंब देखने में असमर्थ होता है।।48।। अनादिकाल से सभी संसारी जीव आर्त व रौद्र ध्यान करते आ रहे हैं उसके फलस्वरूप अनन्तबार जीव ने दुर्गति व दु:ख को प्राप्त किया है।।49।। रानी पुन: पूछती है, हे देव! मेरी आत्मा किस प्रकार परमात्मा हो सकती है? किन ध्यान के माध्यम से पुरुषार्थ के बल से कर्मों का क्षय होता है?।।50।। हे पुण्यवती हृदयवासिनी! अपने कल्याण के लिए सुनो। धर्मध्यान व शुक्लध्यान नियम से आत्महित का कारण हैं।।51।। धर्म में, धर्म के फल में या साधर्मियों में रुचि धर्म का कारण है। धर्मध्यान अपने चित्त में धर्म की उत्पत्ति का हेतु है।।52।।

612. जिणण्णा-संगच्छणं, आणा-विचयं तहा मुणेदव्वं।
भवदुहहेदु-चिंतणं धम्मज्झाण-मपायविचयं॥53॥

613. कम्मविवाग-चिंतणं,विवाग-विचयंचियधम्मज्झाणं।
संठाण-विचयं जाण, संठाण-चिंतणं लोयस्स॥54॥

614. णिव्विअप्प - धम्मझाण - मप्पमत्तादु सुहुमकसायंतं।
सविअप्प - धम्मझाणं, चदुत्थादो पमत्तंतं च॥55॥

615. कसाय-णिवत्तीए हि, जीव-चित्तं विमलिंदू व्व धवलं।
तादो सुक्कज्झाणं, पारंभेदि उवसंतादो॥56॥

617. के वि सूरी मणंति दु, अपुव्वकरण-अट्ठमट्ठाणादो।
पढमं सुक्कज्झाणं, एयारसम- उवसंतंतं॥58॥

618. तुमं वा को वि अप्पा, रयणत्तयेण हि कम्मक्खयेदुं।
सक्केदि सम्मत्ताइ-गुणेहि विणा णो कया को वि॥59॥

619. घादि-कम्मं विणासिय, जीवो अरिहंतो भयवदो होदि।
सिद्धो णिवत्तीइ सव्वदव्वभावणोकम्माण॥60॥

620. अहो देवी! तुमं कह, दव्वो अत्थिकायो पदत्थो किं।
को सव्वेसु एदेसु, वरो दव्वाण गुणा के के॥61॥

621. पाणणाहो! लोयम्मि, विज्जंति सडदव्वाणि तं लोओ।
जीवो पोग्गल-धम्माधम्मायासा तहा कालो॥62॥

जिनाज्ञा को स्वीकार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान और संसार के दु:खो के कारणों का चिंतन करना अपायविचय धर्मध्यान जानना चाहिए।।53।। कर्म के विपाक (फलों) का चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान और लोक के संस्थान-आकार आदि का चिंतन करना संस्थानविचय धर्मध्यान जानना चाहिए।।54।। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर प्रमत्त गुणस्थान तक सविकल्प धर्मध्यान होता है एवं अप्रमत्त गुणस्थान से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक निर्विकल्प धर्मध्यान होता है।।55।। कषायों की निवृत्ति से ही जीव का चित्त निर्मल चंद्रमा के समान निर्मल व धवल होता है इसलिए उपशांत गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारंभ होता है।।56।। उपशांत गुणस्थान में प्रथम पृथकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान होता है। क्षीणमोह गुणस्थान में एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान होता है। सयोग केवली गुणस्थान में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तृतीय गुणस्थान होता है एवं अयोग केवली गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है।।57।। कई आचार्य मानते हैं कि अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक प्रथम शुक्लध्यान होता है।।58।। तुम या अन्य कोई भी आत्मा रत्नत्रय के माध्यम से ही कर्मक्षय करने में समर्थ हो सकती है। सम्यक्त्व आदि गुणों के बिना कोई भी जीव कभी भी कर्म क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकता।।59।। घातिया कर्मों का नाशकर जीव अरिहंत भगवान् होता है एवं सभी द्रव्यभाव व नो कर्मों की निवृत्ति से सिद्ध होता है।।60।। अहो देवी! कहो, द्रव्य, अस्तिकाय व पदार्थ क्या हैं, इन सबमें श्रेष्ठ कौन है एवं द्रव्यों के गुण कौन-कौन से हैं?।।61।। रानी ने उत्तर देते हुए कहा–हे प्राणनाथ! लोक में षट्द्रव्य विद्यमान हैं; इसलिए यह लोक कहलाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये छः द्रव्य हैं।।62।।

622. दवियदि दविस्सेदि जो, दवियीअ सो दव्वो णिच्छयेणं॥
गुणपज्जयसमूहो दु, दव्वलक्खणं सदो अहवा॥63॥

623. उप्पाय-वय-धुवेहिं संजुत्तो हु जो सो सदो णेयो।
असदो संभवो णेव, भूद-भावि-संपइयालेसु॥64॥

624. जो जीवदि जीवस्सदि, जीवीअ चेयणालक्खणजुत्तो।
जीवो खलु णिद्दिट्ठो, तियाले णो खयदे कया वि॥65॥

625. बेविहो पोग्गलो चिय, संजुदो रूव-रस-गंध-फासेहि।
अणु-खंध-भेयादोय, णेयो जिणकहिदागमेणं॥66॥(जुम्मं)

626. गदि-हेदुत्तं धम्मो, गच्छमाण-जीव-पोग्गलाणं तह।
ठिदि-हेदुत्त-मधम्मो, खंभंत-जीव-पोग्गलाणं॥67॥

627. अवगाहण-हेदुत्तं, णहो अवगास-दायगो सव्वाण।
वट्टणा-हेदुत्तं च, काल-दव्वो दु मुणेदव्वो॥68॥

628. कालविजुत्ता सेसा, पंचत्थिकाया सस्सदा णेया।
जीवविरहिदा सव्वा, अजीव-दव्वा जिणुद्दिट्ठा॥69॥

629. जीवाजीवासवो य, बंधो संवरो णिज्जरा मोक्खो।
इमाणि सत्त-तच्चाणि, पुण्णपावजुद-णवपयत्था॥70॥

630. सव्वदव्वतच्चेसुं, पदत्थेसुं अत्थिकायेसुं वा।
जीवो एव उत्तमो, सव्वपयारेणं सव्वत्थ॥71॥

631. जाण छसामण्णगुणा, दव्वस्स अत्थित्तं च वत्थुत्तं।
दव्वत्त - पदेसत्तं, पमेयत्तं अगुरुलहुत्तं॥72॥

632. चेयणाचेयणो तह, मुत्तिआमुत्तिओ दु विसेसगुणा।
सामण्णा सजादीइ, विजादीए हंदि विसेसा॥73॥

जो द्रवित होता था, होता है और होगा वह निश्चय से द्रव्य जानना चाहिए। गुण व पर्यायों का समूह द्रव्य है अथवा द्रव्य का लक्षण सत् है।।63।। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् जानना चाहिए। भूत, भविष्य व वर्तमान किसी भी काल में असत् संभव नहीं है।।64।। जो जीता था, जीता है और जीवेगा वह जीव है, चेतना लक्षण से युक्त जीव कहा गया है। तीनों कालों में जीव कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से युक्त पुद्गल है, वह पुद्गल अणु और स्कंध के भेद से दो प्रकार का है ऐसा जिनेंद्र देव द्वारा प्रणीत आगम से जानना चाहिए।।65-66।। गति करते हुए जीव व पुद्गलों के लिए गति कराने का हेतु धर्म द्रव्य है। ठहरते हुए जीव व पुद्गलों को ठहराने का हेतु अधर्म द्रव्य है।।67।। सभी द्रव्यों को अवस्थान देने वाला अवगाहन-हेतुत्व लक्षण युक्त आकाश द्रव्य है एवं वर्तना हेतुत्व लक्षण युक्त काल द्रव्य जानना चाहिए।।68।। काल को छोड़कर शेष पाँच अस्तिकाय जानने चाहिए। ये सभी शाश्वत हैं। जीव को छोड़कर सभी द्रव्य अजीव हैं। ऐसा जिनेंद्रदेव द्वारा कहा गया है।।69।। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। पुण्य व पाप से युक्त होने पर ये नव पदार्थ हो जाते हैं।।70।। सभी द्रव्यों, तत्त्वों, पदार्थों या अस्तिकायों में सभी प्रकार से सर्वत्र जीव ही उत्तम है।।71।। द्रव्य के सामान्य गुण छः जानने चाहिए–अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व और अगुरुलघुत्व।।72।। चेतन, अचेतन, मूर्तिक और अमूर्तिक ये द्रव्य के विशेष गुण हैं। अपनी जाति की अपेक्षा ये सामान्य गुण एवं विजाति की अपेक्षा विशेष गुण हैं।।73।।

633. भोसामी!मइसुणिदा,अदिसय-चंचलाजीव-परिणामा।
तेहिं परिणामेहिं, जीवाणं गुणट्ठाणाइं॥।74॥

634. कम्मि गुणट्ठाणम्मि दु,केरिसा परिणामा चिय जीवस्स।
मे हिदत्थं पहू! कह, तं सुणेदुं उच्छाही हं॥75॥

635. ओदइयो उवसमियो,खओवसमियो तह खयिगो भावो।
पारिणामियो पणहा, जीवाणं भो पियादेवी!॥76॥

636. णवरि पारिणामियो दु,णेव कम्मबंध-णिमित्तं कयावि।
असाहारण-भावा हु, होज्ज जीवस्स इमे सव्वा॥।77॥

637. चउविहभावेहि जहाजोग्गं गुणट्ठाणाणि जीवाणं।
ताणं भेया णेया, हिदत्थ-मागमाणुसारेण॥78॥

638. कम्माणं उदयादो, जे भावा ते ओदइया णेया।
सुरगदि-आइ-भेयादु एगवीस-भावा णाणीहि॥79॥

639. कम्माण - मुवसमादो, जे भावा ते ओदइ णेया।
ओवसमिय - सम्मत्तं, चारित्तं बेविहा इत्थं॥80॥

640. कम्माणं दु खयादो, जे भावा ते खइया णवविहा दु।
खइय-दंसणं णाणं, सम्मत्त-चरियं पणलद्धी॥81॥

641. घाइय-कम्मे णट्ठे, जे खइय-भावा णिप्पज्जंति ते।
मुत्ति-वहुं वरेदुं दु, णियामग-हेदू णादव्वा॥82॥

642. उदयाभावखयादो सव्वघाइ - सदवत्था - उवसमादु।
देसपयडीणुदयादु, भाव-खओवसमिया जे ते॥83॥

रानी पूछती है–हे स्वामी! मैंने सुना है कि परिणाम अत्यंत चंचल होते हैं और उन्हीं परिणामों से जीवों के गुणस्थान होते हैं।।74।। किस गुणस्थान में जीव के कैसे परिणाम होते हैं? हे प्रभु! मेरे हित के लिए कहिए। उसे सुनने के लिए मैं उत्साही हूँ।।75।। राजा कहते हैं–हे प्रियदेवी! जीवों के पाँच प्रकार के भाव जानने चाहिए– औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक भाव।।76।। ये सभी जीव के असाधारण भाव कहे जाते हैं। विशेषता यह है कि पारिणामिक भाव कभी भी कर्म बंध का निमित्त नहीं होते।।77।। अन्य चार प्रकार के भावों से ही जीवों के यथायोग्य गुणस्थान होते हैं। आत्महितार्थ आगम के अनुसार उनके भेद जानने चाहिए।।78।। जीव के कर्म के उदय से जो भाव होते हैं वे औदयिक भाव जानने चाहिए। ज्ञानीजनों के द्वारा देवगति आदि के भेद से वे इक्कीस जानने चाहिए।।79।। जो भाव कर्म के उपशम से होते हैं वे औपशमिक भाव जानने चाहिए। औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र–इस प्रकार वे दो प्रकार के होते हैं।।80।। जो भाव, कर्मों के क्षय से होते हैं वे क्षायिक भाव कहलाते हैं। वे नौ प्रकार के होते हैं–क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र क्षायिक लब्धि (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) ।।81।। घातिया कर्मों के नाश होने पर जो भाव उत्पन्न होते हैं वे क्षायिक भाव जानने चाहिए। मुक्ति वधु को वरण करने के लिए वह नियामक हेतु हैं।।82।। सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय, उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम और देशघाती प्रकृतियों के उदय से जो भाव होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव जानने चाहिए।।83।।

643. मदि-सुदोहि-मणपज्जय-चउणाणंच मदि-आइ-ति-कुणाणं।
चक्खु-अचक्खू ओही, दंसणं सम्मत्तं चरियं॥84॥

644. संजमासंजमो तह, दाण-लाह-भोगुवभोग-वीरिया।
अट्ठारस-विहाखओवसमियाभावाणादव्वा॥85॥(जुम्मं)

645. कम्माणं खओवसम-खयोदयोवसमाणं तह जो सो।
होज्जअवेक्खा-रहिदो,णेयोपारिणामिय-भावो॥86॥

646. पारिणामियो तिविहो, जीवत्तं भव्वत्त-मभव्वत्तं।
अणादीदु जीवेगे, बेभावा हि संविदिदव्वा॥87॥

647. मोह-जोग-णिमित्तेण, जीवस्स गुणट्ठाणं भो राणी!।
पढम-चदु-ठाणाइं दु, दंसणमोहेण वक्कमंति॥88॥

648. मिच्छत्तस्सुदयादो, मिच्छत्तगुणट्ठाणं णियमादो।
मिच्छत्तुदयेण विणा, तं असंभवो मिच्छ-ठाणं॥89॥

649. सम्मत्तादु पडंतो, अणंताणुबंधि-कसायेगस्स वि।
उदयादो सासादण-गुणट्ठाणं अप्पकालियं॥90॥

650. सम्ममिच्छपइडीए, उदयादु मिस्स-गुणट्ठाणं तत्थ।
ण मिच्चू आउबंधो, णो मरणंतिय-समुग्घादो॥91॥

651. दंसणमोहणीयस्स, अणंताणुबंधीण उवसमादो।
पण-सत्त-पइडीणवा,उवसम-सम्मत्तंणियमेण॥92॥

652. ताण सत्तपइडीणं, खयादो दु लद्धखइयसम्मत्तं।
पावदे मोक्खं तम्मि, भवम्मि वा तिदिये चदुत्थे॥93॥

653. अपच्चक्खाणुदयादु,होदि अविरद-सम्माइट्ठि-ठाणं।
चदुत्थ-गुणट्ठाणम्मि,णेवचियकिंचिविचारित्तं॥94॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पयर्यज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगावधि, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र, संयमासंयम, क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य। इस प्रकार अट्ठारह प्रकार के क्षायोपशमिक भाव जानने चाहिए।।84-85।। जो भाव कर्मों के क्षय, क्षयोपशम, उदय व उपशम की अपेक्षा से रहित होते हैं वे पारिणामिक भाव कहलाते हैं।।86।। पारिणामिक भाव तीन प्रकार के होते हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। अनादिकाल से जीव में दो ही भाव जानने चाहिए जीवत्व और भव्यत्व व अभव्यत्व में से एक।।87।। हे रानी! मोह और योग के निमित्त से जीव के गुणस्थान होते हैं। प्रथम चार गुणस्थान दर्शन मोहनीय से उत्पन्न होते हैं।।88।। मिथ्यात्व के उदय से नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्व के उदय के बिना यह मिथ्यात्व गुणस्थान असंभव है।।89।। सम्यक्त्व से गिरते हुए भी अनंतानुबंधी कषाय में किसी एक के उदय से सासादन गुणस्थान होता है वह अल्पकालिक (अधिकाधिक 6 आवली का) होता है।।90।। सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्र गुणस्थान होता है। वहाँ आयु का बंध, मृत्यु और मारणांतिक समुद्घात भी नहीं होता।।91।। (अनादि मिथ्यादृष्टि के) एक दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) व चार अनंतानुबंधी अर्थात् पाँच प्रकृतियों के उपशम से या (सादि मिथ्यादृष्टि के) तीन दर्शनमोहनीय व चार अनंतानुबंधी कषाय अर्थात् सात प्रकृतियों के उपशम से नियम से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है।।92।। उन्हीं सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भव से, तीसरे भव से या चौथे भव से नियम से मोक्ष फल प्राप्त करता है।।93।। अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान होता है; इस चौथे गुणस्थान में कदापि भी चारित्र नहीं होता।।94।।

654. पच्चक्खाणुदयादो, अपच्चक्खाणाणुदयादो जीवो।
थोववदी जत्थ देस-संजम-गुणट्ठाणं खलु तं॥95॥

655. देसविरदगुणट्ठाण-वत्ती तसजीवघादविरत्तादु।
विरदाविरदो भणिदो, एयदेसमोक्खमग्गी तह॥96॥

656. पच्चक्खाणणुदयादु, संजलणकसाय-तिव्वुदयादु जो।
महव्वदी चिय पमत्त-विरद-गुणट्ठाणवत्ती सो॥97॥

657. णियप्पझाणि-मुणिस्स दु, संजलणकसाय-मंदुदयादो हु।
अपमत्त-विरद-ठाणं, अंतोमुहुत्तो ठिदी तस्स॥98॥

658. अपमत्तविरदो मुणी, णिव्विअप्प-धम्मज्झाण-जुत्तो य।
खणे खणे णिज्जरदे, असंखेज्ज-पावपइडीओ॥99॥

659. चरित्त-मोहणीयस्स, पइडीण कुणदि उवसमं खयं वा।
सेणीइ पढमठाणं अट्ठम-मपुव्वविसुद्धिजुदं॥100॥

660. होंति अपुव्व-भावा हु, सया अपुव्वापुव्व-विसुद्धीए।
सु-सम-विसम-समयवत्ति-मुणीणसंभवाभावाते॥101॥

661. भिण्ण-समयवत्तीणं, णाणाविहा खलु होंति परिणामा।
एग-समयवत्तीणं, सद्दस-विसद्दस-परिणामा॥102॥(जुम्मं)

662. एग-समयवत्ती खलु, जह संठणादीहिं णियट्टंते।
तह परिणामेहिं ते, णो णियट्टंते अणिविट्टी॥103॥

663. सद्दस-परिणामा सय, होंति एग-समयवत्ति-जोगीणं।
भिण्ण-समयवत्तीणं, णियमेणं भिण्ण-परिणामा॥104॥

664. जत्थ लोहो कसाओ, अइसुहुमो य अण्ण-कसाओ णेव।
सुहुमसंपराओ सो, उहयसेणीसु होज्ज णियमेणं॥105॥

प्रत्याख्यान के उदय और अप्रत्याख्यान के अनुदय से जीव देशव्रती होता है। वह देश संयम गुणस्थान जानना चाहिए।।95।। देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव त्रस जीवों के घात से विरक्त होने से (और स्थावर जीवों के घात से अविरत होने) से विरताविरत कहलाता है। वह एक देश मोक्षमार्गी कहा जाता है।।96।।प्रत्याख्यान के अनुदय से और संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से जो महाव्रती होता है वह प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती कहलाता है।।97।। संज्वलन कषाय के मंद उदय से निजात्म ध्यानी मुनिराज के अप्रमत्तविरत गुणस्थान होता है। उस गुणस्थान की स्थिति अंतर्मुहूर्त जाननी चाहिए।।98।। अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज निर्विकल्प धर्मध्यान से युक्त होते हैं। क्षण-क्षण में असंख्यात पाप प्रकृतियों की निर्जरा होती है।।99।। जो चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम या क्षय करता है वह श्रेणी के प्रथम स्थान अपूर्व विशुद्धि से युक्त, अष्टम गुणस्थान अपूर्वकरण को प्राप्त करता है।।100।। सदा अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि से जीव के अपूर्व परिणाम होते हैं। सम समयवर्ती वा विषम समयवर्ती मुनिराजों के वे भाव संभव हैं। यहाँ भिन्न समयवर्ती मुनिराजों के निश्चय से नाना प्रकार के परिण ाम होते हैं। एक समयवर्ती मुनिराजों के सदृश वा विसदृश परिणाम होते हैं।।101-102।। एक समयवर्ती जीव जिस प्रकार संस्थान आदि की अपेक्षा निवृत्ति (भेद) को प्राप्त होते हैं उस प्रकार वे जीव परिण ामों की अपेक्षा भेद को प्राप्त नहीं होते अतः यह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहलाता है।।103।। एक समयवर्ती योगियों के परिणाम सदा सदृश होते हैं एवं भिन्न समयवर्ती ऋषिराजों के परिणाम नियम से भिन्न ही होते हैं।।104।। जहाँ लोभ कषाय अतिसूक्ष्म रह जाती है और अन्य कषाय नहीं होती वह सूक्ष्मसांपराय नामक गुणस्थान जानना चाहिए। यह गुणस्थान नियम से क्षपक व उपशम दोनों श्रेणियों में होता है।।105।।

665. जत्थ दु मोहणीयस्स, असेसपइडी उवसमिदा णियमा।
तं हि उवसंतकसाय-णाम-गदराय-गुणट्ठाणं॥106॥

666. सुहुमसंपरायम्मि, खयिय मोहणीयस्स सव्वपइडी।
जं होदि गुणट्ठाणं, खीणमोहं णादव्वं तं॥107॥

667. अत्थ हु बे-आवरणं, खयिदूणं णासेदि अंतरायं।
पुणो सजोगकेवली, होदि अणंतचदुक्कजुत्तो॥108॥

668. चउद्दह-ठाण-यालो, पणलहुअक्खरुच्चारण-यालोव्व।
जोगवज्जिद-केवली, अजोगकेवली चिय भणदे॥109॥

669. भो देवी! पीदीए, तए सुणिदा गुणट्ठाण-वत्ता हु।
णियमादु पुण्णवंता, तुमं लहिस्ससि सिवं सिग्घं॥110॥

670. पीदीए सद्धाए, सुणेदि जिणवयणं अप्पमादेण।
आसण्णभवी जो सो, पावदि मोक्खं थोग-भवेसु॥111॥

671. इत्थं समये समये, धम्म-कम्म-तच्च-रायणीदीणं।
सुवत्ता ताण मज्झे, हिदत्थं च पुण्णवंताणं॥112॥

672. एयदा सव्वरीए, अंत-पहरे पस्सीअ सुसिविणाणि।
हरिसंता पहादम्मि, गच्छेज्ज जिणालयं थुदीइ॥113॥

673. जिणपूयणं कडुअ सा, पफुल्लिदा णिग्गंथ-उवदेसेण।
अणंतरं दु पुच्छीअ, फलाणि सग-पस्सिद-सिविणाण॥114॥

674. हे पुत्ती! लहिस्सेसि, उत्तम - सेट्ठ - पुण्णवंतं पुत्तं।
मुणिवर-ओहिणाणिणा, इत्थ-मुप्पालिदाणि फलाणि॥115॥

675. तव पदी अवि अइपुण्णवंतो चरमसरीरी धम्मिट्ठो।
कुणेह पुण्ण-कज्जाणि, पुण्णं विणा भवसोक्खंणो॥116॥

676. भो पुण्णवंत-राणी!, खयेज्ज तुमं सव्व-असुहकम्माणि।
करेज्ज सुहकम्माइं, तिजोगाण सुहपवित्तीए॥117॥

जहाँ मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियाँ उपशमित हो जाती हैं वह नियम से उपशांत कषाय नामक वीतराग गुणस्थान कहलाता है।।106।। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सर्व प्रकृतियों का क्षय करके जो गुणस्थान होता है वह क्षीणमोह गुणस्थान जानना चाहिए।।107।। यहाँ दो आवरण (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) का क्षय करके जीव अंतराय कर्म का क्षय करता है। पुनः वह अनंत चतुष्टय से युक्त सयोग केवली होता है।।108।। चौदहवें गुणस्थान का काल पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना जानना चाहिए। योग से रहित केवली अयोग केवली कहलाते हैं।।109।। अहो देवी! तुमने प्रीतिपूर्वक गुणस्थान की वार्ता सुनी है। नियम से तुम पुण्यवती हो और शीघ्र मोक्ष प्राप्त करोगी।।110।। जो श्रद्धा से प्रीतिपूर्वक जिनेंद्र वचनों को प्रमाद रहित होकर सुनता है वह आसन्नभव्य जीव स्तोक भवों में मोक्ष प्राप्त करता है।।111।। इस प्रकार उन पुण्यात्माओं के मध्य समय-समय पर धर्म, कर्म, तत्त्व व राजनीति की, हित के लिए समीचीन वार्ता हुआ करती थी।।112।। एक बार रात्रि के अंतिम पहर में रानी ने शुभ स्वप्नों को देखा। प्रातः काल हर्षित होती हुई महारानी जिन स्तुति के लिए जिनमंदिर गई।।113।। उसने वहाँ जिनपूजा की एवं निर्ग्रन्थ गुरु के उपदेश सुनकर बहुत प्रफुल्लित हुई। अनंतर उसने अपने द्वारा देखे गए स्वप्नों का फल पूछा।।114।। तब उन अवधिज्ञानी मुनिराज ने इस प्रकार स्वप्नों के फल कहे—हे पुत्री! तुम उत्तम, श्रेष्ठ, पुण्यवान् पुत्र को प्राप्त करोगी।।115।। तुम्हारा पति भी अतिपुण्यवान्, चरम शरीरी व धर्मिष्ठ है। तुम सदैव पुण्य कार्य करो। पुण्य के बिना सांसारिक सुख भी प्राप्त नहीं होता।।116।। हे पुण्यवंता रानी! तुम्हें सभी अशुभ कर्मों का क्षय करना चाहिए। तीनों योगों की शुभ प्रवृत्ति से शुभ पुण्य कर्म करने चाहिए।।117।।

677. होज्ज अइ-आणंदिदा, जिणपूयाए गुरुवंदणेणं च।
सुहं अणुभवीअ पुत्त-लद्धीव मुणिवयणं सुणिच्चु॥118॥

678. असोगो-पुण्णवंतो, सगपुत्त-वत्तं सुणिय आणंदो।
णण्णहावादी मुणी, मुणिवयणं अमोहं णियमा॥119॥

679. साहु गब्भयालादो, लीणा पडिक्खणम्मि पडिदिवसम्मि।
जिणणामसिमरंताय, सुचिंतणेण सह सुकज्जेसु॥120॥

680. उज्झिदं विसयसोक्खं, तविदं जोगीव सुसक्काराणं।
रोहिणीइ उवसमित्तु, कसायादि-वियारी भावा॥121॥

681. सादि-णक्खत्तस्स जह, णीर-बिंदू हु मुत्ता सिप्पीए।
तह रोहिणीइ गब्भे, वररयणं व वड्ढीअ सुदो॥122॥

682. पडिदिणे जिणपूयणं, करीअ धरीअ जिणवयणं चित्ते।
णिग्गंथाणं थुदिं च, मंत-जवं तच्चचिंतणं च॥123॥

683. आहाराइ - चउविहं, दाणं दाएज्जा णिग्गंथाणं।
णवहाभत्तीए अवि, तदा अण्णतिविहसंघाणं॥124॥

684. सगपरिवारजणेहिं, साहम्मीहिं सह तित्थजत्तं च।
पडिदिवसे तियालम्मि, करीअ सामाइयं राणी॥125॥

685. पसंता सय पसण्णा, कहाओ सुणीअ पुण्ण - पुरिसाणं।
उच्छाहेणं गोरव-गाहाओ परक्कमिजणाण॥126॥

686. परोवयार - सुभावो, अप्पस्स दु पत्तेयं पदेसम्मि।
रोहिणी भासीअ चिय, सुगंधजुदा वसंदरिदू व्व॥127॥

687. सव्वसोक्खकारणं च, पइडी अणेगरम्मवण्णजुत्ता॥
सा वि अणेगसुहभाव - जुदा गुणसुगंधवड्ढगा य॥128॥

जिनपूजा व गुरु वंदना से रोहिणी बहुत आनंदित हुई। मुनि के द्वारा पुत्र प्राप्ति रूप वचन सुनकर उसे ऐसे सुख का अनुभव हुआ जैसे उसे पुत्र की प्राप्ति हो ही गई हो।।118।। पुण्यवान् राजा अशोक अपने पुत्र की वार्ता सुनकर आनंदित हुआ क्योंकि मुनि अन्यथावादी नहीं होते। मुनि के वचन नियम से अमोघ होते हैं।।119।। जबसे रानी ने गर्भ धारण किया तभी से वह प्रतिदिन प्रतिक्षण जिनेंद्रप्रभु के नाम का स्मरण करती हुई, शुभ चिंतन के साथ शुभ-प्रशस्त कार्यों में लीन रहने लगी।।120।। उस समय महारानी रोहिणी ने पुत्र को सुसंस्कार प्रदान करने हेतु विषय सुखों का त्याग कर दिया एवं कषाय आदि विकारी भावों का उपशम करके इस प्रकार तप किया मानो कोई योगी ही है।।121।। जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र में सीप में गिरी हुई जल की बूंद मोती बन जाती है उसी प्रकार रोहिणी के गर्भ में वह पुत्र श्रेष्ठ रत्न की भाँति वृद्धि को प्राप्त हो रहा था।।122।। वह महारानी रोहिणी प्रतिदिन जिनेंद्र भगवान् का पूजन करती, जिनेंद्रप्रभु के वचनों को चित्त में धारण करती, निर्ग्रन्थ गुरुओं की स्तुति, मंत्रों का जाप करती एवं तत्त्वचिंतन किया करती थी।।123।। निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नवधाभक्ति पूर्वक आहारदान आदि एवं अन्य तीन प्रकार के (आर्यिका, श्रावक व श्राविका) संघों के लिए भी दान दिया करती थी।।124।। उसने अपने परिवारीजन व साधर्मियों के साथ तीर्थयात्रा भी की। महारानी रोहिणी प्रतिदिन त्रिकाल में सामायिक करती थी।।125।। वह प्रशांत व प्रसन्न रोहिणी उत्साहपूर्वक पुण्य पुरुषों की कथा व पराक्रमी जनों की गौरव गाथा सुनती थी।।126।। रोहिणी के प्रत्येक आत्मप्रदेश में परोपकार का श्रेष्ठ भाव विद्यमान था। उस समय रोहिणी ऐसी लग रही थी मानो सुगंध से युक्त बसंत ऋतु ही हो।।127।। जैसे बसंत ऋतु में प्रकृति अनेक मनोहर वर्णों से युक्त एवं सभी सुखों का कारण प्रतिभासित होती है उसी प्रकार वह रोहिणी भी अनेक शुभ भावों से युक्त एवं गुण रूपी सुगंध को बढ़ाने वाली थी।।128।।

688. धम्मज्झाणेण ताइ, णवमासा गदा सिग्घं सुहेणं।
गगणपडंत-तारा व्व, तिव्वगामी-गरुलपक्खीव॥129॥

689. रवि - उदयोव्व पाईइ, णवमास - पच्छा सुदो उप्पण्णो।
संपुण्ण - कुरुजंगले, सुह - महुच्छवो उच्छाहेण॥130॥

मंदाक्रांता छंद

690. णंदो णेहो हणिहणि मिहो वड्ढदे उच्छवेणं,
तोसो वत्तं सुहगुणसिरी सव्वदा धम्मकज्जं।
तम्हा रज्जे कुणदु णयरे उच्छवं वेरहारिं,
जस्सिं खेत्ते हवदि ण कया तं च सुण्णं व खेत्तं॥131॥

691. जम्मादीणं कुणदि हि सय जीविमो उच्छवं सो,
जाणंतो किण्णु णहि सुहदा पावविड्ढीइ हेदू।
तित्थेसाणं सुहहियकरं गब्भजम्मादिगाणं,
उच्छाहेणं सुणियडभवी पुण्णविड्ढीइ णिच्चं॥132॥

उसके नव मास धर्मध्यानपूर्वक सुख से अति शीघ्र ऐसे व्यतीत हो गए मानो आकाश से कोई तारा टूटकर गिरा हो या गरुड़ पक्षी ने तीव्र गति से दूरी तय कर ली हो।।129।। नौ माह पश्चात् रोहिणी के पुत्र की उत्पत्ति हुई मानो पूर्व दिशा में सूर्य का ही उदय हुआ हो। संपूर्ण कुरुजांगल देश में उत्साह पूर्वक शुभ महोत्सव हुआ।।130।। उत्सव के माध्यम से लोगों में परस्पर आनंद व स्नेह की वृद्धि होती है। उनमें प्रतिदिन संतोष, आरोग्य, सुख, गुण, लक्ष्मी व धर्मकार्य की सदा संवृद्धि होती है; इसलिए प्रत्येक राज्य व नगर में बैर को नष्ट करने वाले उत्सव करने चाहिए। जिस क्षेत्र में उत्सवादि नहीं होते वह क्षेत्र शून्य के समान है अर्थात् उसे सूना ही समझना चाहिए।।131।। यह जीव सदा ही अपने जन्म, विवाह आदि का उत्सव करता है। वह ये लौकिक उत्सव, यह जानता हुआ भी करता है कि वे उसके लिए सुखप्रद नहीं हैं अपितु पापवृद्धि का ही हेतु हैं अतः निकट भव्यों को अपने पुण्य की वृद्धि के लिए तीर्थंकरों के सुखकर व हितकर गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों का उत्सव उत्साहपूर्वक करना चाहिए।।132।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक-रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में अशोक-रोहिणी की तत्त्व-वार्ता एवं पुत्रजन्म का वर्णन करने वाला पंचम नंद पूर्ण हुआ।

छट्ठ-णंदो

692. राणीइ घोसाविदं, सत्तदिणाणं सव्वाणं अभयं।
मुक्किदा हंदि बंदी, काराए खमाभावेणं॥1॥

693. पसुपक्खीहि पाविदं, सातंतं आणंदजुदा होही।
सत्तदिणंतं करिदं, सुपत्तदाणं असोगेणं॥2॥

694. दाइदो पुरक्कारो, सदासिदाणं करुणाचित्तेणं।
विसेसेण दाणादिं, कुणंति सुजणाणंद-समये॥3॥

695. तदा णिमित्तणाणिणा, पदायिदं विगदसोग-सुह-णामं।
गहलग्गं पस्सिदूण, चंदं णक्खत्त-जोगादिं॥4॥

696. पुत्तमुहं अवलोयिय, विसिट्ठ-सुही राणी महाराओ।
पुण्णवंतो सुपुत्तो, कस्स दु सोक्ख-कारणं णेव॥5॥

697. जदा पक्खि-पसूणं च, संताणो सोक्खकारणं णिच्चं।
अइ-पुण्णवंत-पुत्तं, पावित्ता को ण सुहं लहदि॥6॥

698. पिदर-अज्झावयेहिं, सुसक्कारो पदायिदो पुत्तस्स।
सुविहीए सुसमयम्मि, सुसिक्खा तह विगदसोगस्स॥7॥

699. बालो सुपुण्णवंतो, अप्पाउम्मि सुसक्कारं विज्जं।
सब्भदं सयायारं, सुकलाउ सिक्खं च पावेदि॥8॥

700. जो लहदे गुरुमुहादु, सिस्सो संजमं तहा सण्णाणं।
तस्स सिस्सस्स सरिसो, णो को वि इह भुवणत्तयम्मि॥9॥

701. सिस्सा सुपुण्णवंता, लहिय णियजीवणं गुरू वि धण्णं।
सेट्ठ गुरू णिच्छयेण, तिलोयादो उत्तमधणं व॥10॥

702. उत्तमगुरुसिस्साणं, विणिद्दिट्ठा सुगुणा य सत्थेसुं।
णिप्फलजीवणं तस्स, सुहगुणरहिदो जो को वि खलु॥11॥

रानी ने सात दिनों के लिए सभी प्राणियों के लिए अभय की घोषणा करायी एवं क्षमा-भाव पूर्वक कारागृह से बंदियों को मुक्त कर दिया गया।।1।। पशुपक्षियों ने भी स्वतंत्रता प्राप्त की एवं आनंद से युक्त हुए। राजा अशोक ने सात दिन तक सुपात्रों को दान दिया।।।2।। दया युक्त चित्त से अपने आश्रितों को पुरस्कार दिया। सही भी है सज्जन लोग आनंद के समय विशेष रूप से दान आदि करते हैं।।3।। तब निमित्तज्ञानी ने ग्रह, लग्न, चंद्र, नक्षत्र व योग आदि को देखकर पुत्र का शुभ नाम विगतशोक रखा।।4।। पुत्र के मुख को देखकर महारानी व महाराज विशिष्ट रूप से सुखी हुए। उचित ही है पुण्यवान् सुपुत्र किसके सुख का कारण नहीं होता अर्थात् सभी के सुख का कारण होता है।।5।। जब पशु-पक्षियों की संतान भी नित्य उनके सुख का कारण होती है तब अति पुण्यवान् पुत्र को प्राप्त करके कौन सुख प्राप्त नहीं करता? अर्थात् सभी प्रसन्न होते हैं।।6।।माता-पिता व अध्यापकों ने विगतशोक को श्रेष्ठ व सही समय पर श्रेष्ठ विधि से समीचीन शिक्षा व सुसंस्कार प्रदान किए।।7।। वह बालक पुण्यवान् कहलाता है जो अल्प-आयु में विद्या, सुसंस्कार, शिष्टाचार, सदाचार, सुकलाओं व शिक्षा को प्राप्त करता है।।8।। जो शिष्य गुरुमुख से सम्यग्ज्ञान व संयम प्राप्त करता है, उस शिष्य के समान तीनों लोकों में कोई भी नहीं है।।9।। सुपुण्यवान् शिष्यों को प्राप्त कर गुरु भी अपने जीवन को धन्य मानता है एवं शिष्य के लिए श्रेष्ठ गुरु तीनों लोकों से भी श्रेष्ठ उत्तम धन के समान हैं।।10।। उत्तम गुरु व शिष्यों के श्रेष्ठ गुण शास्त्रों में कहे गए हैं, जो कोई भी शुभ गुणों से रहित है उसका जीवन निष्फल है।।11।।

703. सो जण-णिअरो धण्णो, गामो णयरं णिच्छयेण अहवा।
जम्मि विज्जंते सेट्ठ-गुरू य आयंसियो सिस्सो॥12॥

704. विणयेणं सुगुरुचरण-अवलोयणेण गुणा सिस्सम्मि तह।
जह मिअंग-विड्ढीए, वड्ढेज्ज रयणायर-णीरं॥13॥

705. जलासयेण पउमं च, सोहदि सरोवरं सरसिरुहेहिं।
उहयेणं गामो सो, सक्कारहीणो विणा तेहि॥14॥

706. सगपुत्तस्स असोगो, रोहिणी तह उत्तमगुरू व तदा।
पढम-गुरू पिदरं चिय, मंगलजीवणाय पुत्तस्स॥15॥

707. पुत्तकिरण-दायगोव्व, रोहिणीए सह णिरब्भायासे।
असोगो रयणिंदोव्व, सेट्ठे णिक्कंडगे रज्जे॥16॥

708. सो णिवो सग-पयाए, सीयलत्त-सुह-संति-पदायगो य।
वियार-भाव-विहीणो, णिच्चं सुवियार-संजुत्तो॥17॥

709. जह कुणदि पवणो अमल-जलं पडिसाहरिदूण मलंतस्स।
राणी सुहवियारेहि, मणं तह सपाणवल्लहस्स॥18॥

710. उसहेण सह भरदोव्व, णियजणग-असोगेण विगदसोगो।
तिरयणेणं सोहिदो, जोगी केवली केवलेण॥19॥

711. असोगेण सपुत्तस्स, दायिदो संजमो सुसक्कारो।
दिप्पीअ असिधारा व, पुत्तम्मि पिदुस्स सक्कारं॥20॥

712. सुदे मूलसक्कारं, विज्जीअ दु आयंसिय-मादूए।
जदो गब्भादो ताइ, भाविदा सुहभावणा तस्स॥21॥

713. अणेगवण्णजुदादो, वसंतरिदू जह मणोहर-रम्मा।
धम्मवण्णजुत्तादो, तह सा सुह-हेदू सव्वाण॥22॥

वह जन समूह, ग्राम, नगर निश्चय से धन्य है जहाँ श्रेष्ठ गुरु और आदर्श शिष्य विद्यमान होते हैं।।12।। विनयपूर्वक श्रेष्ठ गुरु के चरणों के अवलोकन से शिष्य में गुण उसी प्रकार वृद्धिंगत होते हैं जिस प्रकार चंद्रमा की वृद्धि से समुद्र का जल वृद्धिंगत होता है।।13।। जैसे जलाशय से कमल और कमलों से सरोवर सुशोभित होता है एवं दोनों से गाँव सुशोभित होता है। उसी प्रकार श्रेष्ठ गुरु से आदर्श शिष्य व आदर्श शिष्य से श्रेष्ठ गुरु सुशोभित होते हैं एवं दोनों से वह क्षेत्र सुशोभित होता है; उनके बिना वह क्षेत्र संस्कारविहीन ही होगा।।14।। उस समय अपने पुत्र के लिए अशोक व रोहिणी उत्तम गुरु के समान थे। उचित ही है पुत्र के मंगलमय जीवन के लिए माता-पिता ही प्रथम गुरु होते हैं।।15।। श्रेष्ठ निष्कंटक राज्य रूप निरभ्राकाश में महाराज अशोक चंद्र के समान थे, जो रोहिणी के साथ पुत्र रूप किरण देने वाले थे।।16।। वे राजा अशोक अपनी प्रजा के लिए शीतलता, सुख व शांति प्रदान करने वाले थे। वह विकार भाव से रहित और नित्य सुविचार से युक्त थे।।17।। जिस प्रकार पावन जल, मल को दूर करके उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार महारानी शुभ विचारों के माध्यम से अपने प्राणवल्लभ के मन को स्वच्छ कर दिया करती थी।।18।। रत्नत्रय से सुशोभित योगी, केवलज्ञान से केवली जिन व वृषभनाथ से भरत के समान; अपने पिता अशोक से कुमार विगतशोक सुशोभित था।।19।। अशोक ने अपने पुत्र को संयम व सुसंस्कार प्रदान किए। जैसे तलवार में धार चमकती है उसी प्रकार पुत्र में पिता के संस्कार दिखाई देते थे।।20।। पुत्र में मूल संस्कार आदर्श माता के ही विद्यमान थे क्योंकि गर्भकाल से ही उसने पुत्र के लिए शुभ भावना भायी थी।।21।। जिस प्रकार अनेक वर्णों से युक्त होने से बसंत-ऋतु मनोहर व रमणीय प्रतीत होती है उसी प्रकार धर्म रूप वर्ण से युक्त होने से वह महारानी रोहिण ी सभी के लिए सुख का कारण थी।।22।।

714. महुकंखी छप्पया दु, आगच्छंते जह पुप्फसमीवे।
तह सव्वा सुगुणा चिय, आसयिदुं रोहिणि-समीवे॥23॥

715. णाणादु सुददेवीव, विहवादो य समवसरणलच्छीव।
पडिभासीअ सुराणी, चक्केसरीव य सत्तीए॥24॥

716. हत्थिणायपुरणयरी, सोहीअ दु साहिमाणि-हत्थिणीव।
ताइ पुण्णेण सव्वा, करीअ सुपुरिसट्ठं णारी॥25॥

717. को णेव विआणेदि दु, जहा राओ तहा पया सुणीदिं।
तम्हा पया वि धम्मी, पसण्णा संतुट्ठा णिवोव्व॥26॥

718. चंदविमाणं देक्खिज्जदे एणंगोव्व सच्छ-णीरम्मि।
तहा परोवयारी य, सयायारी राओव्व पया॥27॥

719. वसुइट्ठीव जदीणं, असोगस्स वसुपुत्ता गुणवंता।
हियकारिणी चउसुदा, सुधम्मीणं चउभावणा व्व॥28॥

720. णामा सुदाण कमसो, विगदो गदो जिदो विणट्ठ-सोगो।
धणपालो वसुपालो, गुणपालो लोयपालो तह॥29॥

721. वसुंधरा सुरकंता, लच्छीमदी सुप्पहा पुत्तीओ।
चउविहणिहीव सव्वा, आविहवीअ रायंगणम्मि॥30॥

722. पत्तेयं जीवो सय, पभुंजेदि णिय-सुपुण्ण-पाव-फलं।
असोगो रोहिणी इह, भवम्मि भुंजीअ पुण्ण-फलं॥31॥

723. सग्गे आखंडलोव्व, सोहीअ रायपरिवार-सहिदो दु।
पुव्वपुण्णोदयेणं, णिव-असोगो रोहिणीइ सह॥32॥

724. सा पया अवि भुंजीअ, संतिं लोगिगविहवं आणंदं।
सुहं च कप्पवासीव, पुण्णवंता विसिट्ठ-सुहाणि॥33॥

जैसे मधु के आकांक्षी भ्रमर पुष्प के समीप चले आते हैं उसी प्रकार सभी श्रेष्ठ गुण रोहिणी के समीप उसका आश्रय लेने के लिए आ गये थे।।23।। महारानी ज्ञान से सरस्वती, वैभव से समवसरण की लक्ष्मी और शक्ति से चक्रेश्वरी देवी के समान थीं।।24।। हस्तिनागपुर नगरी स्वाभिमानी हथिनी के समान शोभायमान थी। महारानी रोहिणी के पुण्य से वहाँ की सभी नारियाँ श्रेष्ठ पुरुषार्थ करती थीं।।25।। कौन इस नीति को नहीं जानता '' यथा राजा तथा प्रजा'' इसलिए राजा अशोक के समान प्रजा भी धर्मी, प्रसन्न व संतुष्ट थी।।26।। जैसे चंद्र विमान स्वच्छ नीर में चंद्र समान ही दिखाई देता है उसी प्रकार प्रजा भी राजा के समान परोपकारी व सदाचारी थी।।27।। यतियों की आठ ऋद्धियों के समान अशोक के आठ गुणवान् पुत्र थे एवं सुधर्मियों की चार भावनाओं के समान उसकी हितकारिणी चार पुत्रियाँ थीं।।28।।उनके पुत्रों के नाम क्रमशः इस प्रकार थे–विगतशोक, गतशोक, जितशोक, विनष्टशोक, धनपाल, वसुपाल, गुणपाल तथा लोकपाल।।29।। उनकी वसुंधरा, सुरकांता, लक्ष्मीमती व सुप्रभा नामक चार पुत्रियाँ थीं जो राजा के आंगन में चार प्रकार की निधि के समान उत्पन्न हुई थीं।।30।। प्रत्येक जीव सदा ही अपने पुण्य व पाप फल को भोगता है। इस भव में महाराज अशोक व महारानी रोहिणी अपने पुण्य फल को भोग रहे थे।।31।। पूर्व-पुण्य के उदय से महाराजा अशोक महारानी रोहिणी के साथ व राजपरिवार के साथ इस प्रकार सुशोभित थे जैसे स्वर्ग में देवराज सौधर्म इंद्र।।32।। वह पुण्यवान् प्रजा भी शांति, लौकिक वैभव, आनंद, विशिष्ट सुखों को भोग रही थी। वह प्रजा इस प्रकार सुख प्राप्त कर रही थी जैसे कल्पवासी देव।।33।।

725. एयदा मज्झंदिणे, सुरम्म-रिदूइ चिट्ठीअ णंदेण।
पासाद-छायणम्मिय,असोग-रोहिणि-पुण्णवंता।।34।।

726. तदा महुर-वत्ताए, मज्झे आवडीअ वसंततिलगा।
अंकम्मिअंकधाई,लहु-सुद-लोयपाल-माहरिय।।35।।

727. णंदवत्तं कुव्वीअ, पसण्णचित्तेण पमोदभावेण।
हियमिय-पियवयणेहिं,सज्जण-चित्त-हारगंतत्थ।।36।।

728. पासाद-सम्मुहे कइवया इत्थी पस्सीअ रायपहे।
अच्चंत-सोग-जुत्ता, अस्सुवंता आरडंता य।।37।।

729. विवइण्णा-केसी ता, विलवंता साउलया विवण्णा य।
सग-वच्छत्थलं तहा उदरं सिरं अवि तांडता दु।।38।।

730. उहय-करा थंगंता, णियवत्थाइं कयाणुकड्ढंता।
दया-उप्पायगंहिय-विदारणंकंदणंकुणीअ।।39।।(जुम्मं)

731. विम्हइअं दस्सं तं, पस्सिय उल्लोलं सुणिय पुच्छीअ।
णच्चविज्जाइ-णादू,सिण्णडग-छत्त-भाणीणंच।।40।।

732. रास-दुराविणीणं च, पणणाडयाणं णच्चं कुव्वंति।
इमाणिपणणाडयाणि,मुंचिदूणणाडयंकिमिदं।।41।।(जुम्मं)

733. तस्स चक्कि-भरदेणं,सिक्खाविदं पंचविहणाडयं च।
जस्स णामेणं अस्स, देसस्स भारदं सुणामं।।42।।

734. सब्भदा-सक्किदीणं, रक्खाए सुसक्कार-वड्ढणाय।
अवियारि-वित्तीए,विगासाएदुचित्तरंजणाय।।43।।(जुम्मं)

735. सत्त-सरा अस्सिं णो, सिंगारादी णवरसा चिय णेव।
णेव णियमिदा भासा,णेव तालं ण रुच्चदि मज्झ।।44।।

एक बार मध्याह्न काल में मनोहर वातावरण होने से राजा अशोक व रोहिणी आनंदपूर्वक महल की छत पर बैठे हुए थे।।34।। तभी उनकी मधुर वार्ता के मध्य उनके छोटे पुत्र लोकपाल को गोद में लेकर वसंततिलका नामक धाय माँ आयी।।35।। वहाँ वे प्रसन्नचित्त होकर प्रमोद भाव सहित हित-मित-प्रिय वचनों से सज्जन के चित्त का हरण करने वाली आनंदवार्ता करने लगे।।36।। उसी समय उन्होंने राजमहल के सामने राजपथ पर कुछ स्त्रियाँ देखीं जो अत्यंत शोक ये युक्त थीं, जिनके आँसू बह रहे थे और जो चिल्ला रही थीं।।37।। उनके केश बिखरे हुए थे। वे जोर से रो रही थीं, आकुलता से युक्त थीं। उनके चेहरे निस्तेज, कांतिहीन थे। वे कभी अपने वक्षस्थल, शिर व उदर को पीटतीं, कभी अपने दोनों हाथों को ऊपर करतीं, कभी अपने वस्त्रों को खींचती। वे स्त्रियाँ दया को उत्पन्न करने वाला और हृदय को विदारित करने वाला क्रंदन कर रही थीं।।38-39।। उस विस्मयकारी दृश्य को देखकर और शोकाकुलित स्त्रियों के रुदन शब्दों को सुनकर रोहिणी ने पूछा हे माता! नृत्य विद्या के जानने वाले सिग्नटक, छत्र, भानी, रास और दुराविनी इन पाँच नाटकों का नृत्य करते हैं। इन पाँचों नाटकों को छोड़कर यह कौन सा नाटक है? ।।40-41।। उन प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत; जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा उन्होंने सभ्यता व संस्कृति की रक्षा के लिए, सुसंस्कारों के वर्धन के लिए अविकारी मनोवृत्ति के विकास और मनोरंजन के लिए पाँच प्रकार के नाटकों की शिक्षा दी।।42-43।। ये क्या नाटक है, इसमें न तो सात (सा, रे, गा, म, प, ध, नि-षडज, ऋषभ, गांधार, गंधर्व, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद) स्वर हैं, न ही शृंगार आदि नव रस हैं, न ही इसमें भाषा की नियमितता है, न ही कोई ताल है और न ही मुझे यह रुचिकर प्रतीत होता है।।44।

736. विम्हयकारग-वयणं, आयण्णिदूणं भासिदं ताए।
भो पुत्ती! दुहिजणेहि, इदं महादुक्खं सोगो य॥45॥

737. किं सोगो किच्छं वा, णेव इमं विआणेमि भो धत्ती।
भो सुंदरी! आलवसु, किं तुमं उम्मायो होज्जा॥46॥

738. णाणस्स अजिण्णं वा, तव चिय वियड्ढिमाए विहवो वा।
सुंदरिमाए गव्वो, समिद्धीए अहंकारो दु॥47॥

739. पुण्णफलेणं अहवा, अहिमाणी पाविदूणं विहूदिं।
कामदेवोव्व सुंदर-पदिं लहित्ता य वायाला॥48॥

740. लोगोत्तर-सोहग्गं, जो णेव जाणेसि वेदणं सोगं।
पीडंकट्ठं दुक्खं, विलावणं विरसणं रुदणं॥49॥(चउक्कं)

741. कट्ठं सोग-दुहं जं, सव्व-लोयो विजाणेदि भासेसि।
तं णाडयं च भासा-सुर-रस-ताल-रहिदं हु तुमं॥50॥

742. जहत्थे एरिसो को, जो णो जाणेदि दुहं संसारे।
सहजा सरलचित्ता य, भासेमि अज्जमुप्पण्णा व्व॥51॥

743. सुणिय कोहजुदवयणं, रोहिणीइ मंद-मंद-हसंताइ।
भो धत्ती! णो कुविदा, खमसु मे पुच्छिदं अणुइदं॥52॥

744. किण्णु गुरुमुहादुमए, बहु-कला-विज्जा सिक्खिदा दु सुहा।
जह संगीद-णच्च-सर-विण्णाण-अक्खरणाण-कला॥53॥

745. गणिद-सिद्धंत-णिमित्त-जोदिस-वेज्जग-णाय-सुगुण-कला य।
मंत-तंत-वत्थुणाण-मज्झप्पादी पसत्थ कला॥54॥(जुम्मं)

746. जाणेमि इमा सव्वा, एरिसा कला विज्जा पण्णविदा।
गुणरूव-अहिणयंणो, केणवि गुरुणा किण्णु कयावि॥55॥

रोहिणी के आश्चर्यकारी वचन सुनकर उसने कहा हे पुत्री! इन दु:खी जनों के द्वारा यह महादु:ख व शोक किया जा रहा है।।45।।यह सुनकर रोहिणी ने पुन: कहा–हे धाय माता! ये शोक अथवा दु:ख क्या कहलाता है? मैं इसे नहीं जानती। तब धाय माँ कहती है–हे सुन्दरी! कहो, क्या तुम्हें उन्माद हो गया है या ज्ञान का अजीर्ण हो गया है या यह तेरे पांडित्य का वैभव है या तुझे सौंदर्य का गर्व है या तुझे समृद्धि का अहंकार है अथवा पुण्य के फलस्वरूप विभूति को प्राप्त कर घमंडी हो गयी है या कामदेव के समान सुंदर पति को प्राप्त कर तुझमें वाचालता आ गई है या यह तेरा लोकोत्तर सौभाग्य है जो तू वेदना, शोक, पीड़ा, कष्ट, दु:ख, रुदन, विलाप व क्रंदन को नहीं जानती।।46-49।। सर्व लोक, कष्ट-शोक व दु:ख को जानता है और तुम्हें यह भाषा, सुर, रस व ताल से रहित नाटक प्रतिभासित हो रहा है।।50।। यथार्थ में ऐसा कौन है जो संसार में दु:ख को नहीं जानता। तू बहुत सहज व सरल चित्त वाली है, ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे आज ही उत्पन्न हुई हो।।51।। धाय माँ के क्रोधयुत वचन सुनकर महारानी रोहिणी ने मंद-मंद मुस्कुराते हुए कहा–हे धाय माँ! आप क्रोधित न हों। यदि मैंने अनुचित पूछा हो तो मुझे क्षमा करें।।52।। किन्तु मैंने गुरु-मुख से बहुत-सी शुभ कला व विद्याएँ सीखीं जैसे संगीतकला, नृत्यकला, स्वरविज्ञान, अक्षरज्ञान कला, गणित, सिद्धांत, निमित्तज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, न्यायशास्त्र, शकुनकला, मंत्र-तंत्र, वास्तु ज्ञान व अध्यात्म आदि कला।।53-54।। इन सबको तो मैं जानती हूँ किन्तु जैसा सामने दिख रहा है उस रूप के गुण रूप अभिनय का उपदेश कभी गुरु के द्वारा नहीं दिया गया।।55।।

747. मएणसुणिदोपढिदो, सिक्खिदोणेवअहिणयोइदंवा।
तं पुच्छेमि दरिसेह, अणुग्गहिदूणं भो मादू!॥56॥

748. अग्गितत्तभूमीए, वरिसा व्व ताए महुर-वयणेहिं।
धत्ती संता सुमहुर-वयणं कस्स संति-हेदू ण॥57॥

749. सीलवंत-इत्थीए, मज्जादा भूसणं च कुलविज्जा।
हियमियपियवयणं तह, वच्छलेण धम्मभावजुदं॥58॥

750. कोमलंगि-महुरभासि-अच्चंत-सरल-हिअयि-रोहिणीए।
वयणं सुणित्तु कहिदं, वसंतधत्तीइ हे पुत्ती!॥59॥

751. इमा णेव को वि कला, ण विज्जा ण णाडयं ण संगीदं।
णेवअहिणयोणेवदु,मणरंजण-हेदूकिड्डाइ॥60॥(जुम्मं)

752. देहे महावाहीइ इट्ठे विजोगे मिच्चु-आदीदो।
चित्ते विसेस-अट्टज्झाण-जण्ण-दुहं होदि जदा॥61॥

753. रुदणं कंदणं तदा, सहजो होदि विलवणं आरडणं।
पावोदयम्मिहवेदि,दुहंसोग-कट्ठपीडादी॥62॥(जुम्मं)

754. कहदि सुणित्तु रोहिणी, णाकंदणं जाणेमि हे भद्दा!
णेव रुदणं दुहाइं, अवहाविदूणं पबंधेज्ज॥63॥

755. रोहिणी-धत्तीए य, सव्व-वत्तालावं सुणिय णिवेण।
कहंत-असोगेण दुह-अत्थं बोहावमि रोसेण॥64॥

756. जाणावमि तुज्झं हं, किं सोगो आकंदणं रुदणं च।
लोयपालं आहरिय, धत्ती करादो दु सहसत्ति॥65॥

757. पासाद-छायणादो, पडिक्खलाविदो हु अविवेगेणं।
कोहोणासदि बुद्धिं,विवेगंपदिट्ठंवत्तंच॥66॥(तिअं)

इस प्रकार का अभिनय मैंने न तो सुना, न पढ़ा और ना ही सीखा इसलिए ही मैं पूछ रही हूँ। हे माँ! कृपया कर मुझे बतलाइये।।56।। जैसे अग्नि से संतप्त भूमि पर वर्षा होने से वह शीतल हो जाती है उसी प्रकार उस रोहिणी के मधुर वचनों को सुनकर धाय माँ शांत हो गयी। उचित ही है वचन किसकी शांति के हेतु नहीं होते अर्थात् सभी के लिए शांतिकारक होते हैं।।57।। वात्सल्य और धर्मभाव से युक्त हित-मित-प्रिय वचन ही शीलवती स्त्री का आभूषण, मर्यादा व कुलविद्या होते हैं।।58।। पुनः कोमलांगी, मधुर-भाषिणी, अत्यंत सरलहृदयी रोहिणी के वचन सुनकर वसंततिलका ने कहा हे पुत्री! यह शोक कोई भी कला नहीं है, यह न कोई नाटक, न संगीत है और न कोई अभिनय है, न ही क्रीड़ा वा मनोरंजन का हेतु।।59-60।। देह में महा व्याधि होने पर, इष्ट वियोग होने पर वा मृत्यु आदि से जब चित्त में विशेष आर्तध्यान-जन्य दुःख होता है तब सहज ही रुदन, क्रंदन, विलाप व चिल्लाना होता है। पाप के उदय में ही दुःख, शोक, कष्ट व पीड़ा आदि होते हैं।।61-62।। धाय माँ के वचन सुनकर रोहिणी पुनः कहती है हे भद्रे! मैं आक्रंदन नहीं जानती, न मैं रुदन जानती हूँ और न दुःख जानती हूँ, वह क्या है? कृपया कर विस्तार से कहिए।।63।। रोहिणी और धाय माँ के संपूर्ण वार्तालाप को सुनकर; दुःख का अर्थ मैं तुझे समझाता हूँ, बताता हूँ कि शोक, आक्रंदन व रुदन क्या है, इस प्रकार क्रोध से कहते हुए राजा अशोक ने अचानक धाय माँ के हाथ से लोकपाल को ले लिया एवं अविवेक से राजप्रासाद की छत से नीचे गिरा दिया। सही ही है कि क्रोध बुद्धि, विवेक, प्रतिष्ठा और आरोग्य को नष्ट कर देता है।।64-66।।

758. देहरूवकाणणं दु, डज्झदि तिव्ववेगेण कोहग्गी।
संतिं चिअ अदयाए, सम्मत्तादी गुणा वि तहा॥67॥

759. सोसदे संतिणीरं, णिद्दहदि संतोसकट्ठं कोहो।
णस्सेदि खमाभावं, खंडदि पदिट्ठं सम्माणं॥68॥

760. अवच्छलेण विवादं, कुणंतो कोहो अविवेगेण तह।
उप्पज्जेदि पावगो, जह सुक्ककट्ठ-घसणेणं च॥69॥

761. माण-खंडिदे धीरे, णट्ठे तह अविवेगे उप्पण्णे।
असहिण्हु-भावम्मिसदि,उप्पज्जदि कोहोचित्तम्मि॥70॥

762. कोहरुक्खस्सुवेक्खामूलं मणोतावपुप्फाइं तइ।
तिव्व-किच्छकट्ठफलं, खंधो तहा संकिलेसस्स॥71॥

763. अक्कोदय-समये जह, रत्तिमवण्णी हवेदि आयासो।
तह कोहुदये णरस्स, आणणं णित्तिंसं रत्तं॥72॥

764. तिव्वकोहे वरिसंति, णयणाइ-सव्वंगादो कुभावा।
दुहिचित्ते णयणादो, तक्कालम्मि अस्सुपादं व॥73॥

765. जह पाविट्ठ-मित्ताणि, लंपड-पाडच्चरो जूअपेम्मी।
णिद्दयो मंदबुद्धी, अलसो चिय कूरपरिणामी॥74॥

766. भिज्झा कव्वा माणं, धम्मधंसग-किरिया कुवयणाइं।
अण्णाणंचकुचेट्ठा,जिणाणालोवोयकोहस्स॥75॥(जुम्मं)

767. असोगेण पक्खिवणे, पस्सिदु - मुच्छाहेणुक्कंठाए।
रोहिणी महाराणी, धावीअ पासाद-अधाए॥76॥

क्रोध रूप अग्नि तीव्र वेग से शरीर रूप वन को जला देती है। निर्दयतापूर्वक शांति एवं सम्यक्त्व आदि गुण भी नष्ट कर देती है।।67।। क्रोध शांति रूपी नीर को अवशोषित कर लेता है, संतोष रूपी लकड़ी को जला देता है, क्षमा भाव नष्ट कर देता है, प्रतिष्ठा व सम्मान को खंडित कर देता है।।68।। जैसे सूखी लकड़ी के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही अविवेकपूर्वक वात्सल्य भाव से रहित विवाद करते हुए क्रोध उत्पन्न होता है।।69।। मान के खंडित होने पर, धैर्य के नष्ट होने पर, अविवेक के उत्पन्न होने पर एवं असहिष्णु भाव के होने पर चित्त में क्रोध उत्पन्न होता है।।70।। क्रोध रूपी वृक्ष की जड़ उपेक्षा है, उस पर मनः संताप के पुष्प, तीव्र दुःख व कष्ट के फल एवं संक्लेशता का तना है।।71।। जिस प्रकार सूर्योदय के समय आकाश लाल रंग का होता है उसी प्रकार क्रोध के उदय होने पर मनुष्य का चेहरा करुणा विहीन लाल रंग का होता है।।72।। तीव्र क्रोध से नेत्रों आदि सर्वांग से कुभावों की वर्षा वैसे ही होती है जैसे चित्त के दुःखी होने पर तत्काल में अश्रुपात होता है।।73।। जैसे पापी व्यक्ति के मित्र लालची, चोर, द्यूतप्रेमी, निर्दयी, मंदबुद्धि, आलसी व क्रूर परिणामी होते हैं उसी प्रकार लोभ, माया, मान, धर्मध्वंसक क्रिया, कुवचन, अज्ञान, कुचेष्टा और जिनाज्ञा लोप क्रोध के मित्र हैं।।74-75।। राजा अशोक के द्वारा पुत्र लोकपाल के फेंके जाने पर महारानी रोहिणी उत्साह व उत्कंठा से महल की अधोदिशा में देखने के लिए दौड़ी।।76।।

768. दुह-हेदू रोहिणीइ, सोगस्स अहवा किं उप्पज्जेज्ज।
एवंविह चिंताउरा, देवा तत्थ कोलाहलिया॥77॥

769. आवत्तीअणिम्मिदं,पणवण्णि-सीहासण-विमल-दिव्वं।
लोयपालं ठवित्ता, तम्मि चिय अहिसेगं करीअ॥78॥

770. सिंधुविमलणीरेणं, पूरिदेहि पउम-आविअ-कलसेहि।
रयणजडिद-आहूसण-वत्थेहि सुसज्जिदोबालो॥79॥(तिअं)

771. देवेहि माणणीयं, पस्सिय लहुडिंभं पसण्णचित्तं।
पफुल्लिदा दु रोहिणी, पुच्छदि किं दुहमिदं देवो!॥80॥

772. पुण्णवंतस्स किंचिवि, ण अलद्धं ण असंभवो तिलोए।
ताइ अदिसयं पुण्णं, जाणित्ता कहदि भो देवी!॥81॥

773. सुहलेस्सा सुविकिरिया, सुहदेहो जह तह णेरइयादो।
खवगादो मिच्छत्तं, दुहं अइसय-पुण्णवंतादु॥82॥

774. इमाणि सव्व-दस्साणि, पस्सित्तु मंति-राय-पुरोहादी।
परिजणा पुरजणा वा,अदिसय-विम्हय-संजुत्ता दु॥83॥

775. पुव्वभवे रोहिणीइ,किद-अदिसय-पुण्णं पडिसंविक्खीअ।
सुपुण्णवंतस्स कं वि,वत्थुं दुल्लहं णतिलोए॥84॥(जुम्मं)

तभी रोहिणी को दु:ख अथवा शोक का कारण क्यों उपस्थित हुआ? इस प्रकार चिंतातुर नगर के देवता कोलाहल करते हुए उस स्थान पर आए; तथा उन्होंने पंचवर्णी निर्मल दिव्य सिंहासन रच दिया। पुन: लोकपाल को उस सिंहासन पर बैठाकर सागर के निर्मल जल से कमल पुष्पों से आवृत मुख वाले कलशों से उसका अभिषेक किया तथा उस बालक को रत्नजड़ित आभूषण व वस्त्रों से सुसज्जित किया।।77-79।। पर महारानी रोहिणी उत्साह व उत्कंठा से महल की अधोदिशा में देखने के लिए दौड़ी।।76।। तभी रोहिणी को दु:ख अथवा शोक का कारण क्यों उपस्थित हुआ? इस प्रकार चिंतातुर नगर के देवता कोलाहल करते हुए उस स्थान पर आए; तथा उन्होंने पंचवर्णी निर्मल दिव्य सिंहासन रच दिया। पुन: लोकपाल को उस सिंहासन पर बैठाकर सागर के निर्मल जल से कमल पुष्पों से आवृत मुख वाले कलशों से उसका अभिषेक किया तथा उस बालक को रत्नजड़ित आभूषण व वस्त्रों से सुसज्जित किया।।77-79।। रोहिण ी देवों के द्वारा सम्मानीय अपने छोटे पुत्र को प्रसन्नचित देख बहुत आनंदित हुई। पुन: पूछती है—हे देव! क्या ये ही दु:ख है।।80।। तब उस रोहिणी के अतिशय पुण्य को जानकर राजा अशोक कहते हैं—हे देवी! पुण्यवान् के लिए तीनों लोकों में न तो कुछ अलब्ध है और न ही कुछ असंभव।।81।। जिस प्रकार नारकी से शुभ लेश्या, शुभ विक्रिया और शुभ देह बहुत दूर होते हैं, क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले क्षपक मुनिराज से मिथ्यात्व बहुत दूर होता है उसी प्रकार अतिशय पुण्यवान् जीव से दु:ख बहुत दूर होता है।।82।। इन सभी दृश्यों को देखकर राजा, मंत्री, पुरोहित, परिजन और पुरजन इत्यादि अतिशय विस्मय से युक्त हुए एवं पूर्वभव में रोहिणी द्वारा किए गए अतिशय पुण्य को विचारने लगे। उचित ही है पुण्यवान् के लिए तीनलोक में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।।83-84।।

776. अहो भव्वुल्लो तुमं, अणुव्वदं सीलव्वदं पालेज्ज।
वदहीणो मण्णेज्जा, णेरइयोव्व पसूव अहवा॥85॥

777. णवरि यतिव्वकसायी, अवदि-असुहलेस्सजुदा णेरइया।
असुहाचियपरिणामा, विक्किरियाविअसुहाणियमा॥86॥(जुम्मं)

778. देवा सुरासुरिंदा, भोयमहिया भुंजंति पुण्णफलं।
पुव्वे तेहिं करिदं, सुचरिय-पालणं सत्तीए॥87॥

779. दव्व-वय-धारणादो, भावहीणा लहिदुं सुरं सक्का।
वदहीण-अइकसायी, केवलं असुहगदिं णियमा॥88॥

780. सव्वा णयरजणा तं, दिस्सं अवयज्झिय अइसंतुट्ठा।
मुत्तकंठेण ताए, पसंसीअ महापुण्णफलं॥89॥

अनुष्टुप छंद

781. पुण्णकज्जं फलं पुण्णं, पुण्णवंतं सुसाहणं।
विणा पुण्णं ण पावंति, तम्हा पुण्णं करेज्ज हि॥90॥

दोहा छंद

782. जवो महामंतस्स तह, सज्झाओ सत्थाण।
अणसणं च सुहकारणं, वंदणं सुतित्थाण॥91॥

783. दाणं वरपत्ताण णो, जिणपूयं ण करेदि।
भत्तिं पंचगुरूण णो, भवुवहीइ बुड्डेदि॥92॥

अहो भव्यजीव! तुम्हें अणुव्रत और शीलव्रत का पालन करना चाहिए। व्रत से हीन व्यक्ति नारकी अथवा पशु के समान मानना चाहिए। विशेषता यह है कि नारकी (तीव्र कषायी) अव्रती व अशुभ लेश्या से युक्त होते हैं। उनके परिणाम तीव्र अशुभ और नियम से अशुभ विक्रिया होती है।।85-86।। देव, सुरेंद्र, असुरेंद्र, भोगभूमिया सभी पुण्य फल को भोगते हैं। पूर्वभव में उनके द्वारा शक्तिपूर्वक चारित्र का पालन किया गया।।87।। द्रव्य व्रत धारण करने से भावहीन व्रती भी देवगति प्राप्त कर सकते हैं। व्रत से हीन तीव्र कषायी नियम से केवल अशुभगति को प्राप्त करते हैं।।88।। सभी नगरजन भी उस दृश्य को देखकर अति संतुष्ट हुए एवं उस महारानी रोहिणी के महापुण्य फल की मुक्तकंठ से प्रशंसा की।।89।। उचित ही है पुण्यकार्य, पुण्य फल, पुण्यवान् जीव एवं समीचीन साधन को जीव बिना पुण्य के प्राप्त नहीं करता। अतः सदैव ही पुण्य करना चाहिए।।90।। महामंत्र का जाप, शास्त्रों का स्वाध्याय, उपवास और तीर्थों की वंदना ये चार पुण्य के कारण हैं।।91।। जो जीव उत्तम पात्रों को दान नहीं देता, श्री जिनेंद्रप्रभु की पूजा नहीं करता और पंच गुरुओं (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु) की भक्ति नहीं करता, वह संसारसागर में डूब जाता है।।92।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक-रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में रोहिणी व लोकपाल के पुण्य के माहात्म्य का वर्णन करने वाला षष्ठ नंद पूर्ण हुआ।

सत्तम-णंदो

784. वणपालो आवडीअ, सीहासणारूढ-असोग-णियडे।
एयदा रायसहाइ, आणंदेण बद्धंजलीइ॥1॥

785. भूवदिं पणमिदूणं, पुण पुण णिवेदीअ महुरसद्देहि।
धण्ण-णिवो धण्ण-पया, धण्णा य सव्वणयरवासी॥2॥

786. सदेसस्स रायहाणि-हत्थिणायपुरस्स पुव्वदिसाए।
बहुसुरम्म-उववणो दु, चंपासोग-सत्तपण्णीहि॥3॥

787. रसालरुक्खेहि जुत्त-णंदणवण-णियडे आगरिसगो य।
तत्थ एलादाडिमी, खज्जूर-पूगाइ-रुक्खादु॥4॥ (जुम्मं)

788. हं अइविम्हियचित्तो, तत्थ गच्छिय सद्दतीदाणंदो।
लद्धणिहि-दरिद्दोव्वय, भयवो व्व पुढविपालगो भो!॥5॥

789. छुहाउरो जह जहेच्छ-भोयणं तिसाउरो महुर-णीरं।
णेत्तहीणं च णेत्तं, समोलुग्गो वत्तं लहित्तु॥6॥

790. पावदि जं आणंदं, तहेव पाउणमि अहो धण्णो हं।
णो समत्थो भो पहू! वण्णेदुं हु तं आणंदं॥7॥ (जुम्मं)

791. तव पुण्णोदयादो हि, ओहिणाणसंजुदा उज्जाणम्मि।
चारण-इड्ढिधारी य, जुगलमुणिवरा गगणगामी॥8॥

792. सुहणामधारगा चिय, रूवकुंभो सुवण्णकुंभो मुणी।
ठिदा सुधम्मज्झाणे, दियंबरा पुढवीदेवा य॥9॥

793. आयण्णिय वत्तमिदं, आणंदो णिस्सीमो दु रायस्स।
उट्ठिय सगासणादो, णमंसीअ तं सुदिसं गडुअ॥10॥

794. रायेणं अल्लविदं, मण-वयण-काय-जोगत्तयं कडुअ।
अइणिम्मलं भयवदा, भवसायर-सोसगा जयंतु॥11॥

एक बार राजसभा में सिंहासन पर आरूढ़ राजा अशोक के निकट आनंदपूर्वक हाथ जोड़कर वनपाल आया।।1।। राजा को नमस्कार कर उसने मधुर शब्दों से पुनः पुनः निवेदन किया– हे राजन्! आप धन्य हैं, आपकी यह प्रजा धन्य है, सभी नगरवासी धन्य हैं।।2।। अपने देश की राजधानी हस्तिनागपुर नगरी की पूर्व दिशा में चंपक, अशोक, सप्तपर्णी व आम्र वृक्षों से युक्त नन्दनवन के निकट बहुत मनोहर व आकर्षक उपवन है। वहाँ ऐला, दाड़िम, पूंगीफल, द्राक्षा आदि के सघन वृक्ष हैं।।3-4।। वहाँ जाकर मेरा चित्त अति विस्मय से युक्त हो गया। मेरे लिए भगवान् के समान हे पृथ्वीपालक! जैसे किसी दरिद्र ने निधि प्राप्त कर ली हो उस प्रकार का शब्दातीत आनंद मुझे प्राप्त हुआ।।5।। एक क्षुधातुर भोजन को, तृषातुर मधुर नीर को, नेत्रहीन नेत्रों को एवं रोगी आरोग्य को प्राप्त कर जिस आनंद की अनुभूति करता है उसी आनंद की अनुभूति मैं कर रहा हूँ, अहो! मैं धन्य हूँ। हे प्रभु! उस आनंद का वर्णन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ।।6-7।। आपके पुण्य के उदय से ही उद्यान में अवधिज्ञान से युक्त, चारणऋद्धिधारी, गगनगामी युगल मुनिराज पधारे हैं।।8।। उनके शुभ नाम रूपकुंभ व स्वर्णकुंभ हैं। वे पृथ्वी के देवता दिगंबर मुनिराज वहाँ शुभ धर्मध्यान में स्थित हैं।।9।। इस वार्ता को सुनकर राजा को निःसीम आनंद हुआ। उसने अपने सिंहासन से खड़े होकर उसी दिशा में आगे जाकर मुनिराज को परोक्ष में नमस्कार किया।।10।। राजा ने मन, वचन व काय तीनों योगों को अति निर्मल करके कहा–हे भगवन्! हे भव सागर के शोषक आपकी जय हो।।11।।

795. जयंतु पुण्णकारगा, अहणासगा भवतारगा जयंतु।
भव्वपउमदिवायरा, रोय - सोग - हारगा जयंतु॥12॥

796. पुण्णचंदोव्वजदिणो, कुमुइणीणवभत्तिजुत्तपुरिसाण।
णंमसामि विसुद्धीइ, अणुरायेण तिव्वभत्तीइ॥13॥

797. मुणिदंसणेण खयदे, पावं वंदणेण चित्त-विसुज्झं।
णिज्जराइ सिव-हेदू, कमेण कित्तणं थुदी ताण॥14॥

798. मोत्तिअ-रयण-हारं दु, पुरक्कारे दायिदं कंधराइ।
णिवेण वणपालगस्स, महामंती तदा देविदो॥15॥

799. अहो महामंतिवरो! करावह घोसणं पुण्णरज्जम्मि।
सुवे पहादयालम्मि, रायकुडुंबेण सह पया वि॥16॥

800. सिरिमुणिवरदंसणाय, पावक्खयिदुं पुण्ण-मज्जेदुं च।
संजमाणुमोदणाय, रीएज्जसोहग्ग-वड्ढीइ॥17॥(जुम्मं)

801. लद्धलोयणंधोव्व य, लद्धमिट्ठ-सुभोयणछुहाउरोव्व।
धम्मी णंदिदा सुणिय, मुणिवंदणाइ समायारं॥18॥

802. जुगलमुणिवंदणाए, रायपरिवारेण सह सव्वपया।
गच्छीअ जत्थुत्तुंग - चउजिणालया सिहरजुत्ता॥19॥

803. सुरयणजडिद-कलहोय-कलसजुदापंचवण्णिधयाहिते।
मंगल्ला सहिदा वसु-मंगलदव्व - पाडिहारेहि॥20॥

804. महाभूदि-जिणालये, अइभूदि-विहूदि-अंबरतिलगेसु।
तेसुं विराइद-रयण-णिम्मिद-वीयराय-बिंबाणि॥21॥

805. तत्थ समट्ठं हरिदुं, देहतावं मंदसुगंधपवणं।
फुरीअ सहस्सा धया, पोक्कंता व गगणे भव्वा॥22॥

हे पुण्यकारक! पापों को नाश करने वाले, संसार से तारने वाले मुनिवर! आपकी जय हो। हे भव्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान व रोग-शोक को दूर करने वाले यतिवर! आपकी जय हो।।12।। भक्ति से युक्त पुरुष रूपी कुमुदनियों के लिए जो यति पूर्ण चंद्र के समान हैं उन्हें तीव्र भक्ति के अनुराग से मैं विशुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।13।। मुनिराज के दर्शन से, वंदन से पापों का क्षय होता है, चित्त विशुद्ध होता है। उन मुनियों का कीर्तन, स्तुति क्रम से निर्जरा व मोक्ष का कारण है।।14।। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक अपने गले का मोती व रत्नों का हार वनपालक को दिया तथा महामंत्री को आज्ञा दी।।15।। अहो महामंत्रीवर! संपूर्ण राज्य में घोषणा कराओ कि कल प्रातःकाल राजपरिवार के साथ प्रजाजन भी अपने पापक्षय के लिए, पुण्य के अर्जन के लिए, संयम की अनुमोदना और सौभाग्य की वृद्धि के लिए श्री मुनिवर के दर्शन के लिए चलें।।16-17।। मुनि वंदना का समाचार सुनकर धर्मीजन उस प्रकार आनंदित हुए जैसे अंधे व्यक्ति को नेत्र ही प्राप्त हो गए हों अथवा भूख से पीड़ित व्यक्ति को श्रेष्ठ मिष्ट भोजन ही प्राप्त हो गया हो।।18।। राजपरिवार के साथ समस्त प्रजा युगल मुनिराज की वंदना के लिए गयी; जहाँ पर उत्तुंग शिखर युक्त चार जिनालय स्थित थे।।19।। वे जिनालय रत्न जड़ित स्वर्ण कलश एवं पंच- वर्णी ध्वजा से युक्त थे। वे मंगलमय जिनमंदिर अष्ट मंगल द्रव्य व प्रातिहार्यों से युक्त थे।।20।। उन अतिभूति, महाभूति, विभूति और अंबरतिलक नामक जिनमंदिरों में रत्नों से निर्मित वीतराग जिनबिम्ब विराजमान थे।।21।। वहाँ शरीर के ताप को दूर करने में समर्थ मंद सुगंधित पवन चल रही थी एवं आकाश में लहराती हुई हजारों ध्वजायें ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो जिनदर्शन के लिए भव्य जीवों को बुला ही रही हों।।22।।

806. भासीअदु पंचवण्णि - वत्थजुद - णच्चंत - देवंगणाव।
धयाघंटियाण कणो, णिउर-सरोव्व सुरंगणाणं।।23।।

807. सुद्धप्पज्झाण - लीण-मुणी विराइदा वंदिदा णिवेण।
पुणपुणपणमिदूणंच, कुव्विदादु सुहजोगि-भत्ती।।24।।

808. रयणत्तय - संजुत्तं, तियजोगाणं च धारगं जोगिं।
थुवमिइग-बे-ते-आइ-मासाणंउववास-जुत्तं।।25।।

809. लीणं अप्पज्झाणे, गिम्हे गिरिसिहरे ठिदं झाणिं च।
सीदे सरिदा - तडम्मि, रुक्खमूले वरिसायाले।।26।।

810. अप्पगुणं पावेदुं, कम्मिंधण-दाहगं च णमंसामि।
बारसंग-धारगंदु, रदंधम्मसुक्कज्झाणम्मि।।27।।(जुम्मं)

811. जम-णियमाणधारगं, पणमामिसुक्क-लेस्सा-संजुत्तं।
णाणिं इड्ढि-धारगं, तप्परं कम्मं णासेदुं।।28।।

812. मुणिरायंणमंसामि, विहीणंविसय-कसाय-पावादो।
णाणज्झाणतवेसुं, लीणं सय मोहक्खयेदुं।।29।।

813. तव सुहणाम - चिंतणं, कित्तणं सिमरणं मेत्तं वि सया।
धोवदे पावमलं च, भव्वप्पं णिम्मलं करिदुं।।30।।

814. पूयच्चणे पसंसे, णिंदा - ताडण - घोर - उवसग्गेसु।
समत्तभावधारगं, धीरं जोगिं परियंदामि।।31।।

815. पविट्टि-मग्गो गोणो, णिवट्टि मग्गो खलु पहाणो जस्स।
पुण्ण-पाव-सव्वाणं, कुणदि कम्म-णिरोहं धीए।।32।।

816. पुढवीए देवं सिव-मग्ग-सिक्खगं णमामि सेट्ठ-गुरुं।
मूगुवदेसगंसया, अयारण-बंधुं भव्वाणं।।33।।(जुम्मं)

817. तव अप्पविसुद्धीए, वइरं विजहंते सव्व-जंतू वि।
मिहो वच्छलं कुणंति, वंदे तुमं सगप्पुवलद्धीए।।34।।

अथवा वे ध्वजाएँ ऐसी प्रतिभासित हो रही थीं मानों पंचवर्णी वस्त्र सहित देवांगनाएँ ही नृत्य कर रही हों। ध्वजा की छोटी-छोटी घंटियों की ध्वनि ऐसी लग रही थी मानो देवांगनाओं के पायलों की ध्वनि ही हो।।23।। राजा अशोक ने शुद्धात्मध्यान में लीन मुनिराजों की वंदना की एवं पुनः पुनः प्रणाम करके शुभ योगी भक्ति की।।24।। अहो! रत्नत्रय से संयुक्त, तीन योगों के धारक, एक-दो-तीन आदि महिनों के उपवास करने वाले योगीराज को मैं नमस्कार करता हूँ।।25।। आत्मध्यान में लीन, ग्रीष्मकाल में गिरि शिखर पर, शीतऋतु में नदी के तट पर व वर्षाकाल में वृक्ष के मूल में स्थित ध्यानी को, कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाले, द्वादशांग के ज्ञाता, धर्म व शुक्लध्यान में रत मुनिराज को आत्मगुणों की प्राप्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूँ।।26-27।। यम-नियमों के धारक, शुक्ल लेश्या से संयुक्त, ज्ञानी, ऋद्धिधारक व कर्मनाश हेतु तत्पर मुनिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।।28।। विषय-कषाय-पाप से विहीन एवं मोह-क्षय के लिए सदैव ज्ञान, ध्यान व तप में लीन मुनिराज को नमस्कार करता हूँ।।29।। हे मुनिवर! आपके नाम मात्र का स्मरण, चिंतन व कीर्तन सदा भव्यात्मा को निर्मल करने हेतु पाप मल को प्रक्षालित करता है।।30।। जो पूजा, अर्चना, प्रशंसा में वा निंदा, ताड़न व घोर उपसर्गों में समत्वभाव धारण करते हैं उन धीर-योगीश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।।31।। जिनके लिए प्रवृत्ति मार्ग गौण है और निवृत्ति-मार्ग प्रधान है, जो पुण्य-पाप सभी कर्मों का बुद्धिपूर्वक निरोध करते हैं, जो धरती के देवता हैं, मोक्षमार्ग के शिक्षक, श्रेष्ठ गुरु, मूक उपदेष्टा हैं, भव्यों के नियम से अकारण बंधु हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।।32-33।। हे प्रभु! आपकी आत्मविशुद्धि से सभी पशु-पक्षी भी बैर त्याग देते हैं, आपस में वात्सल्य भाव रखते हैं। स्वात्मोपलब्धि के लिए मैं आपकी वंदना करता हूँ।।34।।

818. अक्कोव्व तेजपुंजं, चंदोव्व परमसीयलं जोगिं च।
सायरोव्व गंभीरं, पणमामि णहोव्व णिल्लेवं ॥35॥

819. णाणज्झाणतवाणं, अग्गिणा वियडि-वियार-दाहगं च।
तहा पावकम्माणं, थुवेमि अप्पसुद्धभावेहि॥36॥

820. तयपयाससंजुत्तं, जीमूदोव्व परम - उवयारिं।
अहिणंदमि भत्तीए, कच्छवोव्व अप्प-रक्खगं च॥37॥

821. पुढवीव खमासीलं, ओजंसिं तवंसिं महाजोगिं।
सुदंसणोव्व अयलं च, धीरं वीरं परियंदामि॥38॥

822. चंदकंतमणिजलं व, सुहायर-किरणं व चंदणं व तं।
सुद्ध-मोत्तिअ-माला व, जस्स चित्तसीयलं वंदे॥39॥

823. अण्णाण-तम-णासगं, भविचित्तंबुज-विआसगं सयतं।
पावकद्दमसोसगं, मत्तंडोव्व जदिं वंदामि॥40॥(जुम्मं)

824. तिसिद-चायग-पक्खीव, रायोपया चिट्ठीअ मुणि-हुत्ते।
कट्ठ पुण्णं सझाणं, उवएसेज्ज धम्मविड्ढीइ॥41॥

825. जेट्ठे मेहधाराइ, अक्कतविद - तुट्ठ - उव्वरा - महीव।
पिविय णाणामियं तं, सव्वा भव्वा दु संतुट्ठा॥42॥

826. धम्मुवएसं सुणित्तु, भव्वा मुणिमुहादु आणंदिदा य।
आइच्चुदयादो चिय, विहसंत-पउमपुप्फाइं व॥43॥

827. सादिणक्खत्ते पडिद-जलबिंदु-धारग-सिप्पीव तदा हु।
भव्वपुरिसेहि णिम्मल-चित्ते धारिदो उवएसो॥44॥(जुम्मं)

सूर्य के समान तेजपुंज, चंद्रमा के समान परम शीतल, सागर के समान गंभीर और आकाश के समान निर्लेप योगी को मैं नमस्कार करता हूँ।।35।। ज्ञान, ध्यान व तप की अग्नि से विकृति, विकार और सभी पाप कर्मों को दहन करने वाले मुनिवर की आत्मा के शुद्ध भाव से स्तुति करता हूँ।।36।। तीन प्रकाश (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र) से युक्त, मेघ के समान सदा ही परम उपकारी, कछुए के समान आत्मा की रक्षा करने वाले मुनिराज का मैं भक्तिपूर्वक अभिनंदन करता हूँ।।37।। पृथ्वी के समान क्षमाशील, ओजस्वी, तपस्वी, सुदर्शन मेरु के समान अचल, धीर, वीर महायोगी को नमस्कार करता हूँ।।38।। चंद्रकांत मणि के जल, चंद्रमा की किरण, चंदन व शुद्ध मोतियों की माला के समान जिनका चित्त शीतल है उन मुनिराज की मैं वंदना करता हूँ। जिस प्रकार सूर्य अंधकार को नष्ट करता है उसी प्रकार मुनिराज अज्ञान रूपी अंधकार को नाश करने वाले हैं, जिस प्रकार सूर्य कमलों को खिलाने वाला होता है उसी प्रकार मुनिराज भव्यों के चित्त रूपी कमल के विकासक हैं, जिस प्रकार सूर्य पंक को अवशोषित कर देता है उसी प्रकार मुनिराज पाप पंक के अवशोषक हैं, ऐसे सूर्य के समान यतिराज की मैं वंदना करता हूँ।।39-40।। अनंतर राजा व समस्त प्रजा मुनि के सम्मुख प्यासे चातक पक्षी के समान बैठ गयी। पुनः मुनिराज ने अपना ध्यान पूर्ण करके धर्म वृद्धि के लिए उपदेश दिया।।41।। जिस प्रकार ज्येष्ठ के महीने में सूर्य से तपी हुई भूमि मेघधारा से संतुष्ट और उर्वरा हो जाती है उसी प्रकार उस ज्ञानामृत का पान कर सभी भव्यजन संतुष्ट हुए।।42।। मुनिराज के मुख से धर्मोपदेश सुनकर भव्यजन उसी प्रकार आनंदित हो उठे जिस प्रकार सूर्य के उदय से कमल के पुष्प खिल उठते हैं। जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र में गिरी जल की बूंद को सीप धारण करती है उसी प्रकार भव्यजीवों ने अपने निर्मल चित्त में मुनिराज का उपदेश धारण किया।।43-44।।

828. अभव्वचित्ते कया वि, जिणुवएसो णो समट्ठो हिदाय।
मिदिगा-खंडिद-पत्ते,सादि-जल-बिंदू णो मुत्ता।।45।।

829. सप्पमुहे विसरूवो, सादिणक्खत्ते जहवि जलबिंदू।
णवरिमुणिस्सवाणीदु,संकिलेस-दुहुप्पायगोण।।46।।(जुम्मं)

830. अहोणिवो पुण्णप्पा,णिराउल-सस्सदस्स विहि-हीणस्स।
अप्पुप्पण्ण-सोक्खस्स, संपत्तीए अप्पहिदं च।।47।।

831. सुद्ध-सिद्ध-णिक्कम्मावत्थं आवज्जिदुं मुक्खहेदू।
सव्वदुहं अण्णाणं, विहावं खयिदुं खलु धम्मो।।48।।

832. उत्तम-खमाइ-दसहा, अहिंसादी दु पंचविहो धम्मो।
परम-धम्मो जीवस्स, सुद्धसहावो मुणेदव्वो।।49।।

833. सम्मत्तं सण्णाणं, सुचरियं ववहारेण सिव-हेदू।
तत्तियमइओ अप्पा, मुणेदव्वो णिच्छयेणं च।।50।।

834. सम्मत्ताइ-गुणा णो, अण्णदव्वेसुं विहाय अप्पं दु।
पच्चक्खमोक्खमग्गो, रयणत्तयमइअ-अप्पा तं।।51।।

835. ववहाररयणत्तयं, णिगरणं च णिच्छयमोक्खमग्गस्स।
कारणंविणाकज्जं,देक्खिज्जदि णकत्थविकयावि।।52।।

836. हिंसाइ-पावाण णव-कोडीए जावज्जीवं चागो।
महव्वदं तेहिं सह, पालेज्जा गुत्तिं समिदिं च।।53।।

837. तेरसविहचारित्तं, समणधम्मो णिव्वाण-णिगरणं दु।
विसेसेण अट्ठवीस-मूलगुणा होंति समणाणं।।54।।

838. वदसमिदिंदियरोहो, छ-आवसिया तह सत्तसेसगुणा।
एदे खलु मूलगुणा, अट्ठवीसा सया सव्वत्थ।।55।।

839. उत्तरगुण-चउतीसा, मूलगुणा पवड्ढेदुं पालेज्ज।
बावीस-परिसहजओ, बेदहतवो दु विसेसेणं।।56।।

अभव्यजीव के चित्त में जिनोपदेश उसका हित करने में वैसे ही समर्थ नहीं होता जैसे मिट्टी के टूटे बर्तन में स्वाति नक्षत्र में गिरी जल की बूंद मोती नहीं बनती यद्यपि वही स्वाति नक्षत्र में गिरी जल की बूँद सर्प के मुख में विष रूप हो जाती है किन्तु विशेषता यह है कि मुनिराज की वाणी, संक्लेश व दुःख को उत्पन्न करने वाली कभी नहीं होती।।45-46।। मुनिराज ने कहा—अहो पुण्यात्मा राजन्! निराकुल, शाश्वत, कर्म से विहीन और आत्मोत्पन्न सुख प्राप्त करने में ही आत्मा का हित है।।47।। शुद्ध-सिद्ध-नैष्कर्म अवस्था को प्राप्त करने एवं सर्व दुःख, अज्ञान व विभाव का क्षय करने का मुख्य हेतु धर्म है।।48।। उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म है, अहिंसा आदि पाँच प्रकार का धर्म है एवं जीव का शुद्ध स्वभाव परम धर्म जानना चाहिए।।49।। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र व्यवहार से मोक्ष का हेतु हैं एवं तीनों से सहित आत्मा निश्चय से मोक्ष का हेतु जानना चाहिए।।50।। आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में सम्यक्त्व आदि गुण नहीं पाए जाते इसलिए रत्नत्रय युक्त आत्मा प्रत्यक्ष मोक्षमार्ग है।।51।। व्यवहार रत्नत्रय निश्चय मोक्ष मार्ग का हेतु है और कारण के बिना कार्य कभी भी कहीं नहीं देखा जाता।।52।। हिंसा आदि पापों का नव कोटि से आजीवन त्याग महाव्रत कहलाता है। उन महाव्रतों के साथ गुप्ति और समिति का भी पालन महाव्रतियों द्वारा किया जाता है।।53।। तेरह प्रकार का चारित्र श्रमणधर्म है। वह श्रमणधर्म निर्वाण का कारण है। श्रमणों के विशेष रूप से अट्ठाईस मूलगुण होते हैं।।54।। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेंद्रिय निरोध, छः आवश्यक तथा सात शेष गुण—ये सर्वदा सर्वत्र अट्ठाईस मूलगुण कहे गए हैं।।55।। बाईस परिषहजय एवं बारह तप इस प्रकार विशेष रूप से मुनियों के चौंतीस उत्तर गुण होते हैं। मूल- गुणों की वृद्धि के लिए इनका पालन करना चाहिए।।56।।

840. चउसीदि-लक्खा गुणा, उत्तरोत्तरा वित्थरेण मुणिस्स।
अजोगकेवली गुणट्ठाणम्मि ताणं पुण्णत्तं॥57॥

841. सीलस्सहोज्जणियमा,अट्ठारस-सहस्साणिदु भेयाणि।
पारंभदि पंचमादु, सीलो अजोगे पुण्णत्तं॥58॥

842. णिग्गंथ-दिक्खंविणाण,सक्कोमोक्खमग्गो भोराओ!।
सम्मत्ताइ-गुणेहिं, विणा य उम्मग्गया सव्वा॥59॥

843. णग्गो हि मोक्खमग्गो, णवरि णग्गो दु उहयपयारेणं।
मेत्तं बहिणग्गत्तं, णो समत्थं मोक्खं देदुं॥60॥

844. जहविणव-गेविज्जेसु,उप्पत्ति-कारणंबहिणिगिणिणंवि।
सराग-संजमेणंच,विणाअंत-णिगिणिण-मसक्कं॥61॥

845. करपत्ताहारी पग-विहारी दियंबर-केसलुंचयो।
ठिदेगभुत्ती हु मुणी,रहिदो ण्हाण-दंत-धुवणादु॥62॥

846. दव्वरूवेण गहदे, मूलुत्तरगुणा एव जो समणो।
णवरि भावहीणो सो, दव्वलिंगी बहिणिग्गंथो॥63॥

847. बज्झ-दसविह-संगादु, रहिदो अंतर-चउद्दस-संगादु।
विसयकसायविहीणो, अहारंभ-हीणो सत्तीइ॥64॥

848. णाणझाण-तवलीणो,ववहार-णिच्छय-मग्ग-पोसगोय।
भावलिंगीदुसाहू,सुद्धप्प-विसुद्ध-साहगो य॥65॥(जुम्मं)

849. दव्वभावलिंगि-मुणी,विसया जहवि पच्चक्खणाणीणं।
सावयेहि दव्व-भावलिंगी सव्वा वंदणीया॥66॥

850. अप्पकल्लाण-हेदू, परंपराइ सावयधम्मं सुणह।
गहेज्ज सावयधम्मं, मुणिधम्मं पालिदुमसक्को॥67॥

851. थूल-पाव-चागादो, अहिंसाइ-पंच-अणुव्वदं होज्ज।
तेण सह तिगुणव्वदं, चउसिक्खावदमप्पहिदाय॥68॥

विस्तार से मुनिराज के उत्तरोत्तर चौरासी लाख गुण होते हैं। उन गुणों की पूर्णता अयोगकेवली गुणस्थान में होती है।।57।। शील के नियम से अट्ठारह हजार भेद होते हैं। शील का प्रारंभ पंचम गुणस्थान से होता है एवं पूर्णता अयोग केवली गुणस्थान में होती है।।58।। हे राजन्! निर्ग्रंथ दीक्षा के बिना मोक्षमार्ग शक्य नहीं है। सम्यक्त्व आदि गुणों के बिना सभी मार्ग-उन्मार्ग हैं।।59।। नग्नता ही मोक्षमार्ग है। विशेषता यह है कि जीव दो प्रकार से नग्न होता है। मात्र बाह्य नग्नता मोक्ष देने में समर्थ नहीं है।।60।। यद्यपि भावशून्य मात्र बाह्य नग्नता नव ग्रैवेयकों में उत्पत्ति का कारण हो सकती है। सराग संयम (व्यवहार रत्नत्रय) के बिना अंतरंग निर्ग्रन्थता संभव नहीं है।।61।। मुनिराज करपात्र में आहार लेते हैं, पैदल विहार करते हैं, यथाजात दिगंबर अवस्था में रहते हैं, केशलोंच करते हैं, एक स्थान पर खड़े होकर दिन में एक ही बार आहार लेते हैं और स्नान व दंतधावन से रहित होते हैं।।62।। जो श्रमण द्रव्य रूप से ही मूल व उत्तर गुणों को धारण करते हैं किन्तु भाव से हीन हैं वे द्रव्यलिंगी बाह्य निर्ग्रन्थ हैं।।63।। शक्ति के अनुसार बाह्य दस प्रकार के परिग्रह और अंतरंग चौदह प्रकार के परिग्रह से जो रहित हैं, विषय-कषाय से हीन एवं पाप व आरंभ से रहित हैं, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन हैं, व्यवहार व निश्चय मार्ग के पोषक हैं, शुद्धात्म विशुद्ध साधक हैं वे भावलिंगी साधु हैं।।64-65।। यद्यपि द्रव्यलिंगी साधु और भावलिंगी साधु प्रत्यक्षज्ञानियों का विषय है। श्रावकों के द्वारा द्रव्यलिंगी व भावलिंगी सभी साधु वंदनीय हैं।।66।। यदि श्रमणधर्म पालन करने में अशक्य हो तो श्रावकधर्म का पालन करना चाहिए; वह परंपरा से आत्मकल्याण का हेतु है। अब श्रावकधर्म सुनो।।67।। स्थूल पापों का त्याग करने से अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत होते हैं। आत्महित के लिए उन अणुव्रतों के साथ तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत भी होते हैं।।68।।

852. सावय-सावियाहिंच,एयारस-दंसण-पहुदी-पडिमा।
सत्तीइपालिदव्वा,भव-सिव-सुहकारगाकमसो॥69॥

853. तसहिंसादु विरत्तो, थावरहिंसादो अविरत्तादो।
अणुव्वदी जाणिज्जदि, थूलपावविरत्तादो सय॥70॥

854. दिव्वदं देसवदं च, अणट्ठदंडविरदी तिगुणव्वदं।
अणुव्वदाणं गुणेसु, समट्ठकारणं विड्ढीए॥71॥

855. सामाइयं पोसहो, अदिहिसंविभागो सल्लेहणा य।
वेज्जावच्चं भोगुवभोगपरिमाणं केहिं वा॥72॥

856. चउसिक्खावदाइं दु, देंति सिक्खं पालिदुं मुणिधम्मं।
पसिक्खणंचियताइं,हवेदुंणिग्गंथ-समणोदु॥73॥(जुम्मं)

857. दंसण-वय-सामाइय-पोसहासचित्त-णिसिभुत्तिचागो।
दिअमेहुणचागो वा, बंभचेरमारंभ-चागो॥74॥

858. परिग्गहचागो तहा, अणुमदि-चागो उद्दिट्ठचागो य।
एयारस-पडिमाजुद-खुल्लगोखलुसंविदिदव्वो॥75॥(जुम्मं)

860. उक्किट्ठो खुड्डादो, उत्तरीय-पड-रहिदो करपत्ती।
एलगो दु अणुव्वदी, महव्वदी णेवुवयारेण॥77॥

861. अरिहादी परमेट्ठी, ताणं चेइय-चेइयालयाइं।
तव-सिव-भूमी णियमा, पुज्जणीया सद्दिट्ठीहिं॥78॥

862. अज्जावग्गा णेया, महव्वदी सत्थेण उवयारेण।
खुड्डया खुड्डिया तह, देसव्वदी पडिमाधारी॥79॥

863. सावय-सद्दिट्ठी जो, गहदि सया सेट्ठ-जिणधम्मपक्खं।
पक्खिगो सावयो सो, णेयो अत्तकहिद-समयेहि॥80॥

श्रावक-श्राविकाओं को शक्ति के अनुसार दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चाहिए। वह क्रमशः संसार सुख व मोक्ष सुख का कारण हैं।।69।। जो त्रस-हिंसा से विरक्त है किन्तु स्थावरहिंसा से विरक्त नहीं है वह स्थूल पाप से विरक्त होने से अणुव्रती जाना जाता है।।70।। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडविरति व्रत ये तीन गुणव्रत जानने चाहिए। ये अणुव्रतों के गुणों में वृद्धि के लिए समर्थ कारण हैं।।71।। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। किन्हीं के द्वारा वैय्यावृत्य वा भोगोपभोग-परिमाण भी स्वीकार किए गए हैं। ये चार शिक्षाव्रत निर्ग्रंथ श्रमण होने के लिए मुनिधर्म को पालन करने की शिक्षा वा प्रशिक्षण देते हैं।।72-73।। दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभुक्ति त्याग वा दिवा मैथुनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरंभत्याग प्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग व उद्दिष्टत्याग प्रतिमा—इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं। ग्यारह प्रतिमाओं से युक्त क्षुल्लक जानना चाहिए।।74-75।। क्षुल्लक के पास संयमोपकरण, शौचोपकरण, एक कौपीन और एक उत्तरीय वस्त्र होता है। वह देशव्रती, भद्र और सरल होता है।।76।। ऐलक, क्षुल्लक से उत्कृष्ट होते हैं, अणुव्रती, उत्तरीय वस्त्र से रहित और करपात्र में भोजन करने वाले होते हैं। वे उपचार से भी महाव्रती नहीं होते।।77।। अरिहंत आदि पाँच परमेष्ठी, उनके चैत्य व चैत्यालय, उनकी तपभूमि व मोक्षभूमि नियम से सम्यग्दृष्टियों के द्वारा पूज्यनीय है।।78।। जिनागम के अनुसार आर्यिकाएँ उपचार से महाव्रती जाननी चाहिए तथा क्षुल्लक-क्षुल्लिका व प्रतिमाधारी श्रावक-श्राविका देशव्रती जानने चाहिए।।79।। जो सम्यग्दृष्टि श्रावक श्रेष्ठ जिनधर्म के पक्ष को ग्रहण करता है, श्री जिनेंद्रदेव द्वारा कथित शास्त्रों से उसे पाक्षिक श्रावक जानना चाहिए।।80।।

864. णिट्ठो जिणधम्मे सत्तीइ पालदि सावय-सयायारं।
थूलाघविसणहीणो, णेट्ठिगो मूलगुणजुत्तो दु॥81॥

865. सगसत्तिं अणुगूहिय, पालदि जो दंसणाइपडिमाओ।
उत्तम-मज्झिम-जहण्ण-साहग-सावयादेसवदी॥82॥

866. दंसणादो छट्ठमं पडिमाधारगंतं जहण्णा तह।
सत्तमादो दसंतं, मज्झिम-सावया णादव्वा॥83॥

867. खुड्डया खुड्डिया वा, परम - सावय - साहगा एलगा दु।
सम्मत्त-रहिदा अण्ण-कुलिंगी मोक्खमग्गी णेव॥84॥

868. सग्गंथा सुगुरू णो, मण्णंते कया वि सम्माइट्ठी।
छउमत्था ण परमट्ठ-देवो कुवयणं णो जिणगी॥85॥

869. एयंतवाददूसिद - णिरवेक्ख - हिंसवयण - पोसगो जो।
अणुजोग - विद्धंसगो, णियमेण मिच्छाइट्ठी सो॥86॥

870. कुदेव-कुधम्म-कुसत्थ-कुलिंगि-जणा मणेदि परमेट्ठीव।
जो सो णिच्छयेणं दु, सिरोमणी मिच्छाइट्ठीसु॥87॥

871. पालेज्ज सगसत्तीइ, धम्मं लहिदुं मोक्खं भो राओ!।
धम्मेणं विणा को वि, णेव सस्सदसुहं समत्थो॥88॥

चौपाई छंद

872. सुपुण्णपावफलं पस्सित्ता, बहुसोक्खं दुक्खं भुंजित्ता।
इहलोएअहपाव-विरत्ती, सुहदायग-पुण्णेअणुरत्ती॥89॥

873. जाणेज्जा सुजणाण विवेगो, भुंजदि कम्मफलं जं एगो।
कोवि विवागम्मि णोसहाओ, रयणत्तयंहि मोक्ख-उवाओ॥90॥(जुम्मं)

जो जिनधर्म में निष्ठावान् है, शक्ति के अनुसार श्रावक के समीचीन आचार का पालन करता है, स्थूल पाँच पाप व व्यसनों से हीन है व मूलगुणों से युक्त है वह नैष्ठिक श्रावक जानना चाहिए।।81।। जो अपनी शक्ति को न छिपाते हुए दर्शन प्रतिमा आदि प्रतिमाओं का पालन करता है वह उत्तम, मध्यम व जघन्य देशव्रती साधक श्रावक जानने चाहिए।।82।। दर्शन प्रतिमा से लेकर छठवीं प्रतिमा का धारक जघन्य श्रावक कहलाता है, सप्तम प्रतिमा से दशवीं प्रतिमा वाले तक मध्यम श्रावक जानना चाहिए।।83।। क्षुल्लक, क्षुल्लिका व ऐलक ये उत्कृष्ट श्रावक व साधक जानने चाहिए। सम्यग्दर्शन से रहित अन्य कुलिंगी कभी भी मोक्षमार्गी नहीं होते।।84।। सम्यग्दृष्टि जीव सग्रंथों (धन, वस्त्र, स्त्री, अस्त्र-शस्त्र आदि से सहित) को कभी भी सुगुरु नहीं मानते। छद्मस्थ जीवों को परमार्थ देव नहीं मानते एवं कुवचनों को जिनवाणी नहीं मानते।।85।। जो एकांतवाद से दूषित, निरपेक्ष, हिंसक वचनों का पोषक व अनुयोगों का विध्वंसक है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।।86।। जो व्यक्ति कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र व कुलिंगीजनों को निश्चय से परमेष्ठी के समान मानता है वह मिथ्यादृष्टियों में शिरोमणि है।।87।। हे राजन्! मोक्ष प्राप्ति के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का पालन करना चाहिए। धर्म के बिना कोई भी शाश्वत सुख प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।।88।। इस लोक में पुण्य व पाप के फल को देखकर उनके फलस्वरूप बहुत सुख व दुःख को भोगकर पापों से विरक्ति एवं सुखदायक पुण्य में अनुरक्ति ही सज्जनों का विवेक जानना चाहिए क्योंकि जीव अकेला ही कर्मों के फल को भोगता है। विपाक के समय कोई भी जीव का सहायक नहीं होता। अतः अहो भव्य जीव! रत्नत्रय ही मोक्ष का उपाय है।।89-90।।

874. सयल-सुजणा णिच्चं कंखंति पुण्णफलं वरं,
णवरि सुहदं कज्जं पुण्णं विणा दु लहंति णो।
सुतरिदुमिदं संसारं सुक्किदं तरिणी व तं,
असुह-किरिया दुक्खं देज्जा विमुंचसु हंदि तं॥91॥

875. चउगइजुदे लोए णाणी सया अवयज्झदे,
असुहकिरिया दुक्खं तिव्वं जणाण पदायदे।
सुरणरपसू इट्ठं वत्थुं लहंति सुजोगदो,
भणदि सुगणी पावक्खीणं कुरु सुकिदं तहा॥92॥

सभी लोग नित्य ही उत्कृष्ट पुण्य फल की आकांक्षा करते हैं। जबकि विशेषता यह है कि वह पुण्य का फल सुखद पुण्य कार्य के बिना प्राप्त नहीं करते। इस संसार को पार करने के लिए वह श्रेष्ठ पुण्य कार्य नौका के समान है। अशुभ क्रिया निश्चय से दु:ख ही देती है अत: उसे छोड़ देना चाहिए।।91।। चार गतियों से युक्त इस लोक में ज्ञानी सदैव देखता है कि अशुभ क्रिया लोगों को तीव्र दु:ख देती है देव, मनुष्य वा तिर्यंच सभी सुयोग (दैवयोग) से अथवा मन, वचन, काय रूप समीचीन योग से इष्ट वस्तु को प्राप्त करते हैं अत: श्रेष्ठ गणधर कहते हैं कि हे भव्य जीव! पाप का क्षय करो और सदैव पुण्य करो।।92।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य की वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में राजा अशोक द्वारा मुनि वंदना व मुनि के उपदेश का वर्णन करने वाला सप्तम नंद पूर्ण हुआ।।

अट्ठम-णंदो

876. असोग-अणुद्धयेणं, आयण्णिदो मुणिराय-उवएसो।
बद्धकरंजलि-जुदेण, तदा पुच्छिदं गुरुं णमित्तु॥1॥

877. केण कारणेण णेव, संविददे रोहिणी दुहं सोगं।
तहा पुण्णवंतो हं, णरपुंगवो णिव-संतुट्ठो॥2॥

878. केण कारणेण लोयवालो सुरपूजिदो कंकेलीइ।
अम्हेहि काणि काणि सु-पुण्णकज्जाणि करिदाणि चिय॥3॥ (तिअं)

879. पच्चक्खणाणबलेण, दयाजुदेण पडिवक्किदं मुणिणा।
परोवयार-सहावो, पइडीए हि महापुरिसाण॥4॥

880. दायित्तु महापुरिसा, साहुणो अल्हादिदा पसण्णा य।
फलाणपुप्फ-पत्ताण, दायग-रुक्खोव्वअहवासरिदाव॥5॥

881. जो को वि दूसदे जिण-धम्मं वीदरायं च णिग्गंथं।
जिणवयणं सो मिच्छाइट्ठी असुहाउ-बंधगो दु॥6॥

882. जिणणिंदगो य पावी, कुलणासगो जिणधम्मणिंदगो दु।
साहु-णिंदगो दुट्ठो, जिणवयण-णिंदगो मूढो
य॥7॥883. ते सव्वा पाविट्ठा, तिव्वमिच्छत्तभावजुत्तादो य।
तिव्वकसायत्तादो, जाणेज्ज भावी णेरइया॥8॥

884. जायणया खलु णिंदा, अप्पघादो महापावो तत्तो।
अइपाविट्ठो जिणसुद-णिग्गंथ-सुधम्म-णिंदगो य॥9॥

885. कण्णा-विक्कईभादु-भगिणी-पिदरादीपडिछलजुदोजो।
तस्स दुक्खं दुग्गदिं, णेव को वि वारिदुं सक्को॥10॥

886. सोणपाउणादि पुण्णं, तस्सफलादो भव-सिव-सुहं णेव।
जस्स पुरिसस्स चित्ते, छलं वंचणा सयायाले॥11॥

भद्र परिणामी, विनयशील उस राजा अशोक ने मुनिराज का उपदेश सुना पुनः हाथ जोड़कर गुरुराज को प्रणाम कर पूछा–हे भगवन्! रोहिणी किस कारण से दुःख व शोक को नहीं जानती तथा किस कारण से मैं नरपुंगव, पुण्यवान्, श्रेष्ठ व संतुष्ट राजा हुआ हूँ? किस कारण लोकपाल अशोक के वृक्ष पर देवों द्व ारा पूजित हुआ। हमारे द्वारा कौन-कौन से पुण्यकार्य किए गये?।।1-3।। तब प्रत्यक्ष ज्ञान के बल से दया से युक्त मुनिराज बताने लगे। सही ही तो है प्रकृति (स्वभाव) से ही महापुरुषों का परोपकारी स्वभाव होता है।।4।। महापुरुष- साधुपुरुष देकर ही आह्लादित और प्रसन्न होते हैं। जैसे वृक्ष फल, पुष्प व पत्तों को देते हैं एवं नदी सभी को जल प्रदान करती है वैसे ही महापुरुष सभी का उपकार करते हैं।।5।। मुनिराज कहते हैं हे राजन्! जो कोई भी जिनधर्म, वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवचनों की निंदा करता है वह मिथ्यादृष्टि जीव अशुभ आयु का बंध करता है।।6।। जिनेंद्रप्रभु की निंदा करने वाला पापी, जिनधर्म की निंदा करने वाला कुल का नाशक, साधु की निंदा करने वाला दुष्ट और जिनवचनों की निंदा करने वाला मूर्ख होता है।।7।।वे सभी पापिष्ठ जीव तीव्र मिथ्यात्व भाव से युक्त होने से और तीव्र कषायी होने से भावी नारकी जानने चाहिए।।।8।। याचना करना निंद्य है, आत्मघात महापाप है। उससे भी अधिक अति पापिष्ठ व निंद्य जिनश्रुत, निर्ग्रन्थ मुनि व धर्मियों की निंदा करने वाला होता है।।9।। जो कन्या का विक्रय करता है, भाई, बहन, माता व पिता आदि के प्रति छल से युक्त है उसके दुःख व दुर्गति का निवारण करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।10।। जिस पुरुष के चित्त में सर्वथा छल-वंचना रहती है उसके फलस्वरूप जीव संसार सुख व मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं करता और पुण्य भी प्राप्त नहीं करता।।11।।

887. जिणिंद-पूयाए सिरि-णिग्गंथ-गुरु-चरण-सेवाए तह।
जिणधम्माराहणाइ, तित्थवंदणाए जवेणं॥12॥

888. अणुव्वद-महव्वदेहि, रोहिणी-आइ-सुहवदेहिं पाणी।
सीलुववासेहिं तह, पाउणंते अचिंतपुण्णं॥13॥(जुम्मं)

889. अइपुण्णवंतत्तादु, रोहिणी दुहं सोगं जाणदि णो।
राणीए कुव्विदाणि, पुण्णकज्जाणि थिरचित्तेण॥14॥

890. अस्स जंबुस्स भरदे, हत्थिणायपुरो रम्मो मणुण्णो।
तत्थ राय-वसुवालो, णायप्पियो पयावच्छलो॥15॥

891. तस्स धम्मणुचारिणी, वसुमदि-महाराणी सीलवंता।
गुणपुंजा कारुणिया, महुरभासिया कंतिजुदा॥16॥

892. धणमित्त-णयरसेट्ठी, राणीए भादू तम्मि णयरम्मि।
असीमविहव-जुत्तस्स, तस्स पिय-भज्जा धणमित्ता॥17॥

893. ताण पाविट्ठ-पुत्ती, पूदीगंधा अच्चंतकुरूवा।
महादुग्गंधजुत्ता, पंडु-दुण्णिअ-मिद-साणोव्व दु॥18॥

894. भल्लूव ताइ केसा, वा करिणी-पुंछ-केसा व विरला।
कण्णं किण्हसिप्पीव, ओट्ठो किण्हजंबूफलं व॥19॥

895. ताइ णासिगा सददं, सवंत-दुग्गंधिद-सिलिम्ह-जुत्ता।
मुहं लाला-संजुदं, णयणं किण्हमकोयफलं व॥20॥

896. कवोलो अवसण्णो य, विड्ढाव पीदवक्कदंतावली।
सिण्ण-कीडजुद-दुग्गंधिदा ताइ पूदीगंधाइ॥21॥

897. विजज्जर-अंबफलं व, ताइ उरोरुहो उदरं तुंबीव।
डज्झिद-कट्ठं व सुक्क-हत्थं अंसो विंताओव्व॥22॥

898. ताइ पदं अवदलिदं, रत्तरंजिदं वणजुदं मच्चिअं।
मच्छिगा ठिदा हु जत्थ, करो तह चिक्कणसंजुत्तो॥23॥

जिनेंद्रपूजा, श्री निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरण की सेवा, जिनधर्म की आराधना, तीर्थवंदना, जप, अणुव्रत, महाव्रत, रोहिणी आदि शुभ व्रत, शील व उपवासों से जीव अचिंत्य पुण्य प्राप्त करते हैं।।12-13।। अति पुण्यवती होने से रोहिणी दु:ख व शोक को नहीं जानती। रानी ने पूर्वभव में स्थिर चित्त होकर कई पुण्य कार्य किये।।14।। इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में रम्य व मनोज्ञ हस्तिनागपुर नगरी थी। वहाँ न्यायप्रिय व प्रजावत्सल राजा वसुपाल राज्य किया करते थे।।15।। उनकी धर्म का अनुसरण करने वाली महारानी वसुमति थी। वह शीलवती, गुणपुंजा, करुणायुक्त, मधुरभाषिणी और कांति से युक्त थी।।16।। उसी नगर में रानी का भाई धनमित्र रहा करता था वह उस नगर का श्रेष्ठी था। उस असीम वैभव से युक्त धनमित्र की धनमित्रा नामक प्रिय भार्या थी।।17।। उनकी पूतीगंधा नामक पापिष्ठ पुत्री थी जो अत्यंत कुरूपा व दुर्गंध युक्त थी। कुष्ठरोग से पीड़ित मृत कुत्ते के शरीर की तरह से उसके शरीर में से दुर्गंध आती थी।।18।। उस पूतीगंधा के केश भालू के केश के समान थे एवं हथिनी की पूँछ के केशों के समान विरल थे। उसके कान काले सीप की तरह व ओंठ काले जामुन के समान थे।।19।। उसकी नाक से निरंतर दुर्गंधित श्लेष्मा बहता रहता था, मुख से लार बहती रहती थी, आँखें काले मकोय फल के समान थीं।।20।। उसके गाल वृद्धा स्त्री के समान पिचके हुए थे। उस पूतीगंधा के पीले दाँतों की पंक्ति वक्र थी। उसके दाँत सड़े हुए, कीड़े लगे हुए दुर्गंधित थे।।21।। उसके उरोज सड़े हुए आम्र फल के समान व पेट कद्दू के समान था। उसके सूखे हाथ जली लकड़ी के समान व कंधे बैंगन के समान थे।।22।। उसके पैर कटे हुए, रक्त से सने हुए, घावयुक्त व मलयुक्त थे जिस पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं एवं हथेली चिकड़ी हुई थी।।23।।

899. कलमल-पहावेणं दु, को वि णो णिवसीअ तस्स समीवे।
मादु-पिदू वि णेव तं, समत्था दुग्गंधं सोढुं॥24॥

900. जहवि पुण्णोदयादो, धणमित्तो णिरोगी विहववंतो।
तस्स रूवमदि-भज्जा, चित्तहारी धम्मजुत्ता॥25॥

901. वरं पुव्वपावादो, एरिसा दुग्गंधिद-सुदा जादा।
धम्मणिंदाफलेणं वयसीले दोसपहावेण॥26॥

902. विग्घं कडुअ दाणाइ-पुण्णकज्जेसुं अंतरायेणं।
हिंसाइ-पहावेणं, लहीअ अमणुण्ण-पुत्तिं वा॥27॥(जुम्मं)

903. णिसिभोयणफलेण वा, धम्मसहाए असंति-करणेणं।
जिणवयण-अवमाणेण, वा धम्मीणं पावीअ तं॥28॥

904. धम्मसिक्खाणिमित्तं, भवतणभोयविरत्तिकारणं सा।
तहवि सगपुत्तीए, विवाहस्स चिंताउरो सो॥29॥

905. तम्मि णयरम्मि सेट्ठी, वसुमित्तो लोयप्पियो सुधम्मी॥
सेट्ठो य सयायारी, गुणगाहगो करुणाजुत्तो॥30॥

906. तस्स भज्जा वसुमदी, सुगुणपुंजा अणुव्वदा भदंता।
सुधम्मवच्छला परम-विदुसी विकोविया विकिट्ठा॥31॥

907. णवरि पुव्वपावादो, ताइ पुत्तो सुंदरो सिरिसेणो।
कलाजुद-रूववंतो, कुसंगति-कारणेणं तहवि॥32॥

908. वसण-संजुदं होच्चा, मह-लंपडो हिंसाइ-पाव-जुदो।
दुच्चारो दुत्तुंडो, पाडच्चरो जूअकेलीइ॥33॥(जुम्मं)

909. जइ पराइदो हु तदा, पम्हुसीअ विजिदो तो खलु करीअ।
मज्जपाणं च वेस्सा-गमण-मिच्चाइ-दुक्कम्माणि॥34॥

910. इत्थं एयदिवसम्मि, होज्ज पिदरसंपत्ती णिस्सेसा।
पावोदयादो विहव - संपत्ति - धणादी असेसा॥35॥

उसकी देह दुर्गन्ध के प्रभाव से कोई भी उसके समीप निवास नहीं कर सकता था; यहाँ तक कि माता-पिता भी उस दुर्गंध को सहन करने में समर्थ नहीं थे।।24।। यद्यपि पुण्य के उदय से धनमित्र निरोगी व वैभव से युक्त था और उसकी भार्या रूपवती, चित्तहारिणी व समीचीन धर्म से युक्त थी।।25।। किन्तु पूर्व पाप से ऐसी दुर्गंधित पुत्री का जन्म हुआ। धर्म की निंदा वा व्रत-शील में दोष के प्रभाव अथवा दानादि पुण्य कार्यों में विघ्न करके अंतराय से अथवा हिंसा आदि के प्रभाव से उस सेठ ने ऐसी अमनोज्ञ-पुत्री को प्राप्त किया।।26-27।। अथवा रात्रि-भोजन के फलस्वरूप वा धर्म सभा में अशांति करने से अथवा जिनवचन या धर्मियों के अपमान से ऐसी पुत्री को प्राप्त किया।।28।। यद्यपि वह पुत्री धर्म व शिक्षा का निमित्त तथा संसार, शरीर, भोगों की विरक्ति का कारण थी तथापि वह सेठ अपनी पुत्री के विवाह के लिए चिंतातुर था।।29।। उसी नगर में वसुमित्र नामक श्रेष्ठी रहा करता था वह लोकप्रिय, सुधर्मी, श्रेष्ठ, सदाचारी, गुणग्राहक और करुणावान् था।।30।। उसकी वसुमति नामक स्त्री थी जो श्रेष्ठ गुणों की पुंज, अणुव्रती, सुखकारक, सुधर्म वत्सला, परम विदुषी, कुशला व उत्कृष्ट थी।।31।। उसके श्रीषेण नामक सुंदर पुत्र था। वह यद्यपि कलाओं से युक्त व रूपवान् था तथापि कुसंगति के कारण व्यसन युक्त होकर हिंसादि पापों से युक्त हो गया। वह महालंपट, दुराचारी, दुर्मुख तथा द्यूतक्रीड़ा में आसक्त हो गया।।32-33।। यदि द्यूतक्रीड़ा में पराजित हो जाता तो चोरी करता था और यदि जीत जाता तो मद्यपान और वेश्यागमन इत्यादि दुष्कर्म किया करता था।।34।। इस प्रकार एक दिन उसके पिता की संपत्ति निःशेष हो गई। सही भी है पाप के उदय से वैभव-धन-संपत्ति आदि नष्ट हो जाती है।।35।।

911. पिदराणअइ-पेम्मेण,होज्जअणुसासण-अभावेणंसो।
सच्छंद-पवत्ति-जुदो, महावसणजुदो पाविट्ठो॥36॥

912. सग-सीसे णिरंकुसो, करिणो धारेदि मलं धूलिं वा।
णिरंकुस-सुदोसिस्सो,वड्ढदिदुग्गइ-दुक्ख-मग्गे॥37॥

913. सुगदीए सुहस्स तं, सुसक्काराय य सम्मजीवणाय।
अणुसासणंकरेज्जा,सिस्स-सुद-अण्णपियजणेसुवा॥38॥

914. बंधणजुदो पदंगो, समत्थो दु उड्डीदुं आयासे।
बंधणरहिद-पदंगो, पडदि कम्मि वि कूवे गड्ढे॥39॥

915. बंधणजुद-पासाणो,उवउंजिज्जदि भवणाइ-सिरणम्मि।
बंधणहीणो य सयं, उल्लुट्टदि दूहवदि अण्णा॥40॥

916. अणुसासणबलेणं हि, सक्कारिदपासाणो पहुमुत्ती।
अणुसासण-विहीणोदु,चुण्णंहोज्जपददलणादो॥41॥

917. सु-गज्ज-पज्ज-रयणाय,होज्जअणुसासणबद्धसद्देहिं।
अणुसासण-हीणा ते, दुहदा सरोव्व तह अभद्दा॥42॥

918. वड्ढंति बद्धकेसा, सुंदरिमा णारीइ सहस्सगुणा।
पयल्ल-केसवंता य, तदा वंतरिणीव भासेदि॥43॥

919. तं पत्तेयं पिदरं, सुसक्कारं खलु सगसंताणाण।
धम्ममज्जादाएय,सिक्खावेज्जाअणुसासणंसया॥44॥

920. अणुसासणेणं विणा,को वि ण लहिदुं सक्को परमपदं।
पावेदि सेट्ठपिदरं, सुसंताणं पुव्वपुण्णेण॥45॥

921. सिरिसेणोपुण्णेसदि,अविणिमज्जीअचियपावकूवम्मि।
सम्मपुरिसट्ठहीणो, लहदि दुहं दुग्गदिं दोत्थं॥46॥

माता-पिता के अति प्रेम से एवं अनुशासन के अभाव से वह स्वच्छंद प्रवृत्ति से युक्त, महाव्यसन से संयुक्त एवं पापिष्ठ हो गया था।।36।। जिस प्रकार निरंकुश हाथी अपने सिर पर मल वा धूलि डालता है उसी प्रकार निरंकुश पुत्र वा शिष्य दुर्गति व दुःख के मार्ग में बढ़ता है।।37।। अतः सुगति, सुख, सुसंस्कार और सम्यक् जीवन के लिए शिष्य, पुत्र व अन्य प्रियजनों पर अनुशासन करना चाहिए।।38।। देखो, बंधन सहित पतंग आकाश में उन्नत होने में समर्थ होती है जबकि बंधन रहित पतंग किसी कूप या गड्ढे में जा गिरती है।।39।। बंधन युक्त पाषाण ही भवन आदि के निर्माण में उपयोग में लाया जाता है जबकि बंधन हीन पाषाण स्वयं नष्ट होता है एवं दूसरों को भी दुःख देता है।।40।। अनुशासन के बल से संस्कारित पाषाण भगवान् की मूर्ति बन जाता है जबकि अनुशासन विहीन पाषाण पैरों के नीचे रौंदे जाने से चूरा हो जाता है।।41।। अनुशासन बद्ध शब्दों से ही श्रेष्ठ गद्य व पद्य रचना होती है जबकि अनुशासन विहीन वे शब्द बाण के समान कष्टकारी एवं अभद्र हो जाते हैं।।42।। बद्धकेश नारी का सौंदर्य हजार गुणा बढ़ा देते हैं जबकि बिखरे-फैले हुए केश से युक्त नारी उस समय व्यंतरिणी के समान प्रतिभासित होती है।।43।। इसलिए प्रत्येक माता-पिता को सदा अपनी संतानों को धर्म व मर्यादा के लिए सुसंस्कार व अनुशासन सिखाना चाहिए।।44।। अनुशासन के बिना कोई भी परम पद प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। श्रेष्ठ माता-पिता पूर्व पुण्य से ही सुसंतान को प्राप्त करते हैं।।45।। पुण्य होने पर भी श्रीषेण पापकूप में डूब गया था। यथार्थ में सम्यक् पुरुषार्थ से हीन व्यक्ति दुःख, दुर्गति व दरिद्रता को प्राप्त करता है।।46।।

922. सिरिसेणो पराइदो, जूअकेलीइ एयदा वच्चीअ।
तिण्णस्स य अंधयार - संजुत्त - मज्झ - सव्वरीए।।47।।

923. कुविद-दंडपासिग-जमदंडेण सो पाडच्चरो धरिदो।
बंधणबद्धो करिदो, अणंतरं अयस-संकलेण।।48।।

924. रायसुदरबारं पडि, पच्छंदंतो चिय मुक्खमग्गम्मि।
धणमित्तेण पस्सिदो, बंधणबद्धो सिरिसेणो दु।।49।।

925. णियडे पच्चिदूण धणमित्तेणं कहिदं भो सिरिसेणो!।
संगच्छसि मे पुत्तिं, जदि कराविस्सामि मुत्तो य।।50।।

926. रायदंडादो मुत्तकंखाए अंगीकरिदं तेणं।
सेट्ठे णिवेदणे चिय, तदा णिवेण करिदो मुक्को।।51।।

927. परिणयणं करावितं, पिदुणा सिरिसेण-पूदिगंधाणं।
सगपाण-रक्खाए दु, मणुओ किं किं ण कुव्वेदि?।।52।।

928. ण पहुच्चीअ विवाहे, दुग्गंधं सोढु-मसमत्थत्तादु।
तदा को वि णयर-जणा, पुरजणा उदाहु संबंधी।।53।।

929. ठाविदुमेगरत्ती वि, ताए सह सिरिसेणो असक्को दु।
दुग्गंधं सोढुं णो, समत्थो तम्हा पलायीअ।।54।।

930. सगपइदुब्भावादो, दुम्मणा दुक्खिदा पूदिगंधा य।
पुणो पुणो य कुच्छीअ, सगपुव्वपावकम्माइं दु।।55।।

931. जीवो पुण्णोदयम्मि, गुंजिदूण बंधदि पावकम्माणि।
तदा णेव विआणेदि, इमाणं कम्म-फलाणि काणि।।56।।

932. पूदिगंधाइ दुहेण, जविदं णियजीवणं खिंसिदूणं।
पच्चापडीअ य पिदर-गेहं दु अण्णासयो णत्थि।।57।।

933. णारीए ति-आसयो, कोमारे पिदु-गेहो विवाहस्स।
पच्छा पदिगेहो पदि-हीणाइ पुत्तेगासयो य।।58।।

एक दिन वह श्रीषेण जूए में हार गया। पुनः अंधकार युक्त मध्यरात्रि में चोरी के लिए गया।।47।। उसी समय यमदंड कोतवाल ने क्रोधित होकर उस चोर को पकड़ लिया अनंतर लोहे की बेड़ियों से उसे बांध लिया।।48।। जब वह कोतवाल चोर को राजमहल की ओर नगर के मुख्य मार्ग से ले जा रहा था तब उस बंधन में बंधे हुए श्रीषेण को धनमित्र ने देख लिया।।49।। तब उसके निकट जाकर सेठ धनमित्र ने कहा कि हे श्रीषेण! यदि तुम मेरी पुत्री को स्वीकार करो तो मैं तुम्हें बंधन से मुक्त करा दूँगा।।50।। राजदंड से मुक्त होने की इच्छा से उसने सेठ की बात को स्वीकार कर लिया। तब सेठ के निवेदन पर राजा ने उसे मुक्त कर दिया था।।51।। कहे अनुसार पिता धनमित्र ने पूतीगंधा का विवाह श्रीषेण के साथ करा दिया। सही ही है अपने प्राणों की रक्षा के लिए मनुष्य क्या-क्या नहीं करता? अर्थात् सब उपाय करता है।।52।। पूतीगंधा के देह की दुर्गंध को सहन करने में असमर्थ होने से तब कोई भी नगरवासी, पुरजन अथवा अन्य संबंधीजन उसके विवाह में नहीं पहुँचे।।53।। श्रीषेण एक रात्रि भी उसके साथ ठहरने में असमर्थ था। वह उसकी दुर्गंध सहने में समर्थ नहीं था अतः वहाँ से भाग गया।।54।। अपने पति के वियोग से पूतीगंधा उदास व बहुत दुःखी हुई। वह पुनः पुनः अपने पूर्व पाप कर्मों की निन्दा करने लगी।।55।। अहो! जीव पुण्य के उदय में हँसकर पाप कर्मों का बंध करता है वह नहीं जानता कि इन कर्मों का फल क्या होगा?।।56।। पूतीगंधा का अन्य कोई आश्रय नहीं था अतः वह लौटकर पिता के घर ही आ गई। वह अपने जीवन की निंदा करते हुए दुःखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगी।।57।। नारी के तीन आश्रय होते हैं, कौमार्य अवस्था में अर्थात् विवाह से पूर्व पिता का घर, विवाह के पश्चात् पति का घर और पति से रहित होने पर पुत्र ही एक आश्रय होता है।।58।।

934. जणग-सुपुत्त-पदीदो, धम्मो णिच्चं विहीण-णारीए।
आसयभूदो य देव-गुरूण पदो जिणवयणं वा॥59॥

935. जम्हा पूदीगंधा, पदि-पुत्त-विहीणा तक्काले तं।
पिदुगेहं सरणं चिय, जिणधम्मो सया सव्वाण॥60॥

936. धम्मं विणा ण कस्स वि, को वि रक्खगो सहायगा सयाय।
तं पत्तेयं णरेण, संचिणिदव्वो सया धम्मो॥61॥

937. महापुण्णोदये वा, तिव्वपावकम्मोदये जीवाण।
जिणसुदमुणी धम्मं च, एव सरणं सव्वत्थ सया॥62॥

938. णाणी अण्णाणी वा, दुही सुही य जो को वि उविक्खेदि।
धम्मं धम्मायदणं, लहदि सो अइदुक्खं णियमा॥63॥

939. भो भव्वो! तव बुद्धी, सेट्ठा हिदाहिदणिण्णये सक्का।
जदि तो उस्सिक्केज्जा, णिंद-महापाव-दुक्कम्मं॥64॥

940. एयदा तम्मि णयरे, सुव्वदा अज्जिगा दु आहम्मीअ।
धणमित्त-धणमित्ताहि, दायिदं आहारदाणं दु॥65॥

941. पूदीगंधाए अवि, दायिदं दाणं णवहा-भत्तीइ।
सुह-उवसमभावेणं, पच्छा ताइ फासिय चरणं॥66॥

942. पुण पुण वंदिदूणं च, णियकम्मं खिंसंता वज्जरीअ।
णिय-कहं दुहपुण्णं दु, तं आयण्णिदूणं तदाहु॥67॥(जुम्मं)

943. अज्जिगाइ पज्जरिदं, भो सुदा! परिलीह धम्मज्झाणे।
कम्मुवएसं दिच्चा, आसासीअ मिदुवयणेहिं॥68॥

944. कयाइ पावुदयादो, अणिट्ठगारी पिदू पदी पुत्तो।
णारीइ वरं ण भत्ति-पहुदीहि पुण्णं णिक्कंखं॥69॥

945. पुत्ती तुमं गहेज्जा, जिणधम्मसरणं स - पावक्खयिदुं।
परमेट्ठिं सिमरेज्जा, णिच्चं सगप्पकल्लाणाय॥70॥

पिता, पुत्र व पति से विहीन नारी के लिए जिनेंद्रदेव, निर्ग्रंथ गुरु के चरण, जिनवाणी एवं धर्म ही आश्रयभूत है।।59।। पूतीगंधा उस समय पति व पुत्र से विहीन थी इसलिए पितृघर ही उसके लिए एकमात्र शरण था। अहो! जिनधर्म तो सदा सभी के लिए शरण है।।60।। धर्म के बिना कोई भी किसी का रक्षक, सहायक और आश्रय नहीं है इसलिए प्रत्येक मनुष्य को धर्म का संचय करना चाहिए।।61।। महापुण्य के उदय में अथवा तीव्र पाप कर्म के उदय में जीवों के लिए सदा व सर्वत्र जिनेंद्रप्रभु, जिनागम, निर्ग्रन्थ मुनि और धर्म ही शरण है।।62।। जो ज्ञानी या अज्ञानी जीव, दु:खी या सुखी जीव, धर्म वा धर्मायतन की उपेक्षा करता है वह नियम से दु:ख प्राप्त करता है।।63।। हे भव्य जीव! यदि तुम्हारी बुद्धि श्रेष्ठ है, हित व अहित का निर्णय करने में समर्थ है तो निंद्य, महापाप एवं दुष्कर्मों को त्याग देना चाहिए।।64।। एक बार उस नगर में सुव्रता नामक आर्यिका आयीं। धनमित्र व धनमित्रा ने उन्हें आहार दान दिया।।।65।। पूतीगंधा ने भी शुभ उपशम भावों से नवधा भक्तिपूर्वक आर्यिका माता जी को आहार दिया। आहार के पश्चात् उनके चरण स्पर्श करके पुन: पुन: वंदन करके अपने कर्मों की निंदा करते हुए उसने अपनी दु:खपूर्ण कथा आर्यिका माता जी को सुनायी।।66-67।। उसे सुनकर आर्यिका माता जी ने उसे कर्म निर्जरा का उपदेश देकर मृदु वचनों से सांत्वना दी एवं कहा–हे पुत्री! सदा धर्मध्यान में लीन रहना।।68।। कदाचित् पाप कर्मोदय से पिता, पति व पुत्र किसी नारी के लिए अनिष्टकारी हो सकते हैं किन्तु प्रभु भक्ति आदि से अर्जित नि:कांक्ष पुण्य कभी भी अनिष्टकारी नहीं होता।।69।। पुत्री! तुम्हें पाप कर्मों के क्षय के लिए जिनधर्म की शरण लेनी चाहिए; अपने आत्मकल्याण के लिए नित्य ही पंच परमेष्ठी का स्मरण करना चाहिए।।70।।

946. जिणभत्तिं गुरुपूयं, आइ-पुण्णकम्माइं सत्तीए।
करेज्ज वेज्जावच्चं, सुभावेहिं अज्जिगाणं च॥71॥

947. णेव करेज्ज सिविणे वि, जिणं धम्मं भारदिं णिग्गंथं।
खिंसेज्ज णेव सुणेज्ज, ताणं चिय णिंदं पि तहेव॥72॥

948. णीयगोदं असादं, बंधदि अंतरायं असुहकम्मं।
कस्सविणिंदगोतंदु,णिंदंणेवसुणेज्जकरेज्ज॥73॥(जुम्मं)

949. णेया सुपुण्णहेदू, सगदोसणिंदा परगुणपसंसा।
परणिंदप्पपसंसा दुहायरो दुग्गइ-हेदू य॥74॥

950. तक्काले गयपुरीइ, कित्तिधर - णिवस्स सासणं णियडे।
अहिंसापेम्मी गुणी, णिग्गंथ-गुरुवासगो सो हु॥75॥

951. उवयारे वासंगो, सच्चवायी चिय जिणधम्मणिट्ठो।
पुण्णवंतो य णायप्पियो जसवंतो विक्कंतो॥76॥

952. तस्स धम्म-पणोल्लया, हिअय-वल्लहा कित्तिमदी पणिदा।
धम्म-भोय-रायणीदि-संगीदेसुं सहकारी य॥77॥

953. इंदुणा सह जुण्हा व, सोहिदा सोहम्मेण सह सईव।
तं लहिदूणं राओ, मण्णीअ सयं पुण्णवंतो॥78॥

954. णारी सुपुण्णवंता, सुधम्माणुरत्ता जम्मि गेहम्मि।
पण्णा य सीलवंता, ठाएज्ज सुहं संती तत्थ॥79॥

955. जत्थ सुसक्कारजुदा, पुण्णवंत-कुलवंता धम्मरदा।
मज्जादा-रक्खिगा य, णारी सय तत्थ सुब्भिक्खं॥80॥

956. जत्थ दुहजुत्तणारी, पया चिय सीअदि खणे खणे तत्थ।
पइडि-पकोवो कलहो, दुब्भिक्खं असंती दुक्खं॥81॥

जिनभक्ति, गुरु पूजा आदि पुण्यकर्म शक्ति के अनुसार करना एवं आर्यिकाओं की शुभ-भावों से वैय्यावृत्ति करना।।71।। स्वप्न में भी कभी जिनेंद्रप्रभु, जिनधर्म, जिनवाणी व निर्ग्रन्थ गुरुओं की निंदा नहीं करनी चाहिए और उसी प्रकार उनकी निंदा सुननी भी नहीं चाहिए; क्योंकि किसी की भी निंदा करने वाला नीचगोत्र, असातावेदनीय, अंतराय और अशुभ कर्मों का बंध करता है इसलिए कभी भी न तो निंदा करनी चाहिए और न सुननी चाहिए।।72-73।। दूसरों के गुणों की प्रशंसा व स्वदोष निंदा पुण्य का कारण जानना चाहिए। परनिंदा व आत्मप्रशंसा दु:ख की खान हैं एवं दुर्गति का हेतु है।।74।। उसी समय हस्तिनागपुर के निकटवर्ती नगर में राजा कीर्तिधर का शासन था। वह अहिंसा प्रेमी, गुणी व निर्ग्रन्थगुरु का उपासक था।।75।। उसकी उपकार करने में अति आसक्ति थी। वह सत्यवादी, जिनधर्मनिष्ठ, पुण्यवान्, न्यायप्रिय, यशवान् और विक्रमी था।।76।। उसकी कीर्तिमती नामक हृदयवल्लभा थी जो धर्म की प्रेरणा देने वाली व सुंदर थी। वह धर्म, भोग, राजनीति वा संगीत में भी सहयोगी थी।।77।। जैसे चंद्रमा के साथ उसकी चांदनी एवं सौधर्मइंद्र के साथ शचि सुशोभित होती है उसी प्रकार रानी को प्राप्त कर महाराज स्वयं को पुण्यवान् मानते थे।।78।। जिस घर में धर्मानुरक्ता, पुण्यवती, बुद्धिमती व शीलवती नारी निवास करती है वहाँ सुख व शांति भी निवास करती है।।79।। जहाँ सुसंस्कारों से युक्त पुण्यवती, कुलवती, धर्म में रत रहने वाली एवं मर्यादा की रक्षा करने वाली नारियाँ होती हैं वहाँ सदा सुभिक्ष रहता है।।80।। जहाँ दु:ख व शोक युक्त नारी रहती है एवं प्रजा क्षण-क्षण में दु:ख प्राप्त करती है वहाँ प्राकृतिक प्रकोप, कलह, दुर्भिक्ष, अशांति और दु:ख होता है।।81।।

957. सव्वजणेसुं सेट्ठा, सव्वदा दु सुसक्कारिदा णारी।
णारीइ विणा गेहे, सुहसंतीण कप्पणा णेव॥82॥

958. कुमुइणीए जुण्हा व, चित्तविगासगा दुक्खहारगा य।
णारी चिय मंगल्ला, लोगिग-सव्व-मंगलेसुं हु॥83॥

959. जत्थ अइवत्तिज्जदे, मज्जादं णेव सो वरो देसो।
तं दु रक्खिदव्वा सग-देस-मज्जादा सज्जणेहि॥84॥

960. एयदा सीहासणे, किंत्तिवंतो राओ हु किंत्तिधरो।
रोहिणीइ सहिंदू व्व राजिदो सगराणीए सह॥85॥

961. तदा सहाइ पविट्ठो, वणवालो सेट्ठ-फुल्ल-फलेहि सह।
अप्पिदाणि ताणि राय-हुत्ते अइ-आणंदजुदेण॥86॥

962. बद्धकरंजलीए दु, पणमंतो णिवेदीअ भो राओ!।
तुज्झ पुण्णोदयेणं, णयर-णियड-रम्म-उववणम्मि॥87॥

963. आइच्च-मिअंगोव्व हु, बे-मुणिराया चिय सुउज्जुयारा।
ओजंसी तेजंसी, णिरवइक्खा णिरामगंधा॥88॥(जुम्मं)

964. सुणिय समायारं तं, उप्पुलइअ-रायेणं उट्ठिदं च।
गडुअ सगासणादो दु, सत्तपदं णमिदं भत्तीइ॥89॥

965. तदा उग्घोसिदं चिय, मुणिवंदणाय गच्छेज्जा कल्लिं।
सुद्धभावभत्तीए, सव्व-पया राय-कुडुंबं च॥90॥

966. पुण जुगलमुणि-पदेसुं, पडुच्चीअ सव्वा णम्मभावेण।
अमियासव-पिहिदासव-इड्ढिधारि-णिरभिस्संगाण॥91॥

967. मुणी पदक्खिणिदूणं, विणयभावेणं थुदिं कुणंतेण।
सकुडुंब-णिवेण तत्थ, पस्सिदं सुदिस्सं हरिसेण॥92॥

968. धण्णासिरिमुणिराया, णिरवज्ज-तव-संजम-जुदा धण्णा।
धण्णाविकंप-जोगी, असीम-णाणवंता धण्णा॥93॥(जुम्मं)

सुसंस्कारित नारी सर्वदा सभी जनों में श्रेष्ठ है। नारी के बिना घर में सुख व शांति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।।82।। जिस प्रकार चंद्रमा की चांदनी कुमुदनी को विकसित करने वाली होती है उसी प्रकार नारी चित्त को विकसित करने वाली व दु:खहारक होती है। नारी सभी लौकिक मंगलों में मंगल होती है।।83।। जहाँ कोई अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता वह श्रेष्ठ देश माना जाता है इसलिए सज्जनों को अपने देश की मर्यादा की सदैव रक्षा करनी चाहिए।।84।। एक बार कीर्ति को प्राप्त महाराज कीर्तिधर सिंहासन पर अपनी महारानी कीर्तिमती के साथ उस प्रकार विराजमान थे जैसे रोहिणी के साथ चंद्रमा ही हो।।85।। तभी श्रेष्ठ फल-फूलों के साथ राजसभा में वनपाल ने प्रवेश किया एवं अति आनंद के साथ राजा के सम्मुख उन फल-फूलों को अर्पित किया।।86।। हाथों को जोड़कर प्रणाम करते हुए वनपाल ने निवेदन किया—हे राजन्! आपके पुण्य के उदय से नगर के निकट मनोहर बगीचे में सूर्य-चंद्रमा के समान अतिशय सरल चारित्र वाले दो मुनिराज पधारे हैं। वे ओजस्वी, तेजस्वी, नि:स्पृह और निर्दोष चरित्र वाले हैं।।87-88।। मुनि आगमन के इस समाचार को सुनकर राजा के रोमांच हो आया। उसने अपने आसन से उठकर उसी दिशा में सात पद जाकर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया।।89।। तभी राजा ने नगर में घोषणा करा दी कि कल सभी प्रजाजन व राजपरिवार शुद्धभाव भक्तिपूर्वक मुनिवंदना के लिए चलेंगे।।90।। पुन: अगले दिन सभी विनम्र भाव से अमितास्रव व पिहितास्रव नामक ऋद्धिधारी नि:स्पृह युगल मुनियों के चरणों में पहुँचे।।91।। वहाँ राजपरिवार सहित राजा ने मुनिराजों की प्रदक्षिणा करके विनय भाव से स्तुति करते हुए कहा श्री मुनिराज धन्य हैं, निरवद्य तप और संयम से युक्त गुरुवर धन्य हैं, अकंप योगी धन्य हैं एवं नि:सीम ज्ञानवान् यतिवर धन्य हैं। पुन: वे सभी वहाँ हर्षभाव से दृश्य को देखने लगे।।92-93।।

969. तत्थ मुणि-पहावेणं, परमसंती सघणविविणपदेसे।
सीहो गो-वच्छलेण, पिवीअ जलमेगट्ठाणम्मि॥94॥

970. सीह-सिसू पिवीअ तह, गो-दुद्धं वच्छो तहा सीहाइ।
अण्णवण्णजंतू अवि, परोप्परे अइणेहजुत्ता॥95॥

971. तदा पूदीगंधा वि, परिवारेणं सह दु आहम्मीअ।
मुणिवराण भत्तीए, वंदणाइ पुण्णविड्ढीए॥96॥

972. चायगोव्व ठिद-भवीहि, मुणिणा चिय पदत्तधम्मुवएसो।
सुणिदो अइपीदीए, भव-विणासट्ठं कल्लाणाय॥97॥

973. अमियासव-मुणीतदा, अमियंव अइपुण्णासव-कारगोय।
भव्वाण सव्वहिदाय, अब्भुद-धम्मामियवरिसादु॥98॥

शिखरिणी छंद

974. सुमुत्ता सिप्पीए पडिदजलबिंदू सुविमला,
दधीरूवं खीरं हवदि दधिजोगेण णियमा।
पवादेणं वा सीयल-सुहद-सुद्धो परिसरो।
सुपुप्फेहि णिच्चं अइसुरभिदो फासिद-पडो॥99॥

975. सुसंसारी अप्पा उसरसबलेणं भयवदो,
पसूणं कूराणं गद-रइ-ठिदी संतिसुहदा।
महीए संतीए सुह-णिगरणं मेह-वरिसा,
विसुद्धीए पावक्खयिदुमह णिग्गंथ-वयणं॥100॥(जुम्मं)

वहाँ मुनि के प्रभाव से घोर वन्य प्रदेश में भी परम शांति थी। सिंह व गाय एक ही स्थान पर एक साथ जल पी रहे थे।।94।। सिंह का बच्चा गाय का दूध पी रहा था तथा गाय का बछड़ा सिंहनी का दूध पी रहा था। अन्य वन्य जन्तु भी परस्पर में अतिस्नेह से युक्त थे।।95।। तभी पूतीगंधा भी अपने परिवार के साथ मुनिवरों की भक्ति वंदना से पुण्य वृद्धि के लिए वहाँ आई।।96।। तब मुनिराज ने चातक पक्षी के समान तृषित भव्य प्राणियों को धर्म का उपदेश दिया। उन सभी ने संसार के नाश व आत्मकल्याण के लिए अति प्रीतिपूर्वक धर्म उपदेश सुना।।97।। अमृत के समान अमितास्रव मुनिराज भव्यों के लिए अति पुण्यास्रव के कारक थे। वहाँ सभी के हित के लिए अद्भुत धर्मामृत की वर्षा हुई।।98।। जिस प्रकार सीप में पड़ी निर्मल जल की बूंद मोती हो जाती है, दही के संयोग से दूध भी दही रूप हो जाता है, झरने के माध्यम से संपूर्ण वातावरण शीतल, सुखद व शुद्ध हो जाता है, पुष्पों से संस्पर्शित वस्त्र भी अत्यंत सुगंधित हो जाता है, जैसे संसारी आत्मा धर्म रूपी रसायन के बल से परमात्मा हो जाती है, रति भाव से रहित निर्विकल्प ध्यानी मुनिराज की उपस्थिति से क्रूर पशु भी सुखी व शांत हो जाते हैं अथवा जैसे मेघवर्षा भूमि की शांति व सुख का कारण होती है उसी प्रकार श्री निर्ग्रन्थ मुनिराज के वचन पाप क्षय व आत्मविशुद्धि के लिए होते है।।99-100।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक-रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में पूतीगंधा (रोहिणी का पूर्व भव) द्वारा आहारदान एवं धर्मोपदेश श्रवण का वर्णन करने वाला अष्टम नंद पूर्ण हुआ।

णवम-णंदो

976. भो भव्वो! तव अप्पा, अणादीदो भमसि बद्धकम्मेहि।
तं करेज्ज पुरिसट्ठं, कम्मक्खयिदुं च सिद्धीए॥1॥

977. कम्मो तिविहो णेयो, भेयादु दव्व-भाव-णोकम्माण।
दव्वकम्म - मट्ठविहं, बावण्णूण - बेसयाणि वा॥2॥

978. होज्जअसंखेज्ज-लोय-पमाण-मुत्तरोत्तरकम्मपइडी।
तेसु सव्वपइडीसुं, अइपबल-मोहणिज्जं जाण॥3॥

979. दव्वकम्माण बंधो, चदुविहो मुणेदव्वो आगमेण।
पइडि-पदेस-ट्ठिदि-अणुभागाणं हंदि भेयादो॥4॥

980. पदेसो अणंतविहो, कम्मवग्गणाणुसारेण बंधो।
होज्जणंत-पदेसाण, समयेगे सो अणंतविहो॥5॥

981. सव्वाणं ठिदिबंधो, उत्तम-मज्झम-जहण्ण-भेयादो।
मोहस्स वरो सत्तर - कोडा - कोडी - सायरं तह॥6॥

982. जहण्णंतोमुहुत्तो, मज्झम्मि चिय सव्व-मज्झिम-बंधो।
जाण सव्व-ठिदि-बंधो, कम्मट्ठाणाइ-गंथेहिं॥7॥

983. दुविहाणुभाग-बंधो, सुह-असुह-पइडीणं च भेयादो।
सुहपइडीणं बंधो, गुड-खंड-सक्करा-अमियं व॥8॥

984. णेयादुअसुहपइडी,णिंब-कंजीर-विस-हलाहलोव्वय।
उत्तरोत्तर-असुहो दु, अणुभागो सव्वकम्माणं॥9॥

985. णियदि-आइ-कारणेण,जिण-सुद-णिग्गंथाणणिमित्तेणं।
पाउणदे जिणधम्मं, पुव्वपुण्णोदयेण अहवा॥10॥

986. णिय-बद्ध-कम्म-फलंदु,बंधगोसयपावेदि णियमादो।
कोविजीवोणभुंजदि,कयाविअण्ण-किद-कम्म-फलं॥11॥

हे भव्य जीव! कर्मों से बद्ध तुम्हारी आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है; इसलिए कर्म-क्षय व आत्म-सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।।1।। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के भेद से तीन प्रकार के कर्म जानने चाहिए। द्रव्यकर्म आठ प्रकार के हैं अथवा उत्तर भेद बावन कम दो सौ अर्थात् एक सौ अड़तालीस (कर्म प्रकृतियाँ) हैं।।2।। उत्तरोत्तर कर्म प्रकृति असंख्यात लोक प्रमाण हैं। उन सभी प्रकृतियों में अतिप्रबल मोहनीय कर्म जानना चाहिए।।3।। जिनागम से प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के भेद से द्रव्यकर्मों का बंध चार प्रकार का जानना चाहिए।।4।। कर्म वर्गणाओं के अनुसार प्रदेशबंध अनंत प्रकार का जानना चाहिए। एक समय में अनंत प्रदेशों का बंध होता है, वह बंध भी अनंत प्रकार का है।।5।। सभी प्रकृतियों का उत्तम, मध्यम व जघन्य के भेद से स्थितिबंध होता है। मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर होता है।।6।। इसका जघन्य बंध अंतर्मुहूर्त है एवं इनके मध्य सभी मध्यम स्थितिबंध हैं। सर्व स्थितिबंध कर्मस्थानादि ग्रंथों से जानने चाहिए।।7।। शुभ व अशुभ प्रकृतियों के भेद से अनुभाग बंध दो प्रकार का होता है। शुभ प्रकृतियों का बंध गुड़, खांड, शर्करा व अमृत के समान होता है।।8।। अशुभ प्रकृति नीम, कांजीर, विष, हलाहल के समान होती है, इन अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर अशुभ रूप होता है।।9।। नियति आदि कारण से, जिनेंद्रदेव, श्रुत व निर्ग्रन्थों के निमित्त से अथवा पूर्व-पुण्य के उदय से जीव जिनधर्म प्राप्त करता है।।10।। अपने बांधे हुए कर्मों का फल बंधक नियम से प्राप्त करता है। कोई भी जीव अन्य द्वारा किए गए कर्मों का फल कभी नहीं भोगता।।11।।

987. समत्थोदुणेवकोवि,अण्ण-किद-कम्मंअण्णहाकरिदुं।
सगपुरिसट्ठबलेणं, संवरं णिज्जराइं करदि॥12॥

988. चित्तविसुद्धीए वा, संकिलेसेणं कम्मट्ठिदीए।
करिदुं जीवो सक्को, अवकस्सणं उक्कस्सणं च॥13॥

989. संभवो पुरिसट्ठेण, कम्मुवसमो खओवसमो खओ य।
लहिदुंमोक्खपहंणो,सक्कदि विणासम्मजदणेण॥14॥

990. बंधिदं जेणं पुव्व-भवे पुण्णकम्मं पुण्णकज्जेहि।
सो भुंजेदि इह भवे, ताणं चिय उत्तमफलाइं॥15॥

991. उक्किट्ठपुण्णफलेण, जीवो पाउणेदि मोक्खमग्गं दु।
जहण्णपुण्णफलेणं,णिदाणविहीणभव-सोक्खंच॥16॥

992. जेहि हिंसाइ - पावं, पुव्व - भवे दुब्भावेहिं करिदं।
कोहाइ-कसायेहिं, बंधिदाणि य असुहकम्माणि॥17॥

993. माणसिग-देहज-तिव्व-भीसण-सद्दादीदाणिदुक्खाणि।
सगिट्ठविओग-मणिट्ठ-संजोगंपाउणंतेते॥18॥(जुम्मं)

994. अण्णाणेणंभुंजदि,मज्ज-मंस-महु-पणुदंबरफलाणि।
तिव्वकसायेणं जदि, बंधेदि णिरयाउं हु तदा॥19॥

995. दुट्ठो विवेगहीणो, भुंजदि जूआइ-सत्तवसणाइं।
अइमलिणचित्तेणं च, बंधेदि णिरयाउं तदा हु॥20॥

996. दुट्ठ-पाविट्ठा असुह-लेस्स-जुदो बंधेदि णट्ठबुद्धी।
अविणयेण जिण-सुद-मुणि-धम्म-धम्मीणं णिरयाउं॥21॥

997. अज्जेज्ज सेट्ठपुण्णं, जिणपूया-सुपत्तदाण-पहुदीहि।
अहिंसाइ-सुव्वदेहि, जोग-दंडिदे अक्खजयेण॥22॥

कोई भी जीव अन्य के द्वारा किए गए कर्म को अन्यथा करने में समर्थ नहीं होता। जीव अपने ही पुरुषार्थ के बल से संवर, निर्जरा आदि करता है।।12।। जीव चित्त की विशुद्धि या संक्लेशता से कर्म की स्थिति का अपकर्षण व उत्कर्षण करने में समर्थ होता है।13।। पुरुषार्थ से कर्म का उपशम, क्षयोपशम व क्षय संभव है। जीव सम्यक् पुरुषार्थ के बिना मोक्षमार्ग प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।।14।। जिसने पूर्वभव में पुण्यकार्यों के द्वारा पुण्यकर्म को बांधा है वह ही इस भव में उनके उत्तम फलों को भोग पाता है।।15।। उत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप ही जीव मोक्षमार्ग प्राप्त करता है और जघन्य पुण्य के फल से निदान विहीन संसार-सुख को प्राप्त करता है।।16।। जिन्होंने पूर्वभव में दुर्भावों से हिंसा आदि पाप किया है वा क्रोधादि कषायों से अशुभ कर्मों का बंध किया है वे इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग प्राप्त करते हैं, मानसिक व देहजनित तीव्र भयंकर शब्दातीत दु:खों को प्राप्त करते हैं।।17-18।। यदि जीव तीव्र कषाय व अज्ञान से मद्य, माँस, मधु (शहद) व पाँच उदंबर फलों का सेवन करता है तो वह नरकायु का बंध करता है।।19।। यदि कोई दुष्ट या विवेकहीन जीव अति मलिन चित्त से जूआ आदि सप्त व्यसनों का सेवन करता है तो वह नरकायु का बंध करता है।।20।। दुष्ट, पापिष्ठ, नष्टबुद्धि (मूर्ख) वा अशुभ लेश्या से युक्त जीव जिनेन्द्रदेव, जिनागम, निर्ग्रन्थ मुनि, जिनधर्म व धर्मियों की अविनय से नरक आयु का बंध करता है।।21।। जिनपूजा, सुपात्रदान आदि से योगत्रय के दंडित करने पर इंद्रिय विजय तथा अहिंसादि सुव्रतों से जीव श्रेष्ठ पुण्य का अर्जन करता है।।22।।

998. पावो दु महातमोव्व, देदि दोत्थं दुरावत्थं दुक्खं।
सुहं संतिमारोग्गं, हरदि उहयलाहं जीवाण॥23॥

999. पुण्णं पयास-रूवो, पुण्णप्पजीवणे कुणदि पयासं।
भरदे सोक्ख-सुगंधं, पसरदि संति-सीयलत्तं च॥24॥

1000. पस्सह णेरइया ते, भुंजंति सगज्जिद-पावफलाइं।
अहमिंदा सुरवरा य, दिवे चिरंतं पुण्णफलाणि॥25॥

1001. अहवा माणुसलोए, दुचक्की मदणो हली तित्थयरा।
पावदि अरिहावत्थं, णरो उक्किट्ठ पुण्णुदयादु॥26॥

1002. धम्माइ-णिमित्तेणं, णिक्कंख-पुण्ण-मुक्किंट्ठ-मज्जेज्ज।
हिंसाइ-दुरिद-मुज्झसु, अहो भव्ववर-पुंडरीगा!॥27॥

1003. अणादीदो य जीवा, बुड्डंति संसार-सायर-घोरे।
रयणत्तय-तरिणीए, किं णो भवसायरं तरेसि॥28॥

1004. सगसत्तीए गहिदं, सम्मत्त-मणुव्वदं महव्वदं च।
मुणिस्सहुहिअयफासिद-देसण-मायण्णियभव्वेहि॥29॥

1005. तदा सुहधम्मसहाइ, पज्जुवट्ठाएज्ज बाला पूदीगंधा।
बद्धकरंजलीए वि, णिवेदिदं परियंदिदूणं॥30॥

1006. भो सामी भयवंतो, उसमुत्ती देसपच्चक्खणाणी।
तुमंसव्वजीवाणं,अयारण-परमबंधूपहू!॥31॥(जुम्मं)

1007. वदह अणुग्गहिदूणं, किं किं पावं किदं मए पुव्वे।
मिच्छण्णाण-वसेणं, कसायावेसेणं अहवा॥32॥

1008. जीविमो कुणदि पुण-पुण मिच्छत्तण्णाणासंजमेहिं च।
दव्वखेत्तयालभाव-भव-परिवट्टणं भो पुत्ती!॥33॥

पाप महा अंधकार के समान है। वह जीव को दुर्गति, दुरावस्था व दु:ख प्रदान करता है। वह पाप जीवों के सुख-शांति, आरोग्य और उभय लाभ का हरण कर लेता है।।23।। पुण्य प्रकाशरूप है। पुण्य पुण्यात्मा के जीवन में प्रकाश करता है, सुख की सुगंध भरता है एवं शांति की शीतलता का प्रसार करता है।।24।। देखो! वे नारकी अपने द्वारा अर्जित पाप के फलों को भोगते हैं एवं देवगण व अहमिंद्र स्वर्ग में दीर्घकाल तक पुण्य फलों को भोगते हैं।।25।। अथवा उत्कृष्ट पुण्य के उदय से जीव मनुष्य लोक में चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, कामदेव, बलभद्र व तीर्थंकर होता है वा अरिहंत अवस्था को प्राप्त करता है।।26।। धर्मादि के निमित्त से नि:कांक्ष उत्कृष्ट पुण्य का अर्जन करना चाहिए। अहो भव्यवर पुंडरीक! हिंसादि पापों का त्याग करो।।27।। अनादिकाल से ये जीव घोर संसार सागर में डूब रहा है। हे भव्यजीव! रत्नत्रय की नौका से तुम संसार सागर को पार क्यों नहीं करते?।।28।। मुनिराज के हृदयस्पर्शी उपदेश को सुनकर भव्यों ने अपनी शक्ति के अनुसार सम्यक्त्व, अणुव्रत व महाव्रतों को ग्रहण किया।।29।। तब उस शुभ धर्म सभा में पूतीगंधा भी उपस्थित थी। उसने मुनिराज को प्रणाम कर हाथ जोड़कर निवेदन किया–हे स्वामी! हे भगवन्! आप धर्म की श्रेष्ठ मूर्ति हैं, प्रत्यक्षज्ञानी हैं। प्रभु आप सभी जीवों के अकारण परम बंधु हो।।30-31।। हे मुनिवर! बताइये, मैंने मिथ्यात्व व अज्ञान के वश होकर या कषाय के आवेश से पूर्वभव में कौन-कौन से पाप किए?।।32।। तब मुनिराज ने कहा हे पुत्री! यह जीव मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम से बार-बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव परिवर्तन करता है।।33।।

1009. विहाव-सहावेणं दु, गहिदो णिगोदवासो अणादीदु।
पत्तेयं जीवेणं, अणंतयालस्स अइ-दुहदो॥34॥

1010. पुणअमियासव-मुणिणा,भासिदंतवपुव्वभवंअक्खामि।
सुणेसुथिरचित्तेणं,भोणंदणी!णियकिदकम्मं॥35॥

1011. अस्सिं जंबूदीवे, भरदखेत्तज्जखंडे सोरट्ठो।
पच्छिमदक्खिणभागे, सुपवित्तो महापुरिसेहिं॥36॥

1012. उज्जयंतसेलादो, लहिदा मुत्ती कोडिमुणिवरेहिं।
गिरिणयर-समीवादो,णिच्छय-रयणत्तयबलेणं॥37॥

1013. भूवाल-सासगेणं, सुसासिदो हंदि तदा देसो सो।
सम्माइट्ठि-धम्मिणा, सेट्ठधीमंत-विक्कंतेण॥38॥

1014. रम्मा सुरूववंता, कलयंठीव महुरभासिग-सुहदा।
महाराणी सरूवा, सुधम्मवच्छला सड्ढालू॥39॥

1015. कुव्वीअ धम्मकज्जं, छावसियं पालंता सव्व-पया।
सग-सासगोव्व णिम्मल-चित्तेहिं तहा विवेगेण॥40॥

1016. जिणदंसणंचवंदण-मच्चणंकुव्वीअजिणहिसेगंच।
सुभत्ति-उच्छाहेणं, वेज्जावच्चं णिग्गंथाण॥41॥

1017. परोवयारणुरत्ता, धम्मकहाइ रुइवंता हिदत्थं।
तित्थजत्ताहिलासी, पव्वेसु सीलुववासजुदा॥42॥

1018. णयर - सेट्ठि - गंगदत्त - वरसावयस्स सुरूवगव्विट्ठा।
मिच्छाइट्ठी भज्जा, सिंधूमदी अधम्मी तत्थ॥43॥

1019. रायाणाए एगे, दिवसे महुच्छवो णयरबज्झम्मि।
सव्व-पयाजणा तत्थ, अइच्छीअ महुच्छाहेणं॥44॥

प्रत्येक जीव ने अनादिकाल से विभाव स्वभाव से अनंतकाल के लिए अति दुःखद निगोदवास पाया।।34।। पुनः अमितास्रव मुनिराज ने कहा–मैं संक्षेप से तुम्हारे पूर्वभव को कहता हूँ। हे पुत्री! अपने द्वारा किए गए कर्मों को तू अपना चित्त स्थिर करके सुन।।35।। इसी जंबूद्वीप में भरत क्षेत्र के आर्यखंड में पश्चिम-दक्षिण भाग में महापुरुषों के द्वारा पवित्र एक सौराष्ट्र नामक देश है।।36।। वहाँ सौराष्ट्र देश में गिरि नगर के समीप ऊर्जयंत अथवा गिरनार पर्वत है, जहाँ से रत्नत्रय के बल से करोड़ों मुनिराजों ने मोक्ष प्राप्त किया।।37।। तब उस देश में राजा भूपाल का शासन था। वह सम्यग्दृष्टि, धार्मिक, श्रेष्ठ, बुद्धिमान व पराक्रमी था।।38।। उसकी स्वरूपा नामक महारानी थी जो मनोहरा, रूपवती, सभी को सुख प्रदान करने वाली, कोकिला के समान मधुर-भाषिणी, धर्म वत्सला व श्रद्धालु थी।।39।। वहाँ सभी प्रजाजन अपने शासक के समान निर्मल चित्त से विवेकपूर्वक छः आवश्यकों का पालन करते हुए धर्म कार्य किया करते थे।।40।। वे सभी भक्तिपूर्वक उत्साह से जिनदर्शन, जिनवंदना व जिनाभिषेक करते थे एवं निर्ग्रन्थ मुनिराजों की वैय्यावृत्ति किया करते थे।।41।। वे सभी परोपकार में अनुरक्त, धर्मकथा में रुचिवान्, हित के लिए तीर्थयात्रा के अभिलाषी एवं पर्वों में शील व उपवास से युक्त थे।।42।। वहाँ गंगदत्त नाम का नगर श्रेष्ठी रहा करता था। उस उत्तम श्रावक के अपने रूप पर अभिमान करने वाली मिथ्यादृष्टि व अधार्मिक सिंधुमती नामक भार्या थी।।43।। एक दिन राजा की आज्ञा से नगर के बाहर महोत्सव हुआ। वहाँ सभी प्रजाजन महा उत्साह के साथ जा रहे थे।।44।।

1020. रायेणं सह सेट्ठी, तदा पमदकाणणं गंगदत्तो।
पच्चड्डीअ णंदेण, महुच्छवस्स वणकिड्डाए।।45।।

1021. सहसत्ति ओअक्खिदो, आगच्छंत-मासुववासी तेण।
णिग्गंथो सज्झाणी, अभेयरयणत्तयधारगो।।46।।

1022. समाहिगुत्त-मुणिवरो, सुद्धुवजोगी देव-जहाजादो।
पारणाइपासादं,पडिसमत्तमुत्तीसुजोगी।।47।।(जुम्मं)

1023. गंगदत्त-सुसेट्ठिणा, देविदा सिंधुमदी णियभज्जा दु।
भो सुंदरी! गच्छेसु, मुणिवरस्स दादु-माहारं।।48।।

1024. दायगस्स सत्तगुणं, धरिय दाएज्ज णवहाभत्तीए।
मुत्तिकारण-माहार-दाणं परंपराइ णियमा।।49।।

1025. कोहग्गि-डज्झंताइ, अंतरे पलोट्टिदं पदि-आणाइ।
णट्ठ बुद्धीए मुणिं, बाहा जाणिय णियकिड्डाइ।।50।।

1026. खिंसिदं णियचित्तम्मि,मुणी मुणिधम्मं जेइणदंसणं च।
अजाणंताए रूव-गव्विदाए अज्जिद-कम्मं।।51।।

1027. ताए चिंतिदं तदा, णग्ग-मुणिस्स दु आगमणत्तादो।
णो सक्का गच्छेदुं, महुच्छवे विविण-केलीए।।52।।

1028. अच्चंतरूववंता, णेव को वि इत्थी मम इव णयरे।
जदि हं गच्छेज्ज तत्थ, पसंसीअ सव्वणारीओ।।53।।

1029. पहुदिं वियारंताइ, पडिग्गहं कुव्विदं कुभावेहिं।
तत्थट्ठिदं महिसस्स, पिट्ठोसहिं देज्जा मुणिस्स।।54।।

1030. आहारम्मि अइकडुग-तुंबि-मच्चंत-कुडिल-परिणामेहि।
अहादोअभिअंताइ,मुणि-माहच्च-अजाणंताइ।।55।।(जुम्मं)

1031. मुणिवरेण सुह-समत्त-भावेहि-मोग्गहिदो दु आहारो।
भयंकर-पहावेणं, तस्स य मुणिवरो मुच्छिदो दु।।56।।

तब राजा के साथ श्रेष्ठी गंगदत्त भी आनंद के साथ वनक्रीड़ा व महोत्सव के लिए प्रमद वन को जा रहा था।।45।। तभी उसने अचानक मासोपवासी, सद्ध्यानी, अभेदरत्नत्रयधारी, शुद्धोपयोगी, समत्व मूर्ति, श्रेष्ठ योगी यथाजात निर्ग्रन्थदेव श्री समाधिगुप्त मुनिराज को पारणा के लिए अपने महल की ओर आते हुए देखा।।46-47।। तब गंगदत्त श्रेष्ठी ने अपनी पत्नी सिंधुमती को आज्ञा दी हे सुंदरी! तुम मुनिवर को आहार देने के लिए वापस जाओ।।48।। देखो! दाता के सात गुणों को धारण कर नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहार देना। आहारदान नियम से, परंपरा से मोक्ष का कारण है।।49।। वह पति की आज्ञा से लौट तो आई किंतु वह मूर्खा मुनिराज को अपनी क्रीड़ा में बाधा जानकर अंतरंग में क्रोध की अग्नि से जलने लगी।।50।। अपने रूप में गर्वित उस सिंधुमती ने अर्जित पापकर्म को न जानते हुए अपने चित्त में मुनि, मुनिधर्म और जैनदर्शन की निंदा की।।51।। तब वह सोचने लगती है कि इन नंगे मुनि के आने के कारण मैं वनक्रीड़ा व महोत्सव में नहीं जा सकी।।52।। मैं अत्यंत रूपवती हूँ, मेरे समान इस नगर में और कोई स्त्री सुंदर नहीं है। यदि मैं वहाँ जाती तो सभी नारियाँ मेरी प्रशंसा करतीं।।53।। इत्यादि प्रकार से विचार करते हुए उस सिंधुमती ने कुभावों से मुनिराज का पड़गाहन किया। वहाँ भैंस की पीठ पर लगाने के लिए रखी औषधि अति कड़वी तूमड़ी को पापों से भयभीत न होती हुई एवं मुनि के माहात्म्य को न जानती हुई सिंधुमती ने मुनिराज को दिया।।54-55।। मुनिवर ने शुभ समत्व भावों से आहार ग्रहण किया। उस कड़वे आहार के भयंकर प्रभाव से मुनिराज को मूर्च्छा आ गयी।।56।।

1032. अंतोमुहुत्त-पच्छा, सचेदं होच्चु जमसल्लेहणा य।
अहिपच्चुइदा तदाहु, समत्त-भावजुद-विसुद्धीइ॥57॥

1033. पुण पत्थिवं सरीरं, छंडिदं परमेट्ठि-सिमरंतेणं।
सिद्धोव्व अप्पसत्तिं चितंतेणं मोक्खं लहिदुं॥58॥

1034. पावकम्मं खयित्ता, कप्पसग्गम्मि सो देवो जादो।
मुणिस्स मिदं सरीरं, विरायिदूणं सुविमाणम्मि॥59॥

1035. णेंता जणा पस्सित्तु, णयर-बहिरं चिय अच्चंत-दुहिदा।
पुच्छिदं मुणि-विसयम्मि, आगच्छंत-राय-सेट्ठीहि॥60॥(जुम्मं)

1036. अहो सज्जणो! इमो दु, किं मुणिवरो कहं होज्ज समाही।
विआउल-चित्तेणं दु, आकंदंतेण रुदंतेण॥61॥

1037. एयणयरवासिणा य, आइक्खिदं णयरसेट्ठि-इत्थीइ।
दायिद-विसत्ताहार-परिणाम-भयंकरो इमो दु॥62॥

1038. वरिसंत-ओसबिंदू, पइडीए करुण-कंदणं व तहा।
पडंत-रुक्खपत्ताणि, पइडीइ सोल्लद-भूसणं व॥63॥

1039. अत्थमाण-रत्तक्को, रोसेण णियाणणं लुक्कंतोव्व।
तं दस्सं पस्सेदुं, पीडं सोढु - मसक्कत्तादु॥64॥

1040. वरपुरिसाण सहावो, सीदंति परपीडाइ णो सगस्स।
तावेण णवणीदं व, जह मुणिवरो उवसग्गजयी॥65॥

1041. पवण-छलेण पइडी वि, णिस्ससमाणा व अच्चंत-दुहेण।
वण्णजंतू वि थड्ढा, भीसण-झुणिणा सुण्णत्तं व॥66॥

अंतर्मुहूर्त पश्चात् सचेतावस्था को प्राप्त कर समत्वभाव युक्त विशुद्धि से मुनिराज ने यमसल्लेखना ग्रहण की।।57।। पुनः मोक्ष प्राप्ति हेतु पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए और सिद्धों के समान आत्मशक्ति का चिंतन करते हुए अपने पार्थिव शरीर का परित्याग किया।।58।। पाप कर्मों का क्षय करके वे कल्पस्वर्ग में देव हुए। इधर अत्यंत दुःखी होकर नगरवासी मुनिराज के मृत शरीर को विमान में विराजमान कर नगर के बाहर ले जा रहे थे। तभी सामने से आते हुए राजा व श्रेष्ठी ने विमान को देखकर मुनिवर के विषय में पूछा।59-60।। अहो सज्जन! ये कौन से मुनिराज हैं, इनकी समाधि किस प्रकार हुई? तब क्रंदन करते हुए रोते हुए व्याकुल चित्त से एक नगरवासी ने कहा, नगरश्रेष्ठी की स्त्री ने मुनिराज को विषाक्त आहार दिया; यह उसी का भयंकर परिणाम है।।61-62।। मुनिराज के समाधिमरण को देखकर उस समय गिरती हुई ओस की बूँद ऐसी लग रही थी मानो प्रकृति का करुण क्रंदन ही हो, गिरते हुए वृक्ष के पत्ते ऐसे लग रहे थे मानो प्रकृति के द्वारा गिराये गए आभूषण ही हैं।।63।। अस्त होते हुए सूर्य का चेहरा क्रोध से लाल हो रहा था। तब ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह उन मुनि की समाधि के दृश्य को देखने में व उस पीड़ा को सहने में असमर्थ होने से अपना चेहरा ही छिपा रहा हो।।64।। उचित है महापुरुषों का स्वभाव ही होता है कि वे दूसरों की पीड़ा से उसी प्रकार दुःखी होते हैं जिस प्रकार ताप से नवनीत पिघल जाता है। वे अपनी पीड़ा से वैसे ही दुःखी नहीं होते जैसे उपसर्गजयी मुनिराज।।65।। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि पवन के छल से मानो अत्यंत दुःखपूर्वक प्रकृति भी श्वाँस छोड़ रही हो। जिस प्रकार भयानक आवाज से सभी ओर शून्यता वा स्तब्धता सी छा जाती है उसी प्रकार उस समय सभी वन्य जंतु भी स्तब्ध रह गए थे।।66।।

1042. सुणियसव्व-वित्तंतं,पस्सित्तामुणिस्सअयाल-मरणं।
तज्जिदाअइकुविद-णिव-गंगदत्तेहि दंडिदासा॥67॥

1043. अणंतरं णिवसहाइ, करावित्तूण मुंडणं मुहसामं।
पण-बिल्लं बंधित्ता, गीवाए य गद्दभ-याणे॥68॥

1044. आसावित्ता ढोल्लं, वज्जावित्तूण सा णीसारयिदा।
देसादोतक्काले,किद-जहण्ण-पावस्सताए॥69॥(तिअं)

1045. मुणिवर - वह - पावेणं, जुत्ता उदंबर - पंडु - रोयेणं।
सत्तदिवसेसु जेणं, देहो दुग्गंधिदो सामो॥70॥

1046. अच्चंत-कट्ठदायग-सहस्स-वणादुपीवंणिस्सरीअ।
असहणीय-पीडाए,अइ-संकिलिट्ठ-परिणामेहि॥71॥

1047. अट्ट-भावेहिपाविय,मरण-मुप्पज्जीअछट्ठ-णिरयम्मि।
तादोअग्गम्मिणेव,संभवोइत्थी-उप्पत्ती॥72॥(जुम्मं)

1048. बावीस-सायरंतं, णेरइयेण भुंजिदं घोरदुहं।
पुण-पुणदव्वखेत्ताइ-जणिद-दुहाणिमरिसिदंतेण॥73॥

1049. अग्गिम्मिदहणंतहा,तिल-तिल-कुव्वणंअत्थसत्थेहिं।
करवालोव्व हु सेमर - देह - छिंदणं तरु - पत्तेहि॥74॥

1050. किमीकुलेहिं पूरिद - रत्तपीवाइ - जुद - वेतरणीए।
सद्दादीद-दुह-लहण-माइ-किच्छं बला सहंता॥75॥

1051. विलावंतो रुदंतो, कदलीघादमरण - असक्कत्तादु।
अइ-असुह-परिणामेहि,अइ-असुह-वेउव्वियेहिंच॥76॥

1052. महाकट्ठेण भुंजिय, पुण्णाउं च णिस्सरित्ता तादो।
कूर-दुट्ठ-तिरियेसुं,उप्पज्जीअपाव-फलेणं॥77॥(चदुत्थं)

1053. पच्छा सत्तम-णिरये, पुण पाउणिदं बहु-दुक्खं तेणं।
इत्थं बहुवारं सो, होही य तिरिक्ख-णेरइया॥78॥

इस प्रकार मुनि के अकालमरण को देखकर एवं सर्व वृत्तान्त को सुनकर राजा व गंगदत्त श्रेष्ठी सिंधुमती पर उसके द्वारा किए गए जघन्य पाप के लिए बहुत क्रोधित हुए। उन्होंने सिंधुमती की भर्त्सना की एवं दंड दिया। अनंतर राजसभा में उसका सिर मुड़वाकर और मुँह काला करवाकर पाँच बेल पत्थर उसके गले में बांध दिए। पुनः उसे गधे पर बैठाकर उसके आगे ढोल बजवाकर उसे देश से तत्काल बाहर निकाल दिया।।67-69।। मुनि की हत्या के पाप से सात दिनों में ही वह उदंबर कुष्ठ रोग से युक्त हो गयी जिससे उसकी देह दुर्गन्धित हो गयी और काली पड़ गयी।।70।। उसके शरीर में अत्यंत कष्टदायक हजारों घावों से पीव बहने लगी। असहनीय पीड़ा से अति संक्लेश युक्त परिणाम एवं आर्त परिणामों से मरण करके वह छठवें नरक में उत्पन्न हुई।।71-72।। वहाँ उस नारकी ने बाईस सागर तक घोर दुःखों को भोगा। पुनः पुनः द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव जनित दुःखों को उसने सहन किया।।73।। अग्नि में दहन करना, अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा तिल-तिल करना, तलवार के समान सेमर के वृक्ष के पत्तों से देह का छेदना, कीटों के संकुल से भरी हुई रक्त-पीव आदि से युक्त वैतरणी नदी में शब्दातीत दुःखों को प्राप्त करना इत्यादि दुःखों को जबरदस्ती सहते हुए, विलाप करते हुए, रोते हुए, अति अशुभ परिणामों एवं अति अशुभ विक्रिया के साथ वहाँ कदलीघात मरण नहीं होने से महाकष्टपूर्वक अपनी पूर्ण आयु को भोगा। पुनः वहाँ से निकलकर वह जीव पाप के फलस्वरूप क्रूर-दुष्ट तिर्यञ्चों में उत्पन्न हुआ।।74-77।। उसके पश्चात् वह जीव सातवें नरक में उत्पन्न हुआ और वहाँ उसने बहु दुःखों को प्राप्त किया। इस प्रकार वह सिंधुमती का जीव कई बार नारकी व तिर्यंच हुआ।।78।।

1054. अपसत्थ-तिरिय-गदीइ, बेवारं साणिल्लिया पुणो सा।
सूकरी पुण जंबुगा, णंतरं मूसिगा जलूगा॥79॥

1055. पच्छा करिणी वडवा, गोहेरो पाव-फलं भोयंतो।
सेस-पावफलेणं दु, दुग्गंधिदा अच्चंतदुही॥80॥

1056. बंधु-आदीहि णिंदिद-तिरक्करिदा सव्वजणसमूहेहि।
धणमित्तस्स हु पुत्ती, पूदीगंधा पावभोयी॥81॥(जुम्मं)

1057. तए सिंधुमदि-भवम्मि, णो पालिदा पदि-अण्णा चित्तेण।
रूवमदेण पस्सिदो, णियपदी अइ-तुच्छो तादो॥82॥

1058. णेवपदिसुहं अस्सिं, भवम्मि णिय-पदि-विजोगस्स पीडा।
कम्मंकिद-छायातं, कज्जंकरिदुं जागरूओ॥83॥(जुम्मं)

1059. मुणि-णिंदगो वाहणगो, जिणसासण-घादगो णिच्छयेणं।
तस्स धण-पय-पदिट्ठा-देह-कुडुंबादी खयंति दु॥84॥

1060. मुणिवयणं सुणिदूणं, भव-देह-भोयादो विरत्ताए।
णियपुव्वभव-पावेण, कंविदाए खलु पुच्छिदं च॥85॥

1061. पुण-पुण परियंदित्ता, पावमुत्तीए चिय उवाओ किं।
हे सामी! हे णाहो!, अणुग्गहिदूण आअक्खेज्ज॥86॥(जुम्मं)

1062. अहो पुत्ती! इह भवे तुमं, समत्था सगपावं खयिदुं।
पाव-मोअणाइ तुमं, पावेज्जा जिणधम्म-सरणं॥87॥

1063. महव्वद-समिदि-गुत्ती, पालंता लोचाइ-सत्त-गुणंच।
पंचिंदियं विजित्ता, सडावसियं दु पकुव्वंता॥88॥

1064. रयणत्तय-संजुत्ता, वज्जुसहणाराय-धारगा जे हु।
कुव्वंति बारस-तवं, तह आदावणाइ-जोगं च॥89॥

1065. सुद्धप्पे संलीणा, बावीस-परीसहं च जयिदूणं।
लहंति सिवसुहं ते, सुक्कज्झाण-बलेण णियमा॥90॥(तिअं)

पुनः वह सिंधुमती अप्रशस्त तिर्यंच गति में दो बार कुत्ती हुई, फिर शूकरी हुई, फिर सियारिनी हुई, फिर चुहिया हुई, फिर जौंक हुई।।79।। पश्चात् हथिनी हुई, गधी हुई। फिर गोहेरा (गुहा अथवा विषखपरिया) हुई। पुनः पाप के फल को भोगते हुए शेष पाप के फल से अत्यंत दुःखी, दुर्गंधित शरीर वाली, बंधुओं आदि के द्वारा निंदित, सभी जनसमूह के द्वारा तिरस्कृत, पाप को भोगने वाली तुम धनमित्र की पुत्री पूतीगंधा हुई हो।।80-81।। तुमने उस सिंधुमती के भव में मन से पति की आज्ञा का पालन नहीं किया एवं रूप-सौंदर्य के अहंकार में अपने पति को अति तुच्छ देखा जिससे इस भव में तुम्हें पति का सुख नहीं है, अपने पति के वियोग की पीड़ा है। कर्म करनी की परछाई है अतः कार्य करने में सदैव जागरूक रहो।।82-83।। मुनि निंदा व हनन करने वाला निश्चय से जिनशासन का घातक होता है। उसका धन, पद, प्रतिष्ठा, देह, परिवार आदि सब नाश को प्राप्त हो जाते हैं।।84।। मुनि के वचनों को सुनकर जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो गई थी, अपने पूर्वभव के पाप को सुनकर जो काँप रही थी, ऐसी पूतीगंधा ने पुनः पुनः नमस्कार करते हुए मुनिराज से पूछा! हे स्वामी! हे नाथ! पापों से मुक्त होने का क्या उपाय है, कृपया कर कहिए।।85-86।। पुनः मुनिराज ने कहा—हे पुत्री! तुम इस भव में अपने पापों का क्षय करने में समर्थ हो। पाप से छुटकारा पाने के लिए तुम्हें जिनेंद्र देव द्वारा प्रणीत धर्म की शरण प्राप्त करनी चाहिए।।87।। जो रत्नत्रय से युक्त, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी, महाव्रत, समिति, गुप्ति व केशलुंचन आदि सात गुणों का पालन करते हुए, पंचेन्द्रियों को जीतकर षडावश्यकों को करते हुए बारह तपों व आतापन आदि योग को करते हैं, शुद्धात्मा में लीन हैं, बाईस परीषहों को जीतकर वे शुक्लध्यान के बल से नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।।88-90।।

1066. थीलिंगं छिंदेदुं, सम्मत्तजुद - महव्वदं पालेज्ज।
असुहसंवरो य पउर-णिज्जरा समत्तभावेणं॥91॥

1067. सम्मसङ्घाए जो वि, पालदि बहुवदमेगं भव्वो वा।
पावेदुं सारज्जं, समत्थो णिव्वाणसोक्खं च॥92॥

1068. पुण सा कहदि विणयेण, समत्थो सव्वं जाणिदुं सामी।
पुव्वसंचिदकम्मादु, मुत्तीए किं कुव्वेमु कह॥93॥

1069. धीरेण सुणसु पुत्ती!, पावक्खयहेदू णिअमो पूया।
संजम-वद-भत्ती वा, जदि पावक्खयं दुइच्छेसि॥94॥

1070. दोत्थ - दुरावत्थाणं, देवरायाइ - सुपसत्थ - पदं तो।
रोहिणिवदं पालेज्ज, णिट्ठाइविहीइ सत्तीए॥95॥(जुम्मं)

1071. करुणा-मिस्सिद-वयणं, आयण्णिदूण उप्पालिदं ताइ।
हे मुणिवरो! का विही, रोहिणीवदस्स कहं करमु॥96॥

1072. विहिं रोहिणीवदस्स, सावहाणं होच्च सुणेसु पुत्ती!।
दयाणिहाण-मुणिणादु, आइक्खिदं अप्पहिदत्थं॥97॥

1073. पणिंदिय-विसय-मुज्झिय, कसायं विओग्गहेज्ज उववासं।
सुभावेहि पडिमासे, चंदे रोहिणीणक्खत्ते॥98॥(तिअं)

1074. सत्तवासमासंतं, उक्किट्ठेण पणवासमासंतं।
मज्झमेणं तियवास-तिमासंतं जहण्णेणं च॥99॥

1075. करेज्जा विसुद्धीए, सत्तीइ सोडसपहरोववासं।
सिरि-जिणिंद-देवस्स, जवं भत्तिं करेज्ज पूयं॥100॥

1076. वदे पुण्णे हरिसेण, उच्छाहेण उज्जावणं करेज्ज।
णियसत्तीए अहवा, सत्तीइ हीणे वद-दुगुणं॥101॥

स्त्रीलिंग के छेदन के लिए सम्यक्त्व युक्त महाव्रतों का पालन करना चाहिए। समत्वभाव से अशुभ का संवर और उसकी प्रचुर निर्जरा होती है।।91।। जो भी भव्य जीव सम्यक् श्रद्धापूर्वक एक या बहुत व्रतों का पालन करता है वह स्वर्ग का साम्राज्य पुनः निर्वाण सुख प्राप्त करने में समर्थ होता है।।92।। वह पूतीगंधा पुनः विनयपूर्वक कहती है–हे स्वामी! आप सब जानने में समर्थ हैं। पूर्व संचित पाप कर्मों से मुक्ति के लिए मैं क्या करूँ, कहिए मुनिवर।।93।। मुनिराज ने कहा–हे पुत्री! धैर्यपूर्वक सुनो, नियम, पूजा, संयम, व्रत और भक्ति पापों के क्षय का हेतु है। यदि तुम पापों के क्षय, दुर्गति व दुरावस्था के क्षय की इच्छा करती हो, देवराज आदि प्रशस्त पदों को प्राप्त करना चाहती हो तो निष्ठा से विधिपूर्वक शक्ति के अनुसार रोहिणी व्रत का पालन करो।।94-95।। मुनिराज के करुणा मिश्रित वचनों को सुनकर उसने कहा–हे मुनिवर! रोहिणी व्रत की क्या विधि है, मैं किस प्रकार इस रोहिणी व्रत को करूँ? तब आत्महित के लिए दयानिधान मुनिराज ने कहा–हे पुत्री! रोहिणी व्रत की विधि को सावधान होकर सुनो। प्रत्येक महिने जब चंद्रमा रोहिणी नक्षत्र पर हो तब चार प्रकार के आहार एवं कषाय का भी त्याग कर उपवास ग्रहण करना चाहिए।।96-98।। यह व्रत उत्कृष्ट से सात वर्ष सात महीने, मध्यम रूप से पाँच वर्ष पाँच महीने एवं जघन्य से तीन वर्ष तीन माह तक करना चाहिए।।99।। उस दिन शक्ति अनुसार विशुद्धिपूर्वक सोलह प्रहर का उपवास करना चाहिए एवं श्री वासुपूज्य भगवान् की भक्ति, पूजा और जाप करनी चाहिए।।100।। व्रत के पूर्ण होने पर हर्ष से शक्ति के अनुसार उत्साहपूर्वक उद्यापन करना चाहिए। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो व्रत दुगुना करना चाहिए।।101।।

1077. किदण्हु-भाव-जुदाए,कहिदं पहू!अणुवगूहियसत्तिं।
सुवदं गहेमि जम्हा, मुणिवयणं कल्लाण-हेदू॥102॥

1078. पावणासगं सुहदं, संतिदायगं कल्लाणकारगं।
पालिदं रोहिणिवदं, ताए सगपावक्खयेदुं॥103॥

1079. सगसत्तीए उत्तम - सुविहीए विसुद्धीइ पालिदं हु।
सत्तमासुत्तर - सत्त - वासपज्जंतं मुणिकिवाइ॥104॥

1080. रोहिणिवद-पालणादु, उप्पज्जमाण-परमविसुद्धीए।
पसत्थ-भावेहि-माउ-अंतम्मि णियदेहं मुंचिय॥105॥

1081. सोलसमच्चुदसग्गे, अप्पडिम-सुंदरिमा-सुरंगणा हु।
बहुविहव-इड्ढिधारग-दिव्वदेहवंतसुरिंदस्स॥106॥(जुम्मं)

1082. तत्थ पभुंजंता चिअ सुह - भोयाणि बहुयाल - पज्जंतं।
चयित्तु तादो राणी, रोहिणी सुवद-पहावेणं॥107॥

इन्द्रवज्रा छंद

1083. भुंजंत-इत्थीइ अघेहि किच्छं,
णाणाकुजोणीसु भमाडिदं वा।
पुण्णेगकम्मस्सुदयादु होज्जा,
सा रोहिणी राणि-सुपुण्णवंता॥108॥

1084. जोगेहि कुव्वेदि सुहे पवट्टिं,
जो सो णिवट्टिं असुहस्स णिच्चं।
सोक्खं लहंतो हवदे समत्थो,
किच्छं खयेदुं णियमेण भव्वो॥109॥

तब कृतज्ञभाव से युक्त हो पूतीगंधा ने कहा–हे प्रभु! अपनी शक्ति को न छिपाकर मैं व्रत ग्रहण करती हूँ। उचित ही है मुनि के वचन कल्याण के हेतु होते हैं।।102।। अपने पापों के क्षय के लिए उस पूतीगंधा ने पाप को नाश करने वाले, सुख प्रदायक, शांति दायक व कल्याणकारक रोहिणी व्रत का पालन किया।।103।। उसने मुनिराज की कृपा से अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम सम्यक् विधि से सात वर्ष सात माह पर्यंत विशुद्धिपूर्वक व्रत का पालन किया।।104।। रोहिण ी व्रत के पालन करने से उत्पन्न होने वाली परम विशुद्धि से आयु के अंत में प्रशस्त भावों से अपने शरीर का त्यागकर वह पूतीगंधा सोलहवें अच्युत स्वर्ग में बहुत वैभव, ऋद्धि के धारक, दिव्य देह से युक्त, सुरेंद्र की असाधारण सौंदर्य से युक्त देवांगना हुई।।105-106।। यहाँ स्वर्ग में बहुत काल पर्यंत शुभ भोगों को भोगती हुई वहाँ से च्युत होकर श्रेष्ठ व्रत के प्रभाव से रोहिणी हुई।।107।। इस प्रकार पाप कर्मों के द्वारा दु:खों को भोगती हुई उस सिंधुमती ने नाना कुयोनियों में भ्रमण किया। पुन: एक पुण्य कर्म के उदय से वह अतिपुण्यवान् रोहिणी रानी हुई।।108।। जो भव्य जीव तीनों योगों से शुभ में प्रवृत्ति करता है, अशुभ की निवृत्ति करता है वह नियम से सुख को प्राप्त करते हुए दु:ख को नष्ट करने में समर्थ होता है।।109।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में पूतीगंधा (रोहिणी के पूर्वभव व रोहिणी व्रत की विधि) का वर्णन करने वाला नवम नंद पूर्ण हुआ।

दसम-णंदो

1085. पुण अमियासव-मुणिवर-चरणेसुं भाववंदणं किच्चा।
सपुव्वभवो पुच्छिदो, असोगेणं उच्छाहेणं।।1।।

1086. भो णिवो! जीवो इमो, मिच्छत्तेणं भमदि अणादीदो।
अण्णाण-कसायेहिं, अजाणंतो जहत्थरूवं।।2।।

1087. भवदुक्ख-मोयणाए, विरत्तीइ भव-सरीर-भोयादो।
पुण्णपावदंसावग-पुव्वभवा सुणह थिरमणेण।।3।।

1088. जंबुदीवस्स भरदे, सगडदेसम्मि य सीहपुरणयरं।
सीहसेणो भूवदी, धीरो उवयारी किवालू।।4।।

1089. विक्कंतो सीहोव्व य, हंसोव्व णायप्पियो सुप्पसिद्धो।
धम्मकज्जेसुलीणो, सुजणगोव्वतह णियपयाए।।5।।(जुम्मं)

1090. तस्स पाणवल्लहा दु, कणयपहा सुरम्मा णिवाणुयरा।
कत्तव्वणिट्ठा धम्म-कज्जेसु सहगारी णिच्चं।।6।।

1091. ताणं अइ - दुग्गंधिद - देह - जुदो पूदीगंधो पुत्तो।
णिय-पाव-फल-भोयीय, दुब्भगोदुक्कंदिरोदुक्कुहोदु।।7।।

1092. सीहपुर-समीवम्मि दु, रम्मं महुज्जामं आगच्छिदं।
णियधम्मसाहणाय दु, समये समये सणिग्गंथेहि।।8।।

1093. एयदा विमलमदणो, णिग्गंथो य सुमेरुव्व अकंवो।
तवस्सी वीर-धीरो, आदावणाइ-जोग-जुत्तो।।9।।

1094. णिम्मलरयणत्तयेण, जुदो विसिट्ठ वेरग्ग-पूरिदो य।
उक्किट्ठ धम्मज्झाण-संजुदो सुद्धप्पे लीणो।।10।।

1095. णिव्विअप्प-झाणी तह, वीयराय-सम्मत्त-संजुत्तो य।
आगच्छीअ उववणं, पुण कसायं उवसमिदूणं।।11।।

1096. आरोहीअ उवसमं, पुणो ओरसीअ कालक्खयादो।
अच्चंत-विसुद्धीए, आरोहीअखवग-सेणिंच।।12।।(चउक्कं)

पुनः श्री अमितास्रव मुनिराज के चरणों में भावपूर्वक वंदन करके अशोक ने उत्साहपूर्वक अपने पूर्वभव पूछे।।1।। तब मुनिराज ने कहना प्रारंभ किया–हे राजन्! यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व, अज्ञान व कषायों के कारण यथार्थ स्वरूप को न जानते हुए संसार में परिभ्रमण कर रहा है।।2।। संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए एवं संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति के लिए पुण्य व पाप को दर्शाने वाले अपने पूर्वभवों को मन की स्थिरतापूर्वक सुनो।।3।। इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में शकट देश है। उसमें सिंहपुर नाम का नगर है। वहाँ का राजा सिंहसेन था। वह राजा धीर, उपकारी व कृपालु था। वह सिंह के समान विक्रमी, हंस के समान न्यायप्रिय, सुप्रसिद्ध, धर्म कार्यों में लीन रहने वाला और अपनी प्रजा के लिए श्रेष्ठ पिता के समान था।।4-5।। उसकी कनकप्रभा नामक प्राणवल्लभा थी। वह मनोहरा, राजा की अनुचरी, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं राजा के धर्म कार्यों में नित्य सहयोगी थी।।6।। उनके अति दुर्गन्धित देह से युक्त पूतीगंध नामक पुत्र था, जो अपने पाप के फल को भोगने वाला, दुर्भग, अत्यंत आक्रंदन करने वाला एवं असहिष्णु था।।7।। उस सिंहपुर नगर के समीप एक मनोहर महा उद्यान था। जहाँ अपनी धर्मसाधना के लिए समय-समय पर निर्ग्रन्थ मुनिराज आते थे।।8।। एक बार उस उपवन में विमलमदन नामक निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। वे सुमेरु पर्वत के समान अकंप, तपस्वी, धीर-वीर, आतापन आदि योगों को धारण करने वाले, विशिष्ट वैराग्य से परिपूरित, उत्कृष्ट धर्मध्यान से संयुक्त, शुद्धात्मा में लीन, निर्विकल्प ध्यानी तथा वीतराग सम्यक्त्व से युक्त थे। वे वहीं कषायों का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए; पुनः कालक्षय के कारण वे उपशम श्रेणी से नीचे आ गए। फिर अत्यंत विशुद्धि से कर्मों का क्षय करते हुए वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए।।9-12।।

1097. कम्मक्खयंतो विदिय - सुक्कज्झाणबलेणं घादित्ता।
तियघादिकम्माणि चिय, अणंतचदुट्ठयजुदो होज्ज॥13॥

1098. सव्वण्हु-सव्वदंसी, लोयालोयपयासगो भयवो दु।
जम्माइ-दोस-रहिदो, परमोरालिय-देहवंतो॥14॥

1099. केवलणाणुच्छवम्मि, पस्सिय तस्स आगच्छंत-देवा।
पासाद-छायणे ठिद-पूदीगंधो मुच्छिदो तह॥15॥

1100. सव्वाउला वाउला, तदा मुच्छिदे हु पूदीगंधम्मि।
उवयारो कुव्विदो दु, रायभिसगेणं तक्काले॥16॥

1101. विमलमदण-केवलिस्स, णियडे गच्छीअ सीहसेणो पुण।
पणमिय पदक्खिणित्ता, विणयेण धम्मसवणं कट्ठ॥17॥

1102. पुच्छीअ भो भयवदो, किं कारणं मम सुदस्स मुच्छाइ।
विणिम्मलगुणधारगो, लोयालोयपयासगो तह॥18॥(जुम्मं)

1103. वोच्छे पुव्वभवं हं, तव सुदस्स सुणेह होच्च सचेदं।
गणहरेण वज्जरिदं इत्थं दु करुणाबुद्धीए॥19॥

1104. जंबुदीवस्स भरदे, कलिंग-समीवत्थ-अयल-विंझम्मि।
उत्तरभागे असोग-घोरकाणणम्मि बे-हत्थी॥20॥(जुम्मं)

1105. कमसो य थंभगारी, सेदगारी णामेणं पसिद्धा।
एयदा जलं पिविदुं, गच्छीअ खलु एगं सरिदं॥21॥

1106. पुव्ववेरेण भिडित्तु, जलकारणेण परोप्परे लहित्तु।
अइदुक्खपुण्णमिच्चुं, मज्जारो मूसगो होही॥22॥

1107. तत्थ वि वेरभावेण, भिडिदूणं मरिदूणं च पुणो ते।
भुअंगोणउलो पुणो, परभवम्मि सेणो णायोय॥23॥(जुम्मं)

1108. पुणो उहयो कवोदो, मिहो वेरेणं भिडित्ता मरीअ।
जंबुदीवस्स भरदे, अज्जखंडे अज्जपूरिदे॥24॥

1109. कणगपुर-रम्म-णयरे, सोमपहो पया-वच्छलो राओ।
महुरभासिआराणी, सोमसिरी मणोहरा तस्स॥25॥(जुम्मं)

पुनः द्वितीय शुक्लध्यान के बल से शेष तीन घातिया कर्मों को नष्ट कर अनंत चतुष्टय से युक्त हुए।।13।। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, लोकालोक को प्रकाशित करने वाले, जन्म आदि दोषों से रहित तथा परमौदारिक देह से युक्त जिनेंद्र भगवान् हुए।।14।। उनके केवलज्ञान महोत्सव में आते हुए देवों को देखकर अपने महल की छत पर बैठा पूतिगंध मूर्च्छित हो गया।।15।। पूतीगंध के मूर्च्छित होने पर सभी आकुल-व्याकुल हो गए तब राजवैद्य के माध्यम से तत्काल उसका उपचार किया गया।।16।। पुनः राजा सिंहसेन विमलमदन केवली के निकट गए, उनको प्रणाम कर तीन प्रदक्षिणा कर धर्म का श्रवण करके विनयपूर्वक पूछा हे लोकालोक प्रकाशक! निर्मल गुणों के धारक भगवन्! मेरे पुत्र पूतीगंध को मूर्च्छा आने का क्या कारण है? ।।17-18।। तुम्हारे पुत्र के पूर्वभवों को मैं कहता हूँ, राजन्! तुम सचेत होकर सुनो! इस प्रकार करुणाबुद्धि से गणधर देव ने कहा कि जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में कलिंग देश के समीप विंध्य पर्वत पर उत्तर भाग में अशोक नामक गहन वन में दो हाथी थे।।19-20।। वहाँ से बैरपूर्वक मरण कर दोनों कबूतर हुए। पुनः परस्पर में बैर से लड़कर मृत्यु को प्राप्त हुए। जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में आर्यजनों से पूरित आर्यखंड में कनकपुर नामक रमणीय नगर था। जहाँ प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव से युक्त राजा सोमप्रभ था। उस राजा सोमप्रभ की मधुरभाषिणी चित्त का हरण करने वाली रानी सोमश्री थी।।24-25।।

1110. ताए रायसहाए, रायगुणेसु अणुरत्तो पुरोहो।
बहुसत्थपारंगदो, सोमभूदि-विवित्तो धम्मी॥26॥

1111. सोमिला तस्स पिया य, पदि-गुणाणुरत्ता सीलवंता य।
ताण बेपुत्ता विदू, सोमसम्मा सोमदत्तो य॥27॥

1112. ते थंभसेदगारी, धरिदूणं बहुपज्जायं कमसो।
मरित्तु पुण्णवइरेण, होज्जा पुरोह-पुत्ता इमे॥28॥

1113. सगपिदर-सक्कारेण, सुसंगदीए सोमदत्तो पियो।
मणोहरो धम्मिट्ठो, सव्वसुविज्जाकलाकुसलो॥29॥

1114. सोमसम्मा य रुद्दज्झाणसंजुदो कलहपियो दुट्ठो।
धम्ममग्गधंसगो यकरुणाइसुगुण-विवज्जिदोय॥30॥

1115. सोमसम्मणो भज्जा, सुकंता मूढसहावी पावी य।
उज्झिय धम्मज्झाणं, तप्परा पइवसं करेदुं॥31॥

1116. धम्मविवरीदा ताइ, संदिद्धायरणं मलिणचित्तादु।
सोमसम्मा-सहावो, उच्छंखलो तह सच्छंदो॥32॥

1117. सोमदत्तस्स कंता, लच्छीमदी तहा चंचलचित्ता।
धम्मसक्कारहीणा, पवट्टी दु संकिदा ताए॥33॥

1118. णवरि भद्दपरिणामी, सोमदत्तो णो जाणिदुं सक्को।
ताए मणोभावा दु, मज्जादारक्खगो धम्मी॥34॥

1119. एयदिवसम्मि दु सोमभूदि - पुरोहे देहावसाणम्मि।
रायेण पदायिदं, पुरोह-पदं तस्स पुत्तस्स॥35॥

1120. सकत्तव्वेसु णिट्ठावंतस्स कुसलस्स णायणीदीइ।
रज्जहिदाकंखिस्स-बहुगुणवंतं-सोमदत्तस्स॥36॥(जुम्मं)

1121. णिवादु सोमभूदीव, लहिदो बहुमाणो आयरो तेण।
धम्म-रज्ज-कज्जेसुं,तंपुच्छियणिण्णयंकरीअ॥37॥

उस राजसभा में राजा के गुणों में अनुरक्त, बहुत शास्त्रों में पारंगत, विवेकवान् व धर्मिष्ठ पुरोहित सोमभूति था।।26।। उस सोमभूति की सोमिला नामक प्रिय भार्या थी जो पति के गुणों में अनुरक्त व शीलवती थी। उनके सोमशर्मा और सोमदत्त नामक दो विद्वान् पुत्र थे।।27।। वे स्तंभकारी व श्वेतकारी नामक हाथी क्रमशः बहुत-सी पर्यायों को धारणकर पूर्व बैर से मृत्यु को प्राप्त कर ये ही पुरोहित के पुत्र (सोमदत्त व सोमशर्मा) हुए।।28।। उनका प्रिय व मनोहर सोमदत्त नामक पुत्र अपने माता-पिता के संस्कारों से धर्मिष्ठ एवं सभी सम्यक् विद्याओं व कलाओं में कुशल था।।29।। जबकि उनका सोमशर्मा नामक पुत्र रौद्रध्यान से संयुक्त, कलहप्रिय, दुष्ट, धर्ममार्ग का विध्वंस करने वाला एवं करुणा आदि श्रेष्ठ गुणों से रहित था।।30।। सोमशर्मा की सुकांता नामक भार्या थी जो मूढ़ स्वभाव की व पापी थी। वह धर्मध्यान को छोड़कर अपने पति को वश में करने हेतु तत्पर रहती थी।।31।। वह सुकांता धर्म से विपरीत व मलिन चित्त होने से संदिग्ध आचरण वाली थी। सोमशर्मा का स्वभाव उच्छृंखल व स्वच्छंद था।।32।। सोमदत्त की पत्नी लक्ष्मीमति थी। वह चंचल चित्त वाली व धर्म संस्कार से विहीन थी। उसकी प्रवृत्ति शंकित थी।।33।। जबकि विशेषता यह है कि सोमदत्त भद्रपरिणामी, मर्यादा का रक्षक व धर्मिष्ठ था। वह अपनी पत्नी के मनोभावों को जानने में समर्थ नहीं था।।34।। एक दिन सोमभूति पुरोहित का देहावसान होने पर राजा ने पुरोहित का पद उसके पुत्र सोमदत्त को दे दिया; जो अपने कर्त्तव्यों में निष्ठावान्, न्याय-नीति में कुशल, राज्य के हित की आकांक्षा करने वाला एवं बहुगुणों से युक्त था।।35-36।। उस सोमदत्त ने राजा से अपने पिता सोमभूति के समान बहुमान व आदर प्राप्त किया। राजा धर्म व राज्य के कार्यों में उससे पूछकर निर्णय करता था।।37।।

1122. सोमसम्मणो मूढा, थी पडिदिणे कहीअ सोमदत्तं।
भो भादू! तव इत्थी, दुच्चिण्णजुदा लच्छीमदी॥38॥

1123. दुम्मदी दुम्मणियेण, दुरब्भास-दुरज्झवसियेहि जुदा।
ममपदिणासहरमदे, तुमम्मिअणुवट्टिदम्मिसया॥39॥

1124. सुहासयसंजुद-सोमदत्तेण णेव विस्ससिदं कया वि।
किण्हु एयदिवसम्मि दु, पेच्छीअ ताण दुरायारं॥40॥

1125. इत्थीइ दुरायारं, जाणित्तु परितप्पंतो णिंदीअ।
सगभग्गं च माणसिग-पीडा सद्दादीदा तस्स॥41॥

1126. भारिअं तस्स चित्तं, कुवियारेहिं अट्टज्झाणेणं।
पज्जुण्णवरिसाए दु, सुक्क-कप्पास-पडलयंइव॥42॥

1127. अणंतरं सगचित्तं, विसुद्धं करिदं जिणिंदवयणाणि।
संतीइ चिंतंतेण, हिदंकरा अप्पविसुद्धी हि॥43॥

1128. णिरुंभिदुं सव्वासव-मजोगकेवली जह समत्थो तह।
सगित्थिघादकुवियार-जणिदं रुद्दज्झाणं सो हु॥44॥

1129. तिक्काले तियलोए, अचिंतं जिणिंदवयणमाहप्पं।
जिणसासणं समत्थं, कुव्विदुं सिद्धो भव्वप्पं॥45॥

1130. इत्थिसहावेणं चिय, अइसय-चंचला पिप्पल-पत्तं व।
धम्मालंबणं विणा, कहं थिरं दु चित्तं ताए॥46॥

1131. मणो मक्कडो मच्छो, माणिणी य महुयरो मरू मदणो।
मेघो मज्जावीओ, मा मगारा दह-चंचला दु॥47॥

1132. जहवि धम्मजुत्ता थी, कल्लाण-णिमित्तं अवि पुरिसाणं।
सुहसक्कारविहीणा, सवर-पडण-णिमित्तंणिच्चं॥48॥

1133. तित्थयरस्स मादू वि, जगजणणी होदि अइपुण्णवंता।
जणदे णियपुण्णेणं, तित्थयरोव्व हु महापुरिसं॥49॥

सोमशर्मा की स्त्री जो मूढ़ प्रकृति की थी वह प्रतिदिन सोमदत्त से कहा करती थी–हे भाई! तुम्हारी स्त्री लक्ष्मीमती दुराचार से युक्त है।।38।। तुम्हारी अनुपस्थिति होने पर वह दुष्ट मनोभाव, खराब आदतों व दुष्ट चिंतन से युक्त दुर्बुद्धा मेरे पति के साथ रमण करती है।।39।। शुभाशय वाले सोमदत्त ने उस पर कभी भी विश्वास नहीं किया किन्तु एक दिन उसने स्वयं उनके दुराचार को देखा।।40।। तब अपनी स्त्री के दुराचार को जानकर दु:खी होता हुआ वह अपने भाग्य की निंदा करने लगा। उस समय उसकी मानसिक पीड़ा शब्दातीत थी।।41।। उसका चित्त आर्तध्यान और बुरे विचारों से उसी प्रकार बोझिल हो गया था जिस प्रकार मेघवर्षा से शुष्क कपास की गठरी बोझिल हो जाती है।।42।। अनंतर शांतिपूर्वक जिनेंद्र वचनों का चिंतन करते हुए उसने अपने मन को विशुद्ध किया। सत्य है आत्मविशुद्धि ही हितकारी है।।43।। अपनी दुराचारिणी स्त्री के वध रूप कुविचारों से उत्पन्न रौद्रध्यान को वह उसी प्रकार रोकने में समर्थ हुआ जिस प्रकार अयोगकेवली सर्वास्रव का निरोध कर देते हैं।।44।। तीनों कालों और तीनों लोकों में जिनेंद्रप्रभु के वचनों का माहात्म्य अचिंत्य है। भव्यात्मा को सिद्धात्मा करने के लिए जिनशासन ही समर्थ है।।45।। स्त्री स्वभाव से ही पीपल के पत्ते के समान अतिशय चंचल होती है। धर्म के आलंबन के बिना उसका चित्त स्थिर कैसे हो सकता है? अर्थात् धर्मावलंबन से ही चित्त की स्थिरता संभव है।।46।। मन, वानर, मछली, मानिनी (नारी), मधुकर (भौंरा), मरुत (वायु), मदन, मेघ, मद्यपायी और माँ (लक्ष्मी) ये दस मकार चंचल माने जाते हैं।।47।। यद्यपि धर्म युक्त स्त्री, पुरुषों के लिए कल्याण का निमित्त भी है तथापि शुभ संस्कारों से रहित स्त्री नित्य स्व-पर के पतन का निमित्त ही है।।48।। तीर्थंकर प्रभु की माँ अतिपुण्यवती जगत्जननी होती हैं; क्योंकि वे अपने पुण्य से तीर्थंकर के समान पुत्र को जन्म देती हैं।।49।।

1134. सची सक्कंगणा खलु, अच्चंतपुण्णवंता तिलोएसु।
जम्हाअग्गिम-भवम्मि,लहदिणिव्वाण-पयंणियमा॥50॥

1135. सव्वित्थी दोसजुदा, इदं वयणं णो सव्वदा सच्चं।
अज्जयाले वि वसुहा, सुसोहिदा सीलवंताहिं॥51॥

1136. देहो दु रोयजुत्तो, मोह-वड्ढगो मोहो संसारो।
भोयाणि पाव-हेदू, डंसंति भुयंगोव्व णियमा॥52॥

1137. विसयेहि डक्कंताण, संजमो महामंतोव्व दंडोव्व।
पच्चक्खाणंजाणह,जिणभत्तीयवीणाझुणीव॥53॥

1138. जिणधम्मरसायणेण,विणाअण्णाओसहीणेवकावि।
मम चित्तभेदि-पीडं, णिवारेदुं समत्था हंदि॥54॥

1139. अणादीदु मोहंतो, कुव्वदि रायदोसं परत्थेसुं।
णियरूवं विम्हरित्तु, भमदे संसार-विविणे तं॥55॥

1140. मंथणीइ मंथंतो, णवणीदं जणदे हु दधिं मंथो।
णवरिमइभवभमणेण,पाउणिदाइंअइदुक्खाइं॥56॥

1141. मे अप्पणो सहावो, पुधो पुग्गलाइ-अण्णदव्वादो।
णवरि णादुं असक्को, अण्णाणमिच्छत्तेहिं वा॥57॥

1142. जदिकुणमिअसुहभावं,सग-इत्थी-णिमित्तेण णियमातो।
बुड्डेज्जभवसायरे,खयिस्सदिमज्झभव-अमुल्लो॥58॥

1143. सगभव-उट्ठाणस्स दु, सगभावं करेज्ज सुहं विसुद्धं।
विहाय असुहणिमित्तं, सुहं सया अंगीकरित्ता॥59॥

1144. हिंसाइं विजहित्ता, अहिंसाइ-महव्वदं ओग्गहेज्ज।
सगकल्लाणत्थंखलु,समिदि-गुत्तीबारसतवंपि॥60॥

1145. संसारस्स भवभमण-कारणं अणेगमिच्छामयविसा।
पत्तेयं हिदत्थिणो, जिणसासणं हि परमसरणं॥61॥

शक्र अर्थात् सौधर्म इंद्र की इंद्राणी शची तीनों लोकों में अत्यंत पुण्यवती होती है; क्योंकि वह अगले भव में नियम से निर्वाण पद प्राप्त करती है।।50।। ''सभी स्त्रियाँ दोष युक्त हैं'' यह वचन सर्वदा सत्य नहीं है; क्योंकि आज इस समय भी यह पृथ्वी शीलवती नारियों से सुशोभित है।।51।। यह शरीर रोग से युक्त है, मोह की वृद्धि करने वाला है और यह मोह ही संसार है। भोग पाप का कारण हैं जो नियम से जीव को सर्प के समान डसते हैं।।52।।जिन्हें विषय रूपी सर्पों ने डसा है उनके लिए संयम को महामंत्र के समान, प्रत्याख्यान को डंडे के समान एवं जिनभक्ति को बीन की ध्वनि के समान जानना चाहिए।।53।। जिनधर्म रूपी रसायन के बिना अन्य कोई भी औषधि मेरी मर्मान्तक पीड़ा का निवारण करने में समर्थ नहीं है।।54।। अनादिकाल से मोहित होते हुए यह जीव पर वस्तुओं में राग-द्वेष करता है इसलिए अपने स्वरूप को भूलकर संसार रूप अरण्य में भ्रमण करता है।।55।। मथानी हांडिया में दही को मथते हुए मक्खन उत्पन्न करती है किन्तु विशेषता यह है कि मथानी के समान इस भव में घूमते हुए मैंने अत्यंत दु:ख ही प्राप्त किया है।।56।। मेरी आत्मा का स्वभाव पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों से पृथक् है; किन्तु अज्ञान वा मिथ्यात्व के कारण मैं उसे जानने में असमर्थ रहा।।57।। यदि अपनी स्त्री के निमित्त से मैं अपने अशुभ भाव करता हूँ तो नियम से संसार सागर में डूब जाऊँगा और मेरा यह अमूल्य भव नष्ट हो जाएगा।।58।। अपने मनुष्य भव के उत्थान के लिए मुझे अशुभ निमित्तों को छोड़कर व शुभ निमित्तों को स्वीकार कर अपने भाव सदा शुभ व विशुद्ध करने चाहिए।।59।। अपने कल्याण के लिए हिंसादि पापों का त्याग कर, अहिंसा आदि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और बारह तप ग्रहण करने चाहिए।।60।। संसार के अनेक मिथ्यामत व धर्म इस जीव के संसार परिभ्रमण में ही कारणभूत हैं। प्रत्येक हितार्थी के लिए मात्र जिनशासन ही परम शरण है।।61।।

1146. जिणवयण-बोहोतहा,जिणसासणस्सहिअयर-छायाणो।
वीयराय-जिणदेवं, विणा सिरिणिग्गंथगुरुणा य॥62॥

1147. दुहदा य णासवंता, चित्तरंजगा-पंचिंदिय-विसया।
वाहिमंदिरो देहो, किं रज्जेदि जीवो इमेसु॥63॥

1148. सुहं सारो ण किंचिवि,दुक्खपूरिद-संसार-सायरम्मि।
वेरग्ग-सारभूदं, तिक्कालम्मि य तियलोयम्मि॥64॥

1149. भव्वुल्लो चिंतेज्जा, वेरग्गं वीयरायत्त-जणगं।
रयणत्तयं ण जणदे, चित्तम्मि दु विणा वेरग्गं॥65॥

1150. कुलकलंकिदा य धम्म-मज्जादा-भंजग-दुरायारिणी।
जहविसाइत्थीतहवि,मण्णेमिकल्लाण-णिमित्तं॥66॥

1151. अहो! णिअडभव्वो हं,असुहेण सुहं करिदुं सक्को को।
जम्हा वेरग्ग-कारणं,विआणेदुं संसार-सरूवं॥67॥(जुम्मं)

1152. कुणंतो सवरघादं, इमेण वित्तंतेण मूढो जह वि।
पडेज्ज दोत्थेसुं सग-विवेगं णस्सिय कोहेणं॥68॥

1153. तहवि इदं वित्तंतो, हवेज्जा मज्झ कल्लाण-णिमित्तं।
विणाणिमित्तेणकोवि,णेवसमत्थोसवर-हिदाय॥69॥(जुम्मं)

1154. इत्थं चिंतंतो सो, दु संसार - सरूवं विआणित्ता।
भव-सरीर-भोयादो,विरज्जिदूणं चियगच्छीअ॥70॥

1155. परमवेरग्गिअ-धम्मचित्त-सिरि-धम्मसेणमुणि-समीवे।
तत्थ हु मुणिउवएसं, वेरग्गुप्पायगं चित्ते॥71॥

1156. जहत्थ-बोह-कारगं, समत्थं सव्वपावक्खयेदुं च।
सुणिदूण तेण गहिदा, सव्वकल्लाणकारगा॥72॥

1157. अणादि-भव-संदर्दिदु,णासिदुंसव्वकम्म-विमोअणाइ।
समत्था जहाजादा,दियंबर-णिग्गंथ-दिक्खाय॥73॥(चउक्कं)

वीतरागी जिनेंद्रदेव और निर्ग्रन्थ गुरु के बिना जिन वचनों का बोध नहीं हो सकता और जिनशासन की छत्रछाया प्राप्त नहीं हो सकती।।62।। इंद्रियविषय दु:खद, नाशवान् और मन को अनुरंजित करने वाले होते हैं एवं ये शरीर व्याधियों का मंदिर है। तब जीव इनमें रंजायमान क्यों होता है?।।63।। इस दु:ख से भरे संसार रूपी सागर में न तो किंचित् सुख है और ना सार। तीनों काल व तीनों लोक में वैराग्य ही सारभूत है।।64।। वैराग्य के बिना चित्त में रत्नत्रय की उत्पत्ति नहीं होती, वैराग्य वीतरागता का जनक है अत: भव्यों को वैराग्य का चिंतन करना चाहिए।।65।। यद्यपि वह स्त्री कुल को कलंकित करने वाली, धर्म व मर्यादा को भंग करने वाली दुराचारिणी है तथापि मैं उसे अपने कल्याण में निमित्त मानता हूँ क्योंकि वह संसार के स्वरूप को जानने व मेरे वैराग्य का कारण है। अहो! मैं निकट भव्य हूँ अन्यथा अशुभ निमित्त से शुभ करने में कौन समर्थ होता है।।66-67।। यद्यपि इस वृत्तांत से मूर्ख व्यक्ति क्रोध से अपने वैराग्य को नष्ट कर स्वपर घात करता हुआ दुर्गतियों में जा पड़ सकता है तथापि यह वृत्तांत मेरे लिए कल्याण का निमित्त होगा। उचित ही है–बिना निमित्त के कोई भी स्वपर हित करने में समर्थ नहीं होता।।68-69।। इस प्रकार चिंतन करता हुआ संसार के स्वरूप को जानकर संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर वह परम वैरागी, धर्मचित्त सोमदत्त श्री धर्मसेन मुनि के समीप में गया। वहाँ चित्त में वैराग्य को उत्पन्न करने वाला, यथार्थ बोध को कराने वाला, सर्व पापों का क्षय करने में समर्थ श्री मुनिराज का उपदेश सुना। पुन: संसार की अनादिकालीन संतति को नष्ट करने व सर्व कर्मों से छुटकारा दिलाने में समर्थ, कल्याणकारी दैगंबरी निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की। उचित ही है अनादिकालीन संसार की परंपरा के नाश के लिए, सर्व कर्मों से छुड़ाने के लिए एक यथाजात दिगंबर निर्ग्रन्थ दीक्षा ही समर्थ है।।70-73।।

1158. जदा णिवेण जाणिदो, सोमदत्त-दिक्खाइ समायारो।
पुरोह-पदे रित्ते दु, सुप्पदिट्ठिदो सोमसम्मा॥74॥

1159. सगसामिस्स किवाए, गुणहीणो लहदे जदि उच्चपदं।
सकत्तव्वं पालिदुं, कहं समत्थो होज्ज लोयम्मि॥75॥

1160. जह रयणाण भूसणं, पक्खीणं मिगसीहाइपसूणं।
णो सुहविड्ढि-कारगं, ते णस्संति तं कोउगेण॥76॥

1161. सोमसम्मा अवि पदं, लहिय करीअ सया विग्घुप्पण्णं।
सुहसुपुण्णकज्जेसुं,दुज्जणोपुण्णकज्ज-विमुहो॥77॥(जुम्मं)

1162. माणवसेण सच्छंद-पवट्टिं कुव्वंतो धम्मविमुहो।
धम्मविवरीद-कज्जं, करिदुं तप्परो अविवित्तो॥78॥

1163. एयदा सोमपहेण, पट्टविदो णियविस्सासपत्तो दु।
रायदूदो सगडस्स, भूवदि-वसुपाल-समीवम्मि॥79॥

1164. तिलोयमंडल-करिणं, देज्ज मज्झं सुह-संधि-रीदीए।
अण्णहा दु संगामो, कहिदं णिवाणाणुसारेण॥80॥

1165. जहवि लहु-भूवदी हं, सातंतं अहियारो अम्हाणं।
णेव णमिस्संति वयं, तव अहंकारजुदं रायं॥81॥

1166. णो एगवराडिगा वि, देज्ज तव रायस्स ण कादरो हं।
जदि वंछदि संगामं, तो करेज्ज भासिदं वसुणा॥82॥

1167. सुणियइमाणिवयणाणि,सोमप्पहोचिंतिदोअइ-कुविदो।
ममलहुत्थ-राओअवि,णोपडिवज्जेदिममअण्णं॥83॥

1168. भासेदि मिच्चुयालो, सुणियडो तस्स वसुवालस्स तं हं।
पस्सेस्सामिणिवंकिं,उल्लंघण-फलंआणाए॥84॥(जुम्मं)

जब राजा सोमप्रभ को सोमदत्त की दीक्षा का समाचार ज्ञात हुआ तब पुरोहित पद के रिक्त होने पर उन्होंने सोमदत्त के भाई सोमशर्मा को ही उसके पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।।74।। उचित ही है यदि अपने स्वामी की कृपा से गुणहीन नर भी उच्च पद को प्राप्त कर ले तो वह अपने कर्तव्य का पालन करने में किस प्रकार समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।।75।। जैसे रत्नों के आभूषण पक्षियों या हरिण, सिंहादि पशुओं के सुख वृद्धि का कारण नहीं होते बल्कि वे कुतूहलवश उन्हें नष्ट कर देते हैं। वैसे ही सोमशर्मा भी पद को प्राप्त करके सदैव शुभ, प्रशस्त व पुण्यकार्यों में विघ्न उत्पन्न करता रहता था। सही ही कहा है कि दुर्जन पुण्य कार्य से विमुख होते हैं।।76-77।। अहंकार के वशीभूत वह सोमशर्मा स्वच्छंद प्रवृत्ति करता हुआ धर्म विमुख रहता था। वह अविवेकी धर्म विपरीत कार्य करने में तत्पर रहता था।।78।। एक बार राजा सोमप्रभ ने शकट नामक देश के राजा वसुपाल के पास अपना विश्वस्त राजदूत भेजा।।79।। राजदूत से राजा सोमप्रभ ने जैसा कहा था उसने वैसा ही प्रस्तुत किया हे राजन्! शुभ संधि रीति से आप मुझे त्रिलोकमंडल हाथी दे दें अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाइये।।80।। यह सुनकर वसुपाल राजा ने कहा–यद्यपि मैं छोटा राजा हूँ किंतु स्वतंत्रता हमारा अधिकार है। हम तुम्हारे अहंकारी राजा को कभी प्रणाम नहीं करेंगे।।81।। मैं कायर नहीं हूँ, तुम्हारे राजा के लिए मैं एक कौड़ी भी नहीं दूँगा। यदि वे युद्ध चाहते हैं तो करें।।82।। राजा वसुपाल के इन वचनों को सुनकर राजा सोमप्रभ बहुत क्रोधित और चिंतित हुए कि मेरे से लघु स्थान पर स्थित (मेरा कनिष्ठ) राजा भी मेरी आज्ञा का पालन नहीं करता अतः प्रतीत होता है कि उस राजा वसुपाल का मृत्युकाल निकट है। आज्ञा के उल्लंघन का फल क्या होता है यह मैं उस राजा को दिखाऊँगा।।83-84।।

1169. तदा हु मंतिमंडलो, सचिवो महामच्चो तह पुरोहो।
सेणापदि-इच्चादी, आहविदो चिय अक्कमणस्स॥85॥

1170. सगडदेसम्मि भूवदि-वसुवालस्स अविणय-सट्ठाणं च।
सव्वातप्पराअत्थ-सत्थेहि जुदा उच्छाहेण॥86॥(जुम्मं)

1171. सज्जिदा थोगयाले, संपुण्णवाहिणी हु संगामस्स।
कणगपुर-णयर-बज्झं, ठाएज्जा य अप्पयालस्स॥87॥

1172. सोमदत्त-मुणिं सुहज्झाणिं ठिदं च पडिमाजोगेणं।
णिद्दंदं णिद्दंभं, णिस्संगं भेदविण्णाणिं॥88॥

1173. अवयच्छिदूणं तत्थ, डज्झंतिंगालं व अइ-कुविदेण।
मूढ - सोमसम्मणा दु, णिवेदिदं बद्धकरंजलीइ॥89॥

1174. अहो पुढवीपालगो! संभवो हु महाअणट्ठो अहुणा।
असुहंभासेमितहा, साहुणाअवसगुणत्तादो॥90॥(तिअं)

1175. जदि कंखसि सुह-संतिं, सपजाए खेमकुसलत्तं तुमं।
रणम्मि जयलच्छिं तो, करेज्ज संतिकम्मं सिग्घं॥91॥

1176. सव्वाणिट्ठं खयिदुं, अत्थ ठिदणग्गसाहुं घादित्ता।
तस्स रत्तं दिसासुं, पक्किरेज्ज सवर-संतीए॥92॥

1177. कूरवयणंसुणिच्चा, णिवेणपक्खोडिदंउहय-कण्णं।
भासिदं दु कुविदेणं, तुमं दु दुट्ठ-अधम-पाविट्ठो॥93॥

1178. णिग्गंथा मुणिराया, लोयम्मि मंगलकारगा णिच्चं।
जत्थणिग्गंथसाहू, सुब्भिक्ख-मंगल-जयातत्थ॥94॥

तभी राजा सोमप्रभ ने मंत्रीमंडल, सचिव, महामात्य, पुरोहित तथा सेनापति आदि को बुलाया। राजा वसुपाल द्वारा की गई अविनय व उसकी दुष्टता के लिए शकट देश पर आक्रमण करने हेतु वे सभी अस्त्र-शस्त्रों से युक्त होकर उत्साहपूर्वक तत्पर थे।।85-86।।

अल्प समय में ही संपूर्ण सेना युद्ध के लिए तैयार हो गई। कनकपुरनगर के बाहर अल्पकाल के लिए पूरी सेना ठहरी।।87।। वहाँ समीप में शुभध्यान में संलग्न, निर्द्वन्द, मान से रहित, परिग्रह से वर्जित, भेदविज्ञानी सोमदत्त नाम के महामुनिराज प्रतिमायोग से स्थित थे। उनको देखकर मूर्ख सोमशर्मा जलते हुए कोयले के समान बहुत क्रोधित हुआ और दोनों हाथों को जोड़कर राजा से निवेदन करने लगा—अहो पृथ्वीपालक! इन साधु के द्वारा अपशकुन होने से महा अनर्थ संभव है, मुझे कुछ अशुभ प्रतिभासित होता है।।88-90।। यदि आप सुख-शांति चाहते हैं, अपनी प्रजा का क्षेम-कुशलत्व चाहते हैं, युद्ध में जयलक्ष्मी चाहते हैं तो आपको शीघ्र ही शांतिकर्म करना चाहिए।।91।। हे राजन्! सभी प्रकार के अनिष्ट के नाश के लिए एवं स्व-पर शांति के लिए यहाँ पर स्थित इन नग्न साधु को मारकर उनका रुधिर सभी दिशाओं में फेंकना चाहिए।।92।। पुरोहित सोमशर्मा के ऐसे क्रूर वचन सुनकर राजा ने अपने दोनों कान ढक लिए पुनः क्रोधित होते हुए राजा ने कहा तुम दुष्ट, अधम और पापी हो।।93।। निर्ग्रन्थ मुनिराज लोक में नित्य ही मंगलकारक होते हैं। जहाँ निर्ग्रंथ साधु होते हैं वहाँ सुभिक्ष, मंगल और विजय होती ही है।।94।।

1179. तदा महामच्चो तह, सेट्ठ-णिमित्तणाणी विस्सदेवो।
वेदपाढगो बंभणो, उप्पालेदि पुढविपदी भो!॥95॥

1180. सोमसम्मो हु मिच्छं, कहेदि अण्णाणेणं वेरेणं।
णिग्गंथामंगल्ला,सव्वहिदकारगा बंधूव्व॥96॥(जुम्मं)

1181. णिग्गंथमुणिदंसणं, सव्वकज्जसिद्धिकारगं णिच्चं।
सुहसगुण-दंसावगं, पावक्खयकारगं णेयं॥97॥

1182. तस्स वरपहावेण, लहंते संतिं हिंसगजंतू वि।
वइरं विम्हरिदूणं, मिहो वसंति वच्छलेणं दु॥98॥

1183. सुक्क-तडागं वि होदि,णीरपूरिदं मुणिवर-पहावेण।
पुप्फफलहीण-रुक्खं, पुप्फफलपत्ताइ-जुत्तं॥99॥

1184. णिग्गंथ-माहप्पं दु, देविंदो वि णो कहिदुं समत्थो।
धीमंताणुसारेण, साहू दंडभायगा णेव॥100॥

1185. पुण्णहिंसाचागी य, सेट्ठ-सच्चमहव्वद-धारगा जे।
पालंति अचोरियं तिलोयपुज्जबंभचेरजुदा॥101॥

1186. उहयपरिग्गहहीणा, सुद्धप्पलीणा ण कस्स जीवस्स।
होज्जसुहु-संति-मंगल-पसत्थ-सिव-कारगातेचिय॥102॥(जुम्मं)

1187. जस्स देसे पउमिणी, इत्थी रायहंसो य णिग्गंथा।
तत्थ सया सुब्भिक्खं,णीदिण्हूहिं कहिदमित्थं॥103॥

1188. णिग्गंथ-लोयवालो, लोगुत्तमो वर-सरणो सव्वाण।
सव्वमंगलेसुं सय, महामंगलो पुढविदेवो॥104॥

1189. धम्मसत्थेसु लिहिदं, णिग्गंथो सव्वदुक्खहारगो य।
णिग्गंथ-दंसणेणं,दुब्भिक्खंदोत्थ-मघंखयदि॥105॥

1190. जत्थ णिग्गंथसाहू, विजयलच्छी सया सागदं करदि।
पदे पदे आणंदो, मंगलधम्मरूवादु तत्थ॥106॥

तब श्रेष्ठ निमित्तज्ञानी, वेदपाठी ब्राह्मण विश्वदेव महामात्य कहता है, हे पृथ्वीपति! यह सोमशर्मा अज्ञान और बैर के वशीभूत होकर मिथ्या कहता है। निर्ग्रन्थ साधु मंगलकारी एवं बंधु के समान सभी का हित करने वाले होते हैं।।95-96।। निर्ग्रन्थ मुनिराज के दर्शन नित्य ही सभी कार्यों की सिद्धि करने वाले, शुभ शकुन दर्शाने वाले एवं पाप क्षय करने में समर्थ होते हैं।।97।। उनके दर्शन के उत्कृष्ट प्रभाव से हिंसक जंतु भी शांति प्राप्त करते हैं। वे भी बैर भाव को भूलकर परस्पर वात्सल्यपूर्वक रहते हैं।।98।। निर्ग्रन्थ मुनिवरों के प्रभाव से सूखे तालाबों में भी पानी भर आता है, पुष्प व फलहीन वृक्ष भी पुष्प-फल व पत्ते आदि से युक्त हो जाते हैं।।99।। निर्ग्रन्थ गुरु के माहात्म्य को देवेंद्र भी कहने में समर्थ नहीं हैं। बुद्धिमानों के अनुसार साधु कभी भी दंड के भाजक नहीं होते।।100।। जो पूर्ण हिंसा के त्यागी हैं, श्रेष्ठ सत्य महाव्रत के धारक हैं, अचौर्य व्रत का पालन करते हैं, जो तीनों लोकों में पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत से युक्त हैं, उभय (अंतरंग व बहिरंग) परिग्रह से हीन हैं, शुद्धात्म ध्यान में लीन हैं वे किस जीव के लिए सुख, शांति, मंगल, प्रशस्त व मोक्ष का कारक नहीं होते अर्थात् अवश्य होते हैं।।101-102।। जिस देश में पद्मिनी स्त्री, राजहंस पक्षी और निर्ग्रन्थ गुरु होते हैं वहाँ सदैव सुभिक्ष होता है। इस प्रकार नीतिज्ञों के द्वारा कहा गया है।।103।। निर्ग्रन्थ गुरु लोक के पालक होने से लोकपाल कहे जाते हैं। वे लोक में उत्तम और सभी के लिए श्रेष्ठ शरण हैं। वे पृथ्वी के देवता सदा सभी मंगलों में महामंगल हैं।।104।। निर्ग्रन्थ गुरु सभी दु:खों का हरण करने वाले हैं, निर्ग्रन्थ गुरुओं के दर्शन से दुर्भिक्ष, दुर्गति व पाप नष्ट होते हैं; ऐसा धर्मशास्त्रों में लिखा गया है।।105।। जहाँ निर्ग्रन्थ साधु होते हैं वहाँ सदैव विजय लक्ष्मी स्वागत करती है। मंगल व धर्म का रूप होने से वहाँ पद-पद पर आनंद होता है।।106।।

1191. दियंबरो अणगारो, वादरसणो रिसीकेसो जोगी।
जदीदमीसमणोदिव्वास-जिदिंदिय-महव्वदीय॥107॥

1192. ताणं णामुच्चारण-मेत्तेण णिज्जरंति अघकम्माणि।
तिव्ववेग-पवणेणं, रुक्खादु पडंतपत्ताणि व॥108॥

1193. जह पचंड-आइच्चो सोसदि तडागजलं तहेव।
पावकम्मं णस्संति, मुणि-दंसण-वंदण-भत्तीहि॥109॥

1194. पवेसे णिग्गमणे तु, अस्सो गयो णिवो जलजुदकलसो।
उसहोसुसज्जिद-कण्णा, णिग्गंथ-मुणीहुमंगल्ला॥110॥

1195. मुणिदंसणफलमिदंहु, णिव-वसुवालोआगच्छिस्सेदिसुवे।
तिलोयमंडलगयेण, सह पहादे तव चरणेसुं॥111॥

1196. णिच्छयेणं विणयेण, सयमेव होज्जा हु तव आयत्तो।
भोराओ! णिग्गंथा, अयारण-बंधूसव्वाणं॥112॥(जुम्मं)

1197. विस्सदेवस्स हु तदा, वयणं सुणिच्चा णिवो संतुट्ठो।
तस्सदु अणुसारेणं, णगरेसरो णिव - वसुवालो॥113॥

1198. तिलोयमंडलगयेण, बहु - उवहारेहि सह आगच्छीअ।
सोमप्पहेणकुणिदं, जहाजोग्गंचियसम्माणं॥114॥(जुम्मं)

1199. विजय - महुच्छवं तदा, कुव्वीअ उल्लासेण पमोदेण।
परोक्खे मुणिंणमित्तु, णिवो लीणो रज्जकज्जेसु॥115॥

1200. असिणा दु घादिदोहा, महामुणिरायो सोमसम्मणिआ।
पाविट्ठ - णिद्दयेणं, पुव्ववइरसक्कारवसेण॥116॥

1201. सगचित्ते संतुट्ठो, हिंसाणंदि - रुद्दज्झाणेणं दु।
णिरयगामी कहं चिय, सक्केज्ज सुपुण्णं करेदुं॥117॥

दिगंबर, अनगार, वातरसना, ऋषिकेश, योगी, यति, दमी, श्रमण, दिग्वासा, जितेन्द्रिय और महाव्रती ये एकार्थवाची हैं।।107।। उनके नामोच्चारण मात्र से पाप कर्म उसी प्रकार निर्जीर्ण होते हैं जिस प्रकार पवन के तीव्र वेग से वृक्ष से पत्ते निर्जीर्ण हो जाते हैं।।108।। जैसे प्रचंड सूर्य सरोवर के जल को अवशोषित करता है उसी प्रकार मुनिराज के दर्शन, वंदन व भक्ति से पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं।।109।। प्रवेश या निर्गमन के समय अश्व, हाथी, राजा, जल से भरा कलश, बैल, सुसज्जित कन्या एवं निर्ग्रन्थ मुनि मंगलकारी होते हैं।।110।। वह विश्वदेव कहता है कि मुनिराज के दर्शन का फल यह है कि कल सुबह त्रिलोकमंडल हाथी के साथ राजा वसुपाल आपके चरणों में स्वयं आएगा। वह निश्चय से विनयपूर्वक स्वयं ही आपके आधीन होगा। हे राजन्! निर्ग्रन्थ साधु सभी के अकारण बंधु होते हैं।।111-112।। तब विश्वदेव के वचन सुनकर राजा संतुष्ट हुआ। उसके कथनानुसार अगले ही दिन नगर का ईश्वर राजा वसुपाल त्रिलोकमंडल हाथी व बहुत उपहारों के साथ राजा के पास आया। राजा सोमप्रभ ने उसका यथायोग्य आदर सम्मान किया।।113-114।। राजा ने परोक्ष में ही मुनिराज को नमस्कार कर उल्लास व प्रमोद के साथ विजय महोत्सव मनाया व पुनः राज्य कार्यों में लीन हो गया।।115।। एक बार पूर्व बैर के संस्कारवशात् पापिष्ठ, निर्दयी सोमशर्मा ने हाय! उन सोमदत्त महामुनिराज का तलवार से घात कर दिया।।116।। मुनिराज का घात कर हिंसानंदी रौद्रध्यान के द्वारा वह अपने चित्त में संतुष्ट हुआ। सही है नरकगामी जीव पुण्य कार्य करने में समर्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।।117।।

1202. जाणिय सोमसम्मणो, कुकिच्चं रायेण दंडिदो सो।
थुथूकारंतेणं पण - दंडेण दुट्ठो - णिंदहमो॥118॥

1203. णीसारयीअ चियसग-देसादु तंमुणि-धम्मघादगंच।
सत्तदिवसेउदंबर-कुट्ठरोयपीडिदोअहेण॥119॥(जुम्मं)

1204. गलिदकुट्ठवाहीए, अच्चंत - जिण्णदेहुप्पण्णाइं।
बहुदुग्गंधवणाइं, भरिदाइं किमिसंकुलेहिं॥120॥

1205 अइदुग्गंधादु पहिग-जणा परिअट्टीअ सगमग्गं दु।
पावफलेणं जीवो, किं दुक्खं च णेव पप्पोदि॥121॥

1206 सहस्स-विच्छिएहिं च,डक्कोव्वअसहणीय-कट्ठ-जुत्तो।
तस्सकरुण-कंदणंदु,वण्णजंतूविपच्चड्ढीअ॥122॥

1207 जह कम्मं तह फलं दु, उज्झेज्ज पावं वियारिय इत्थं।
पावीणं संगदी वि, पाव-कारणं तमामुयेज्ज॥123॥

1208 तादुणिग्गद-वग्गणा,होंतिणियमेणअइ-पावरूवाहि।
भासदिएरिसोतदा,पावंविणसिहदिपाविट्ठं॥124॥

1209 अवस्समेवभुंजेदि,सगकिद-सुहासुहकम्माणिजीवो।
अण्णोणोसहगारी,जोकुणदिसोभुंजदिणियमा॥125॥

हरिगीतिका छंद

1210. अइतिव्वदाए कसायाणं, मूढ-बुद्धीए णरो,
बहुहिंसभावं सो कुणंतो, महापावं बंधदे।
णिवसेज्ज भुंजेदुं दु णिरये, सायरंतं हंदि जं,
अच्चंत-दुह-कट्ठं सहंतो,केणविअणुप्पालिदं॥126॥

सोमशर्मा का यह कुकृत्य जानकर राजा ने उस दुष्ट, निंद्य व अधम को अपमानित कर पंचदंड से दंडित किया और उन मुनि व धर्म का घात करने वाले सोमशर्मा को देश से निकाल दिया। अपने ही पाप कर्म के द्वारा सात दिन में ही वह उदंबर कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गया।।118-119।। गलित कुष्ठ रोग से उसकी अत्यंत जीर्ण देह में बहुत दुर्गन्धित घाव हो गए। वे सभी घाव भी कृमियों के समूह से भर गए।।120।। अति दुर्गन्धित शरीर होने से पथिक जन उसके आते ही अपना मार्ग बदल लेते थे। उचित ही है पाप के फल से जीव किस दु:ख को प्राप्त नहीं करता अर्थात् सभी दु:खों को प्राप्त करता है।।121।। उसके शरीर में उस समय ऐसी असहनीय पीड़ा होती थी मानो हजारों बिच्छुओं ने उसे एक साथ डस लिया हो। उसका करुण क्रंदन सुनकर वन्य जंतु भी वहाँ से चले जाते थे।।122।। जैसा कर्म वैसा फल अर्थात् जीव जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है इस प्रकार विचार कर पाप को छोड़ देना चाहिए। पापियों की संगति भी पाप का कारण होती है अत: उसे भी छोड़ देना चाहिए।।123।। उनसे निकलने वाली वर्गणाएँ भी नियम से अति पाप रूप ही होती हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे पाप भी पापिष्ठ को नहीं चाहता।।124।। जीव अपने द्वारा किए गए शुभ व अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगता है। कोई भी सहयोगी नहीं है। जो करता है वह नियम से भोगता है।।125।। कषायों की अति तीव्रता से नर मूढ़ बुद्धि बहुत हिंसा के परिणाम करता हुआ महापाप का बंध करता है; जिन्हें भोगने के लिए किसी के द्वारा नहीं कहे जाने वाले अत्यंत दु:ख व कष्ट को सहन करते हुए सागरों पर्यंत नरक में वास करता है।।126।।

1211. अह बंधिदुं देवाउमादिं, सेट्ठभावेहि सुहं,
अंतोमुहुत्तस्स य समत्थो, बंधयाले सव्वदा।
हिंसाइ-पावमयेहि जीवो, कूरपरिणामेहि हा!
बंधेदि णिरयाउं वि असुहं, भासिदं समणेहि वा॥127॥

जीव आयु बंध के समय में अंतर्मुहूर्त के भी श्रेष्ठ भावों से शुभ देव आदि आयु का बंध करने में समर्थ होता है। हाय! वही जीव उस समय हिंसा आदि पापमय क्रूर परिणामों से अशुभ नरकायु का बंध करता है ऐसा श्रमणों के द्वारा कहा गया है।।127।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में सोमशर्मा के भव (अशोक का पूर्वभव) का वर्णन करने वाला दसवाँ नंद पूर्ण हुआ।

एयारसम-णंदो

1212. अइदुहेण पीडाजुद-मरणं लहिदूण उप्पज्जीअ सो।
घोरंधयार-संजुद-महातम-सत्तम-णिरयम्मिदु॥1॥

1213. तत्थ भूमि-फासेणं कोडि-सप्पेहिं चिय डक्क-कट्ठं व।
पाविदं दुहं तेणं, भुंजदि पावी घोरदुहाणि॥2॥

1214. अइदुग्गंधजुत्ता हु, णिरय-मट्टिआ तस्स दुग्गंधेण।
मज्झलोयम्मि खलु चउ-कोसंतं जीवा मरेज्जा॥3॥

1215. अच्चंत-मलिण-भावो, उक्किट्ठ किण्हलेस्सजुदो असुहो।
णिरयम्मि पत्तदुहं व, ण अण्णगदीसु दुहं सक्कं॥4॥

1216. अण्ण-णेरइया तस्स, अहिसंधी पारदोव्व सरीरं च।
खंडीअ हणीअ किण्णु, णेव अयालमिच्चू णिरये॥5॥

1217. छुहावेयणाइ जुदो, तिलोयम्मि विज्जंतण्ण-भोत्तू व्व।
ण लहीअ कणिगं किण्णु, भक्खीअ मट्टिं दुग्गंधं॥6॥

1218. खमो असंखुवहिजलं, पिविदुं भासीअ तिसापीडाइ।
किण्णु बिंदु-मेत्तं अवि, णेव पावीअ दु णेरइयो॥7॥

1219. परोप्परे णेरइया, पुव्वभवा पुण-पुण पयरिदूणं च।
विकिरियाए दु णिम्मिद-सत्थेहि कट्टंति छिंदंति॥8॥

1220. कढंते पेल्लंते य, भिंदंति ओयत्तिदूण ताडंति।
अइकट्ठेण णिक्कसिय, टलवलंता णिरिणासंते॥9॥

1221. सेमरतरुछायाए, घादंति तस्स पडंत-पत्ताइं।
करवालोव्व पुणो ते, उकुद्दंते वेतरणीए॥10॥(तिअं)

वह सोमशर्मा अतिदुःख से पीड़ा युक्त मरण को प्राप्तकर घोर अंधकार से संयुक्त महातम नामक सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ।।1।। वहाँ भूमि का स्पर्श होते ही उसे ऐसा कष्ट हुआ जैसे करोड़ों सर्पों ने एक साथ ही उसे डस लिया हो। उचित ही है पापी, घोर दुःखों को भोगता है।।2।। उस नरक की मिट्टी इतनी दुर्गन्धित थी कि उसकी दुर्गंध से मध्यलोक के चार कोस तक के जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ।।3।। उस नरक में वह नारकी अत्यंत मलिनभाव वाला, उत्कृष्ट कृष्णलेश्या से युक्त व अशुभ था। नरक में जिस प्रकार का दुःख जीव प्राप्त करता है वह अन्य गतियों में शक्य नहीं है।।4।। अन्य नारकी उसके पारे के समान (वैक्रियक) शरीर का बार-बार घात करते थे, बार-बार खंडित करते थे किन्तु नरक में अकाल मृत्यु नहीं होती।।5।। उसे तीव्र क्षुधा की वेदना होती थी मानो तीनों लोकों में विद्यमान संपूर्ण अन्न को ही खाले किन्तु वहाँ एक भी कण अन्न का प्राप्त नहीं करता, वह दुर्गन्धित मिट्टी का ही भक्षण करता था।।6।। तृषा की पीड़ा से उसे ऐसा प्रतिभासित होता था मानो वह असंख्यात सागरों का जल ही पी ले किन्तु वहाँ नारकी जल की एक बूंद मात्र भी प्राप्त नहीं कर पाता था।।7।। अहो! नरक में नारकी जीव पुनः-पुनः पूर्वभवों का स्मरण कर परस्पर में विक्रिया से निर्मित शस्त्रों के द्वारा एक दूसरे को काटते हैं, छेदते हैं, कढ़ाई में उबालते हैं, पेलते हैं, झगड़ते हैं, उल्टा लटका कर ताड़ित करते हैं। पुनः वहाँ से कष्ट से निकलकर तड़फड़ाते हुए, घबराते हुए सेमर वृक्ष की छाया में भाग जाते हैं किन्तु वहाँ उसके गिरते हुए पत्ते तलवार के समान उसका घात करने लगते हैं पुनः वे वहाँ से भागकर वैतरणी नदी में कूद जाते हैं।।8-10।।

1222. किमिकुलसंकुलेहिं च, पल-रुहिरादीहि परिपूरिदाए।
कत्थ अवि सुहं संतिं, खणस्स वि लहंति णेरइया॥11॥

1223. कोडि-कोडि-जीहाहिं, समत्थो कहिदुं सुदकेवली णो।
णिरयघोरदुक्खाइं अंतोमुहुत्तस्स कट्ठं वि॥12॥

1224. भुंजित्ता अइकिच्छं, पुणो तेतीस - सायर - पज्जंतं।
तत्तो णिस्सरिदूणं, अंत-सयंभूरमणुवहीइ॥13॥

1225. तिमिंगलजादिमच्छो, जस्स आयामो जोयण-सहस्सं।
विक्कंभोतस्सद्धो, बाहल्लंतस्स अविअद्धं॥14॥(जुम्मं)

1226. घोरदुहं भुंजित्ता, हिंसंतो संकिलेसभावेहिं।
अट्टज्झाणेणं सो, मज्जिदूणं दु उप्पज्जीअ॥15॥

1227. छट्ठमतमणिरयम्मि दु बावीस-सायर-पज्जंतं तत्थ।
अकत्थदुहं भुंजीअ, किण्णुणो उहट्टीअ पावं॥16॥(जुम्मं)

1228. मुणिघादमहापावं, कहं अइ-सिग्घं णासेज्ज जीवो।
बहुभवेसु भुंजंतो, किच्छं परिभमदि दुग्गदीसु॥17॥

1229. मुणिणिंदाए फलेण, रोयि-दुभगो वियलंगो दरिद्दो।
मुणिवध-भयअर-फलंण, भवे भवे भुंजिदुं सक्को॥18॥

1230. णिरयादो णिस्सरित्तु, सेसाहेण सीहो दुट्ठ - कूरो।
बहुजीवा घादित्ता, भरीअ सग-उदरं रुद्देण॥19॥

1231. जहवि सीह-पज्जाये, कल्लाणभावो सक्को वीरोव्व।
वणे मुणिदंसणेणं, तस्स धम्मामिय-पाणेणं॥20॥

1232. किण्णु पावदे जीवो, पावोदये जिणमुणिदंसणं णो।
जिणमुणिदंसणं धम्म-सवणं सुभावा पुण्णफलं॥21॥

वह नदी भी कृमिकुलों के समूहों से भरी एवं पीव, रक्त आदि से परिपूरित होती है। हाय! उन नारकियों को क्षणमात्र की भी सुख-शांति कहीं नहीं मिलती।।11।। नरक के अंतर्मुहूर्त के घोर दु:खों व कष्ट को श्रुतकेवली भी कोटि-कोटि जिह्वाओं से भी कहने में समर्थ नहीं हैं।।12।। पुन: तैंतीस सागर पर्यंत अतिकष्ट को भोगकर वह जीव वहाँ से निकलकर अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में तिमिंगल जाति का मत्स्य हुआ जिसके शरीर की लंबाई हजार योजन, चौड़ाई उसका आधा अर्थात् 500 योजन और ऊँचाई उसका आधा अर्थात् 250 योजन थी।।13-14।। वहाँ वह जीव हिंसा करते हुए घोर दु:खों को भोगकर संक्लेशपूर्वक आर्तध्यान से मृत्यु को प्राप्त कर छठवें तम: प्रभा नामक नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ बाईस सागर पर्यंत उसने अकथनीय दु:खों को भोगा किन्तु उसके पाप अभी भी नष्ट नहीं हुए।।15-16।। मुनिघात महापाप है; अत: जीव उस महापाप को अति शीघ्र किस प्रकार नष्ट कर सकता है? नहीं कर सकता। बहुत भवों में कष्टों को भोगते हुए वह जीव दुर्गतियों में परिभ्रमण करता है।।17।। मुनि निंदा के फल से जीव रोगी, दुर्भग, विकलांग व दरिद्र होता है। जीव मुनिवध से उत्पन्न पाप के भयंकर फल को भव-भव में भी भोगने में समर्थ नहीं होता।।18।। पुन: नरक से निकलकर वह जीव शेष पाप से दुष्ट व क्रूर सिंह हुआ। वह रौद्रध्यानपूर्वक बहुत जीवों का घात करके अपना पेट भरता था।।19।। यद्यपि सिंह पर्याय में भी कल्याण का भाव शक्य है। जैसे वन में, सिंह पर्याय में भगवान् महावीर स्वामी के जीव में मुनिराज के दर्शन से व उनके धर्मामृत के पान से कल्याण का भाव उत्पन्न हुआ था।।20।। किन्तु पाप के उदय में जीव को जिनदर्शन व मुनिदर्शन प्राप्त नहीं होते। जिनदर्शन, मुनिदर्शन, धर्मश्रवण व प्रशस्त भाव ये चार पुण्य के फल हैं।।21।।

1233. णियबुड्ढावत्थाए, मिगयं णेव धरिदुं समत्थो सो।
छुहाउरो संकिलेस-भावेहि मरिय पणम-णिरये॥22॥

1234. जादो णेरइयो चिय, सत्तरस - सायर - पज्जंतं दुहं।
घोरं भुंजीअ पुणो, णिस्सरिदूण तत्तो सप्पो॥23॥

1235. अइ-विसवोदु णियपुव्व-सक्कारवसेणंहणीअजीवा।
तत्थअइ-कोह-मिस्सिद-घोर-संकिलेस-भावेहिं॥24॥

1236. बंधीअ चदुत्थ - णिरय - आउं मज्जित्तु णेरइयो तत्थ।
दह-सायर-पज्जंतं, वयणादीद-अइ-दारुणं च॥25॥

1237. किच्छाइं भुंजंतो, मरणं किच्चा संकिलेसदाए।
हिंसगो कुविद-बग्घो, अह वण्ण-साण-समूहेणं॥26॥

1238. मरणं लहिय अच्चंत-कोह-भावेण जादो णेरइयो।
तिदिय मेहा-णिरयम्मि, तत्थ घोर-किच्छं भुंजित्तु॥27॥

1239. णिस्सरिदूणं तत्तो, दुरासय - गिद्धो कूरपरिणामी।
मूसग-कुक्कुडसावग-सयलि-ससगसावग-पहुदीण॥28॥

1240. अइगिद्धपरिणामेहि, सरिदाइ सुक्कट्ठाणे - जीवाण।
भक्खीअकलेवरंच, पडिद-अत्थि-कीकसंमंसं॥29॥(अट्ठगं)

1241. सहसा जलविट्टीए, अदिसय-सलिल-परिपूरिदासरिदा।
जलपवाहेण मिच्चुं, लहिय संकिलेसभावेहिं॥30॥

1242. विदिय-णिरयम्मि पच्छा, तिण्णिसायर-पज्जंतं भुंजीअ।
अइदुहरूवाघफलं सक्करापहा-भूमीए दु॥31॥(जुम्मं)

1243. तिदिय-णिरयंतं हंदि, संभवो तित्थयर-पइडि-बंधगो।
चदुत्थादो णिस्सरिय, समत्थो केवली होदुं च॥32॥

1244. पंचमादो णिग्गदो, णिग्गंथ-मुणिवरो होदुं सक्को।
छट्ठ णिरयादो तहा, सावयो हवेदुं समत्थो॥33॥

वह सिंह अपनी वृद्धावस्था में शिकार पकड़ने में समर्थ नहीं रहा। वह क्षुधातुर सिंह संक्लेश भावों से मृत्यु को प्राप्त कर पंचम नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ उस जीव ने सतरह सागर पर्यंत घोर दुःखों को भोगा पुनः वहाँ से निकलकर अति विषैला सर्प हुआ। अपने पूर्व संस्कारों के वशीभूत वहाँ वह जीव बहुत जीवों का घात करता था। तब अति क्रोध मिश्रित घोर संक्लेश भावों से उस जीव ने चतुर्थ नरक की आयु का बंध किया। मृत्यु को प्राप्तकर वह नारकी हुआ। वहाँ दस सागर पर्यंत वचनातीत अति दारुण दुःखों को भोगते हुए संक्लेशतापूर्वक मरण कर हिंसक व क्रोधित बाघ हुआ। वहाँ जंगली कुत्तों के समूह के द्वारा अत्यंत क्रोध के भाव से मरण को प्राप्त हुआ एवं तृतीय मेघा नामक नरक में नारकी हुआ। वहाँ घोर कष्टों को भोगकर वहाँ से निकलकर दुराशय वाला क्रूरपरिणामी गृद्ध हुआ। वह अति आसक्त परिणामों से नदी के शुष्क स्थान पर स्थित मूषक, मुर्गे के बच्चे, मछली, खरगोश के शिशु आदि जीवों के कलेवर, पड़े हुए अस्थि, माँस, हाड़ का भक्षण करता था।।22-29।। अचानक जल वृष्टि से वह नदी अतिशय जल से परिपूरित हो गई। तब जल प्रवाह से संक्लेश भावों से मृत्यु को प्राप्तकर वह शर्कराप्रभा नामक द्वितीय नरक में उत्पन्न हुआ। पश्चात् तीन सागर पर्यंत अति दुःख रूप पाप के फल को भोगा।।30-31।। देखो! तृतीय नरक तक तीर्थंकर प्रकृति का बंधक संभव है। चतुर्थ नरक से निकलकर जीव केवली होने में समर्थ होता है।।32।। पंचम नरक से निकलकर जीव निर्ग्रन्थ मुनि तो हो सकता है किन्तु केवली नहीं। षष्टम नरक से निकलकर जीव श्रावक तो हो सकता है किन्तु मुनि नहीं।।33।।

1245. सत्तमणिरयादो चिय, णिस्सरिदूणं हवेज्जा जीवो य।
कूर-परिणामि-तिरियो, पुणोउप्पज्जेदि णिरयेहि।।34।।

1246. विदियणिरयाउं तदा, पुण्णं कट्टु होही बगो पक्खी।
अज्जिदं घोरपावं, मच्छाइ-भक्खेण कवडेण।।35।।

1247. दारु-आघाडगेणं, चंचूए फोडिदं तस्स णयणं।
तदा अंधत्तादो य, पडीअ कद्दमे एयदा हु।।36।।

1248. कंटियेण वणिदो सो, भक्खिदो पिपीलिगाइ-कीडेहिं।
संकिलेस-भावेहिं, मज्जित्ता पुणो णेरइयो।।37।।

1249. पढम-रयणप्पहाए, उप्पण्णो अट्टरुद्दज्झाणेण।
सायरेगपज्जंतं, भुंजीअ पणविह-दुक्खाइं।।38।।

1250. तत्तो णिस्सरिदूणं, अहवा तुज्झ पूदीगंध-पुत्तो।
जेण भुंजिदं बहुविह-किच्छ-घोरं-णिरय-तिरियाण।।39।।

1251. असुरकुमार-देवाणं, विमाणाइं चिय अवयज्झिदूणं।
जादि-सिमरणं तदा हु, णियदुहदणिरयावत्थाए।।40।।

1252. पयरिदुं णो समत्थो, तव पुत्तो णिरयघोरदुक्खाइं।
तं सिमरण-मेत्तेणं, मुच्छिदो तदा बीहिदूणं।।41।।

1253. सव्ववित्तंतमित्थं, आयण्णिय अस्सुपूरिद-णयणेहि।
केवलिंणमिय पुण-पुण, कुणदि थुदि-मवरुद्धकंठेण।।42।।

1254. अफुडवयणेहिं तहा, सगणिंदं कुव्वंतो पुण पुण सो।
अदिसयविणयेणंखलु, पुच्छदि पावक्खयोवायं।।43।।(जुम्मं)

1255. भासिदं गणेसेणं, मलं णेव परिसुज्झेदि मलेणं।
जलेणं परिसुज्झेदि, पंकं दु रत्तकलंकं वा।।44।।

1256. जह तह पावकम्माणि, णेव खयंते दु पावकज्जेहिं।
पुण्णकज्जेहि खयंति, पुव्वसंचिद-पावकम्माणि।।45।।(जुम्मं)

सप्तम नरक से निकलकर जीव क्रूर परिणामी तिर्यंच ही होता है व पुनः नरक में ही उत्पन्न होता है।।34।। उधर वह पूतीगंध का जीव दूसरे नरक की आयु को पूर्ण कर बगुला पक्षी हुआ। वहाँ वह छलपूर्वक मछली आदि का भक्षण करता था अतः उसने घोर पाप अर्जित किया।।35।। एक बार कठफोड़ा ने अपनी चोंच से उसकी आँखें फोड़ दीं। अंधा होने से किसी समय वह कीचड़ में गिर गया।।36।। वहाँ काँटे से उसके घाव हो गए। चींटी आदि कीटों ने उसका भक्षण किया। संक्लेश भावों से मृत्यु को प्राप्त कर वह पुनः नारकी हुआ।।37।। आर्त्त-रौद्रध्यान के कारण वह रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने एक सागर पर्यंत पाँच प्रकार के (भूमि, मौसम, मारकाट, भूख व प्यास जनित) दुःखों को भोगा।।38।। वहाँ से निकलकर यह तुम्हारा पूतीगंध नामक पुत्र हुआ है। जिसने नरक व तिर्यंचों के बहुत प्रकार के घोर दुःखों को भोगा है।।39।। असुरकुमार देवों के विमानों को देखकर उसे अपनी दुःखद नरकावस्था का जाति स्मरण हो गया।।40।। तुम्हारा यह पुत्र नरक के घोर दुःखों को स्मरण करने में भी समर्थ नहीं है अतः स्मरण मात्र से ही भयभीत होकर मूर्च्छित हो गया।।41।। इस प्रकार सर्व वृत्तांत को सुनकर पूतीगंध के आँखों से आँसू बहने लगे। वह केवली भगवान् को पुनः-पुनः नमस्कार कर अवरुद्ध कंठ से अस्पष्ट वचनों से उनकी स्तुति करता है। वह पूतीगंध अपनी निंदा करते हुए केवलि जिन से अतिशय विनयपूर्वक अपने पाप के क्षय का उपाय पूछता है।।42-43।। तब गणधर देव कहने लगे अहो भव्य जीव! जिस प्रकार मल कभी मल को साफ नहीं करता; मल, कीचड़ या रक्त के दाग को जल ही साफ करने में समर्थ है। उसी प्रकार पापकर्म भी पाप कार्यों से नष्ट नहीं होते। पूर्व संचित पापकर्म पुण्य कार्यों से ही नष्ट होते हैं।।44-45।।

1257. अहिंसा सच्चं च अत्थेयं बंभचेरं अपरिग्गहो।
पणमहव्वदं अस्सिं, लोए सुपसिद्धं हिदत्थं।।46।।

1258. धम्माचिंत-पहावो सम्मत्तं मूलं तस्स धम्मस्स।
तस्स दु अविणाभावी, मोह-विणासगं सण्णाणं।।47।।

1259. सच्चरियेण विणा णो, णिव्वाणमग्गो य बेरयणेहिं।
रयणत्तय-धारगो दु, मोक्खमग्गी संविदिदव्वो।।48।।

1260. णिच्छय-ववहारादो, बेविहं रयणत्तयं सिव-हेदू।
णिच्छय-मोक्खमग्गी हु, मुणी अपमत्ताइठाणेसु।।49।।

1261. ववहारेणं णेयो, पमत्तसमणो णिव्वाणमग्गी हु।
गुणट्ठाणादीदा य, मोक्खफलसहिदा णियमेणं।।50।।

1262. बेरयण - धारगा चिय, असंजमसम्माइट्ठी णियमेण।
णेव णिव्वाणमग्गी, कस्सिं वि यालम्मि ठाणे वि।।51।।

1263. अविरदसम्माइट्ठी, होस्संति मोक्खमग्गी णियमेणं।
देसवदी सुपसंता, एयदेसमोक्खमग्गी खलु।।52।।

1264. समणव्वद-पालणस्स, सत्तीए हीणे पालेसु तुमं।
उवासग-धम्मं सया, परंपराए मोक्ख-हेदू।।53।।

1265. सद्धाए पालेज्जा, वण्णिदं अत्तकहिदजिणागमम्मि।
पाव-णासगं सुवदं, कम्मक्खयेदुं समत्थं च।।54।।

1266. णमोयार-णंदीसर-समवसरण-पुप्फंजलि-रोहिणीय।
कम्मदहणं च जिणगुण-संपत्ती चउसट्ठि-इड्ढी।।55।।

1267. रविवदं धूवदसमी अणंतचउद्दसी दहलक्खणं च।
सोडसकारणं च जिण-सहस्सणामं सुदपंचमी।।56।।

1268. अस्सिणी - मुरजवदं च, कवलचंदायणं विमाणपंती।
सीहणिक्कीरिद - लद्धि-विहाणाइ-बहुविह-वदाइं।।57।।(तिअं)

भव्यों के हित के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत लोक में प्रसिद्ध हैं।।46।।धर्म का प्रभाव अचिंत्य है। उस धर्म का मूल सम्यक्त्व है। उसके अविनाभावी सम्यग्ज्ञान होता है जो मोह को नाश करने वाला है।।47।। सम्यक् चारित्र के बिना मात्र दो रत्न अर्थात् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से मोक्षमार्ग नहीं बनता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय के धारक ही मोक्षमार्गी जानने चाहिए।।48।। मोक्ष के कारणभूत वह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का होता है। अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में स्थित मुनिराज निश्चय मोक्षमार्गी जानने चाहिए।।49।। प्रमत्तविरत गुणस्थान में स्थित श्रमण व्यवहार से मोक्षमार्गी जानने चाहिए एवं गुणस्थान से अतीत जीव नियम से मोक्षफल से सहित जानने चाहिए।।50।। दो रत्नों अर्थात् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के धारक जीव नियम से असंयत सम्यदृष्टि होते हैं; वे किसी भी काल या स्थान में मोक्षमार्गी नहीं होते।।51।। अविरत सम्यग्दृष्टि नियम से मोक्षमार्गी होंगे। प्रशांत देशव्रती निश्चय से एकदेश मोक्षमार्गी होते हैं।।52।। श्रमण व्रत के पालन की शक्ति से हीन होने पर तुम्हें परंपरा से मोक्ष के हेतु उपासक वा श्रावक धर्म का पालन करना चाहिए।।53।। तुम्हें जिनेंद्र भगवान् के द्वारा कथित जिनागम में वर्णित पापों का नाश करने वाले सुव्रतों का भी श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिए। ये व्रत कर्मों का क्षय करने में भी समर्थ हैं।।54।। णमोकार व्रत, नंदीश्वर व्रत, समवसरण व्रत,पुष्पांजलि व्रत, रोहिणी व्रत, कर्मदहन व्रत, जिन-गुणसंपत्ति व्रत, चौंसठऋद्धिव्रत, रविव्रत, धूपदशमी व्रत, अनंतचतुर्दशी व्रत, दसलक्षण व्रत, सोलहकारण व्रत, जिनसहस्रनाम व्रत, श्रुतपंचमी व्रत, अश्विनी व्रत, मुरज व्रत, कवलचंद्रायण व्रत, विमानपंक्ति व्रत, सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत, लब्धिविधान आदि बहुत प्रकार के व्रत हैं।।55-57।।

1269. दुग्गदिं विणासेदुं, मोआविदुं सय दुरावत्थाए।
पुण्णाइं पूरयिदुं सिवं दायिदुं वदं सक्कं॥58॥

1270. आयण्णिदूणं च गणहरेणं हरिसिदो पूदीगंधो।
दुक्खक्खयोवायंच,तिमिरम्मिदुलद्धपयासोव्व॥59॥

1271. णिवेददि अइविणयेण, हे सामी! वदं अचिंतपहाविं।
दाएज्ज मज्झं जेण, किदपावक्खयिदुं सक्केमु॥60॥

1272. अहो पुत्तो! पालेसु, सुह-रोहिणिवदं चउविहाहारं।
अवहेडित्तु कसायं, मोणेण धम्मज्झाणेणं॥61॥

1273. रोहिणिवदमेगं चिअ, समत्थं च सव्वपावक्खयेदुं।
दादुं णरसुरविहवं, सुंदररूवं च आरोग्गं॥62॥

1274. णिक्कंखाइ सद्धाइ, वदपालणेणं सव्वविहसोक्खं।
किं जप्पिदेण बहुहा, पावेदि हु परमणिव्वाणं॥63॥

1275. एग-रोहिणिवदेणं, पावदि भवे उक्किट्ठभोयाइं।
चक्कि-मदणाइ-पदंच,लहित्तापुणतिहुवणणाहो॥64॥

1276. भो णिग्गंथगणेसो, तव पादंबुज-किवाइ चित्तं मे।
अइ-पवित्तं हरिसिदं, पडिखणं वड्ढंतणंदेण॥65॥

1277. कहिदं उप्पुलइदेण, आणंदस्सुपवाहिदेणं तेण।
तवकिवा-दिट्ठीएदु,भव्वालहिदुंसिवंसक्का॥66॥(जुम्मं)

1278. महव्वदं धारेदुं, णेव समत्थो हं अहुणा णाहो।
सगकल्लाणस्सकिण्णु,तिव्व-भावणाममचित्तम्मि॥67॥

1279. सद्धाइ पालिस्सामि, रोहिणीवदं बारसवदेहि सह।
विसुद्धीइसावगस्स,गहिदवदंकेवलि-सक्खीइ॥68॥

दुर्गति का विनाश करने में, दुरावस्था से छुटकारा दिलाने में, पुण्य से भरने एवं मोक्षपद देने में व्रत समर्थ हैं।।58।। इस प्रकार गणधर परमेष्ठी द्वारा अपने दुःख के क्षय का उपाय सुनकर पूतीगंध ऐसे हर्षित हुआ जैसे अंधकार में किसी जीव को प्रकाश ही मिल गया हो।।59।। तब पूतीगंध अति विनयपूर्वक भगवान् के चरणों में निवेदन करता है हे स्वामी! मुझे कोई अचिंत्य प्रभावी व्रत प्रदान कीजिए जिससे मैं अपने द्वारा किए गए पाप कर्मों का क्षय करने में समर्थ हो सकूँ।।60।। तब गणधर देव कहते हैं–हे पुत्र! तुम चारों प्रकार के आहार व कषाय का त्याग कर मौन से धर्मध्यानपूर्वक रोहिण ी व्रत का पालन करो।।61।। एक रोहिणी व्रत ही सर्व पापकर्मों के क्षय करने में, सुंदर रूप, आरोग्य एवं मनुष्य व देवों का वैभव देने में समर्थ है।।62।। निःकांक्ष भाव से श्रद्धापूर्वक व्रत पालन करने से जीव सर्व प्रकार का सुख प्राप्त करता है। अधिक कहने से क्या इस रोहिणी व्रत के पालन से जीव परम निर्वाण पद तक प्राप्त कर लेता है।।63।। एक रोहिणी व्रत से जीव संसार में उत्कृष्ट भोगों को प्राप्त करता है; चक्रवर्ती व कामदेव आदि के पद को प्राप्तकर पुनः तीनों लोकों का नाथ अर्थात् जिनेंद्र होता है।।64।। तब इन वचनों को सुनकर रोमांचित व आनंद अश्रु बहाता हुआ वह पूतीगंध कहता है, हे निर्ग्रन्थ गणेश! आपके चरण कमलों की कृपा से क्षण-क्षण में बढ़ते हुए आनंद से मेरा चित्त अतिपवित्र और हर्षित है। आपकी कृपादृष्टि से भव्यजीव मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।।65-66।। हे नाथ! मैं अभी महाव्रतों को धारण करने में समर्थ नहीं हूँ किन्तु स्वकल्याण की तीव्र भावना मेरे चित्त में है।।67।। मैं केवली प्रभु की साक्षी में ग्रहण किए गए रोहिणी व्रत का श्रावक के बारह व्रतों के साथ विशुद्धि से श्रद्धापूर्वक पालन करूँगा।।68।।

1280. दाएज्ज भो गणेसो! पालिदुं वद - णिद्दोस - मासीसं।
सावयवदं पालित्तु, हवेदु सल्लेहणा-मरणं॥69॥

1281. तव पसादेणं मए, लहिदो पावणासगो सुहुवायो।
मम इव जणा लहंते, सुहमग्गं तव णिमित्तेणं॥70॥

1282. सेट्ठ - सुगुरु - साणिज्झे, रदा सिवमग्गे पुण्णकज्जेसुं।
सेट्ठ-भूवदि-रज्जम्मि, धम्मकज्जरदा सुहि-पयाव॥71॥

1283. गुरुवासणाए विणा, सण्णाणं जुण्हा व विणा चंदं।
पुप्फं विणा गंधोव्व, णीरं विणा सीयलत्तं व॥72॥

1284. रयणायरम्मि अणेग-पयार-विउल-रयणरासीव होज्ज।
सुगुरुचरणेसुं सया, गुणो सहावो वर-धम्मो य॥73॥

1285. अक्कतिव्वतावेणं, पुप्फे गंधोव्व फले महुरिमा व।
सुसिस्सेसुं फुट्टेदि, गुण-धम्मो सहावो गुरुणा॥74॥

1286. णीरे सीयलत्तं व, पावेदि पुप्फेसु मंजुलत्तं व।
सम्मत्ताइ-गुणं सिव-मग्गं भव्वो गुरुकिवाए॥75॥

1287. पिदरोव्व पुज्जो गुरू, देदि सुसक्कारं समायारं च।
सुव्वदं सुधम्मं भववड्ढगो विहिबंधगो णेव॥76॥

1288. जलसिंचणेण वड्ढिद-पत्त-पुप्फ-फलाइं व रुक्खाणं।
गुरु-आसीवायेणं, वड्ढदि तव-संजमा सीलं॥77॥

1289. गुरु-दंसणं च णेहो, चित्त-विआसगो णियड-भव्वाणं।
उप्पलाइ-पुप्फाणं विगासग-मत्तंडोव्व सया॥78॥

1290. समादुं पस्सिय तुट्ठ-हरिसिद-बालोव्व सय सिस्सो गुरुं।
गुरुसेवाए पावदि, णाणं संजमं वेरग्गं॥79॥

हे गणधर प्रभु! व्रत के निर्दोष पालन हेतु मुझे आशीष प्रदान करें। हे प्रभु आशीर्वाद दें कि श्रावक के व्रतों का पालन कर मेरा सल्लेखना वा समाधिमरण होवे।।69।। हे गुरुवर! आपके प्रसाद से मैंने पापों का नाश करने वाला श्रेष्ठ उपाय प्राप्त किया है। मेरे समान बहुत से जीव आपके निमित्त से शुभ मार्ग प्राप्त करते हैं।।70।। जैसे श्रेष्ठ राजा के राज्य में सुखी प्रजा धर्म कार्य में रत रहती है वैसे ही श्रेष्ठ सुगुरु के सान्निध्य में भव्यजीव पुण्य कार्यों व मोक्षमार्ग में रत रहते हैं।।71।। जैसे चंद्र के बिना उसकी ज्योत्सना, पुष्प के बिना उसकी गंध और जल के बिना शीतलता संभव नहीं है उसी प्रकार सुगुरु की उपासना के बिना सम्यग्ज्ञान संभव नहीं है।।72।। जिस प्रकार रत्नाकर (समुद्र) में अनेक प्रकार की विपुल रत्नराशि होती है उसी प्रकार गुरु के चरणों में सदैव गुण, स्वभाव और उत्कृष्ट धर्म होता है।।73।। जिस प्रकार सूर्य के तीव्र ताप से पुष्पों में गंध व फलों में मधुरता आती है उसी प्रकार गुरु के माध्यम से शिष्यों में गुण, धर्म व स्वभाव प्रकट होता है।।74।। जैसे जल में शीतलता होती है, पुष्पों में कोमलता होती है उसी प्रकार गुरुकृपा से भव्य जीव सहज ही सम्यक्त्वादि गुणों को और मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं।।75।। गुरु पिता के समान पूज्य होते हैं। वे सदैव सुसंस्कार, सम्यक् आचार, सुव्रत और सुधर्म प्रदान करते हैं; वे कभी भववर्द्धक व कर्मबंधक नहीं होते।।76।। जैसे जल सिंचन करने से वृक्षों के पत्ते, पुष्प व फल आदि वृद्धिंगत होते हैं उसी प्रकार गुरु के आशीर्वाद से तप, संयम और शील वृद्धिंगत होता है।।77।। जैसे सूर्य, कमल आदि पुष्पों का विकास करने वाला होता है उसी प्रकार गुरु का दर्शन और स्नेह निकट भव्यों के चित्त का विकास करने वाला होता है।।78।। जैसे अपनी माता को देखकर बालक संतुष्ट व हर्षित होता है उसी प्रकार गुरु को देखकर शिष्य संतुष्ट और हर्षित होता है। गुरुसेवा से जीव ज्ञान, संयम और वैराग्य को प्राप्त करता है।।79।।

1291. सुसेणाए रज्जं व, वाडेण दंतेहि खेत्त-जीहा व।
गुरुणा सुरक्खिदा तव-णाण-झाण-संजमाइ-गुणा॥80॥

1292. णिम्मलसद्धाए गुरु-चरणंबुजेसु परोक्खभत्तीए।
तस्स देह-सुगंधिदो जिणभत्तिवदपहावेणं दु॥81॥

1293. पस्सहि धम्मपहावं, पालेसु सावय-वदं रोहिणिं च।
जदि सत्तिसंजुदो तो, महव्वदं सगकल्लाणाय॥82॥

1294. करुणाइ गुरुवयणेहि, विसुद्धमणेण पगडासीवायो।
महारूवम्मि फलदे, गुरुदंसणं पावणासगं॥83॥

1295. रोहिणिवदपालणेण, तस्स णिरोओ सुगंधिदो देहो।
मदणोव्व अइ-सुंदरो, सुगंधिवाहण-णामेण पसिद्धो॥84॥

1296. विम्हयमिदं पस्सित्तु, बहुणिवेहि पेसिदो समायारो।
सीहसेण-रायंपडि, परिणयस्स दु सगपुत्तीणं॥85॥

1297. सुजोग्ग-कण्णाए सह, विवाहो संपण्णो तस्स सुदस्स।
अदिसय-महुच्छवेणं, जिणाहिसेग-भत्ति-पूयाइ॥86॥

1298. सोक्खेण गदो यालो, विजयसुदस्स रज्जं पदायित्ता।
इगमासे अवसेसे, धरिदा सल्लेहणा णिवेण॥87॥

1299. आहाराइं विहाय, कसायं कसिदूणं आराहणं च।
आराहित्ता लहीअ, मज्झमं चिय समाहिमरणं॥88॥

1300. सुगंधिवाहणो पुणो, महड्ढिगो देवो पाणद-सग्गे।
जादो वदपहावेण, खयित्तु पुव्वसंचिदपावं॥89॥

1301. उववाद-सेज्जाए दु, उट्ठित्तु चिंतीअ केण पुण्णेण।
तवेण वदेण लहिदा, विहूदी चिय समिद्धी मए॥90॥

1302. ओहिणाण-णयणेणं, सावयवद-पहाविमो विजाणीअ।
सद्धाए हु सुपालिद-रोहिणिवदस्स विसेसेणं॥91॥

जिस प्रकार सेना से राज्य, बाड़ से खेत और दाँतों से जिह्वा सुरक्षित होती है उसी प्रकार गुरु से तप, ज्ञान, ध्यान और संयमादि गुण सुरक्षित होते हैं।।80।। निर्मल श्रद्धापूर्वक गुरु के चरण कमलों में परोक्षभक्ति, जिनभक्ति और रोहिणी व्रत के प्रभाव से उस पूतीगंध की देह सुगंधित हो गयी।।81।। अहो! धर्म का प्रभाव देखो! तुम्हें भी श्रावक व्रत व रोहिणी व्रत का पालन करना चाहिए और यदि शक्ति हो तो अपने कल्याण के लिए महाव्रतों का पालन करना चाहिए।।82।। उचित ही है करुणापूर्वक गुरु के वचन और विशुद्ध चित्त से प्रकट आशीष महान् रूप में फलित होता है। गुरु के दर्शन पापों का नाश करने वाले होते हैं।।83।। रोहिणी व्रत के प्रभाव से उस पूतीगंध की देह निरोगी व सुगंधित हो गयी। वह कामदेव के समान अति सुंदर हो गया, तब वह सुगंधिवाहन के नाम से विख्यात हुआ।।84।।यह विस्मय देखकर बहुत से राजाओं ने अपनी पुत्रियों के परिणय का समाचार राजा सिंहसेन के प्रति भेजा।।85।। अनंतर सुयोग्य कन्याओं के साथ राजा सिंहसेन के पुत्र पूतीगंध (सुगंधिवाहन) का विवाह अतिशय महोत्सवपूर्वक जिनाभिषेक भक्ति व पूजा के साथ संपन्न हुआ।।86।। सुखपूर्वक बहुत काल व्यतीत हो गया। जब उसकी आयु एक माह शेष रह गई तब अपने विजय नामक पुत्र को राज्य देकर उसने सल्लेखना धारण की।।87।। अंत में सर्व आहार का परित्याग कर, कषायों को कृश कर और चार आराधनाओं की आराधना कर मध्यम समाधिमरण को प्राप्त किया।।88।। पुनः व्रत के प्रभाव से सुगंधिवाहन पूर्व संचित पापों का क्षय कर प्राणत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ।।89।। वहाँ उपपाद शैय्या से खड़े होकर वह चिंतन करने लगा कि मैंने किस पुण्य, तप वा व्रत से इस समृद्धि व विभूति को प्राप्त किया है।।90।। तब अवधिज्ञान रूपी नेत्र से उसने जाना कि यह उसके द्वारा पाले गए श्रावक व्रत एवं विशेष रूप से श्रद्धापूर्वक पाले गए रोहिणी व्रत का प्रभाव है।।91।।

1303. विमलमदण-केवलि-जिण-पादमूले रोहिणिवदं लहिदं।
सावयवदं च अंते, हिदकर-सल्लेहणावदं च॥92॥

1304. वियारित्ता गुरुकिवं, पुण पुण परियंदिदूणं परोक्खे।
गुरुचरणेसु पणमीअ, किदण्हु-भावेणं सहाए॥93॥

1305. सुगुरु-किवातियलोए,सव्वसुकज्जसिद्धिकारगा होदि।
सव्वपाववविणासगा, मणोवंछिदफलदायगा य॥94॥

1306. गुरु-पसादेण भव्वो, होज्ज बहुगुणपुंज-विज्जावंतो।
किं पुण्णफलं ण लहदि, लोए सेट्ठ रिहंत-पदं पि॥95॥

1307. णिग्गंथ-गुरु-णेहेण, फलदि सव्वमणोरहं सिस्साणं।
खयंति पावकम्माणि, विज्जादी वड्ढंति णियमा॥96॥

1308. अणंतरं कुव्विदा य, सम्माणो पूया पसंसा तस्स।
देवस्स हु सुहासणो, पदायिदो देवंगणाहिं॥97॥

1309. वीसपक्खणंतरे दु, पुण्णवग्गणाजुद-सुहाणपाणं।
गहीअ अमियाहारं, वीससहस्सवासणंतरे॥98॥

1310. पयरिय गुरोवयारं, सपरिवारो गच्छीअ भत्तीए।
केवलि-पादमूलम्मि, करंतो जयजयगारं सो॥99॥

चौपाई छंद

1311. णमोणमोसिरिजिण-केवलिणो,णमोणमोगुरुणोजिद-अरिणो॥
परियंदामि दु परमाणंदं,सेट्ठ गुरुं मम तिलोयचंदं॥100॥

1312. मोहाइ-सव्वकम्म-णासगं,पणमामिभव्व-मण-विआसगं॥
अप्पगुणायरं च जिणदेवं,सदिंदेहिं सयपूजिद-देवं॥101॥

1313. तुज्झ दंसणं विग्घहारगं, रोग-सोग-संताव-हारगं।
दुक्खहरं संसार-सोसगं,सोक्खकरं गुणणंतपोसगं॥102॥

उसने जाना कि मैंने केवली प्रभु विमलमदन के पादमूल में रोहिणी व्रत व श्रावक व्रत ग्रहण किया था और अंत में हितकर सल्लेखना व्रत धारण किया था।।।92।। गुरु कृपा का विचारकर परोक्ष में पुनः पुनः उनकी स्तुति कर गुरु चरणों में कृतज्ञ भाव से उसने नमस्कार किया।।93।। सच में सुगुरु की कृपा तीन लोक में सभी शुभ कार्यों की सिद्धि करने वाली होती है। गुरु कृपा सब पापों का नाश करती है और मनोवांछित फल प्रदान करती है।।94।। गुरु के प्रसाद से भव्यजीव बहुत गुणों का पुंज व विद्यावान् होता है। गुरु कृपा से जीव कौन सा पुण्य फल प्राप्त नहीं करता। अहो! वह तो लोक में श्रेष्ठ अरिहंत पद को भी प्राप्त करता है।।95।। निर्ग्रन्थ गुरु के स्नेह से शिष्यों के सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, पाप कर्मों का क्षय होता है एवं विद्या आदि नियम से वृद्धिंगत होते हैं।।96।। अनंतर उस देव का सम्मान, पूजा व प्रशंसा की गई एवं देवांगनाओं के द्वारा शुभासन प्रदान किया गया।।97।। वह देव उस समय बीस पक्ष में एक बार पुण्य वर्गणाओं से युक्त शुभ श्वासोच्छ्वास और बीस हजार वर्ष में अमृताहार ग्रहण करता था।।98।। गुरु के उपकार को याद कर वह देव अपने परिवार सहित भक्तिपूर्वक जयजयकार करता हुआ विमलमदन केवली के पादमूल में पहुँचा।।99।। वह इस प्रकार स्तुति करने लगा–श्री केवली जिन को नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। परमानंद स्वरूप तीन लोक में चंद्रमा के समान अपने श्रेष्ठ गुरु की मैं स्तुति करता हूँ।।100।। मोह आदि सभी कर्मों के नाशक, भव्यों के मन के विकासक, आत्मगुणाकर, शत इंद्रों से पूजित देव श्री जिनेन्द्र प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।।101।। हे प्रभु! आपका दर्शन विघ्नों का हरण करने वाला है, रोग, शोक व संताप हारक है। आपका दर्शन दुःखहर, संसार अवशोषक, सुख को करने वाला और अनंत गुणों का पोषक है।।102।।

1314. पणमामि अहं घादि-विजेदुं, सयंपबुद्धं सिवपह-णेदुं।
णाणेणंतियलोयपगासिं, अहिसंधी जिणवरगुणरासिं॥103॥

1315. जुत्ताणंतचउक्कं सामिं, तविदचित्तसंतीए वारिं।
सासय-अप्प-विहव-संजुत्तं, अरिहंतंउहयलच्छिजुत्तं॥104॥(जुम्मं)

1316. णासिय जेण मोह विहि धूलं, णिल्लूरिदं भवभमणमूलं।
खाइगसम्मत्तेणं जुत्तो, खाइग-चरियजुदो जयवंतो॥105॥

1317. अप्पगगणंगणे सुपवित्तो, उदिदो केवलणाणस्सक्को।
लोयालोयपयासगा-सामिं, णमंसामि हं केवलणाणिं॥106॥

1318. लहिदा केवलदिट्ठी जेणं, णासिय दंसण-आवरणिज्जं।
जुत्तो अंतहीणणाणेणं, वंदे तं भावेहिं णिच्चं॥107॥

1319. खीणमोहठाणे पणविग्घं, सुक्कज्झाणेणं खलु खयिदं।
लहिद-मणंतवीरियं जेणं, णमंसामि तं सुहरागेणं॥108॥

1320. तेसट्ठीपइडिं णासित्ता, णवकेवललद्धिं पावित्ता।
जेण सोहिदो गंधकुडीए, णमंसामि तं सुद्धमदीए॥109॥

1321. छत्त-चमर-भामंडल-दिव्वज्झुणी सीहासणंतह णिच्चं।
दुंदुभि-पुप्फविट्टि-मणहारी, रुक्ख-असोगो अदिसयगारी॥110॥

1322. अट्ठ पाडिहेरेहिं जुत्तं, मंगलदव्वेहिं संजुत्तं।
लहिदुं अट्ठ गुणं वंदे हं, अट्ठ मभूमीए सुहपहिगं॥111॥

दोहा

1323. करिदूणं पहु-वंदणं, सुणिदो य उवएसो।
तदा पच्चागच्छीअ दु, विप्पसीअंतो सो॥112॥

घातिया कर्मों के जेता, स्वयंबुद्ध, मोक्षमार्ग के नेता, ज्ञान से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले, गुणों की राशि स्वरूप श्री जिनवर देव को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। अनंत चतुष्टय से युक्त, संसार में संतप्त चित्त वालों की शांति के लिए जल स्वरूप, शाश्वत आत्मवैभव से संयुक्त, उभय अर्थात् अंतरंग व बहिरंग लक्ष्मी से युक्त श्री अरिहंत स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।।103-104।। जिन्होंने मोहनीय कर्म रूपी धूल नष्ट कर संसार परिभ्रमण की जड़ को उखाड़कर फेंक दिया, क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र से युक्त वे जिनेंद्रप्रभु जयवंत हों।।105।। जिनके आत्मा रूपी गगन में पवित्र केवलज्ञान रूपी सूर्य उदय को प्राप्त हुआ है, उन लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञानी जिनेंद्र को मैं नमस्कार करता हूँ।।106।। जिन्होंने दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर केवलदृष्टि प्राप्त की, अनंतज्ञान से युक्त हुए उन केवली प्रभु को भावों से नित्य नमस्कार करता हूँ।।107।।क्षीणमोह गुणस्थान में जिन्होंने द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा पंच अंतराय कर्म का नाश कर दिया एवं अनंतवीर्य को प्राप्त किया उन प्रभु को मैं शुभ राग से नमस्कार करता हूँ।।108।। त्रेसठ प्रकृतियों का नाशकर जिन्होंने नवकेवललब्धियों को प्राप्त किया एवं गंधकुटी में सुशोभित हुए उन्हें मैं शुद्धमति से नमस्कार करता हूँ।।109।। छत्र, चंवर, भामंडल, दिव्यध्वनि, सिंहासन, दुंदुभि, पुष्पवृष्टि व अशोक वृक्ष ये मनहारी व अतिशयकारी आठ प्रातिहार्य हैं।।110।। इन अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त, अष्ट मंगलद्रव्यों से संयुक्त, अष्टम भूमि (सिद्धालय) के पथिक श्री जिनेंद्र भगवान् की अष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए मैं वंदना करता हूँ।।111।। श्री प्रभु की वंदना कर उस देव ने उनका दिव्यध्वनि रूप उपदेश सुना। पुनः प्रसन्न होता हुआ वह अपने स्थान को लौट गया।।112।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में मुनिघात के कुफल एवं व्रतों के सुफल को दिखाते हुए पूतीगंध (अशोक का पूर्व भव) के पूर्व भवों का वर्णन करने वाला ग्यारहवाँ नंद पूर्ण हुआ।

बारसम-णंदो

1324. करीअ अणेगवारं, तच्चवित्तं देवविंद-मज्झम्मि।
णियरम्मदेवंगणा, संबुज्झीअ सुहभावेहिं।।1।।

1325. पणमेरु-वंदणाए, रुचग-कुंडलसेलाणं च कया वि।
णंदीसर-दीवस्स य, अकिट्टिम-चेइयालयाणं।।2।।

1326. माणुसोत्तर - सेलस्स इस्सागाराण रजदायलाणं।
गच्छीअकुलायलाण,तरुठिदाणभत्ति-रायेणं।।3।।(जुम्मं)

1327. तित्थयर-समवसरणे, केवलि-गंधकुडीए बहुवारं।
ताण थुदि-वंदणाए, गच्छीअ सुणिदुं उवएसं।।4।।

1328. तित्थयराणं कया वि, गब्भजम्मतवणाणकल्लाणेसु।
णिव्वाणकल्लाणम्मि, गच्छिय भत्तीए वंदीअ।।5।।

1329. पंच-परमेट्ठि-गुणा हु, चिंतीअ सया भाव-विसुद्धीए।
सुसंजम-साहणं अवि, धरिदुं अइ-वाउल-चित्तेण।।6।।

1330. माणुसभवं धरित्ता, कदा गहिस्सामि महव्वदाइं च।
पाणिपत्त-दियंबरो,कदाएगंतवासीहोज्ज।।7।।(जुम्मं)

1331. महापुण्णोदयादो, भुंजीअ वीस - सायर - पज्जंतं।
सग्गे उत्तम-भोयं, गदयालं णेव विआणीअ।।8।।

1332. सग्गादो चयिदूणं, सेसपुण्णादो उप्पज्जीअ सो।
जंबुदीवस्स सासय - कम्मभूमि - पुव्वविदेहम्मि।।9।।

1333. पुक्कलावदी - देसे, पुण्णवंत - पुंडरीगणि - णयरीइ।
रायाहिरायोविमल-कित्तिस्ससुदोअक्ककित्ती।।10।।(जुम्मं)

1335. सुकज्जेसु सहयारी, सिरिमदी चिय पाणवल्लहा तस्स।
बुद्धि-सुंदरिमाए य, मुत्तीव पिया सीलवंता।।12।।

वह देव अनेक बार देवसमूह के मध्य तत्त्ववार्ता करता था। अपनी रम्य देवांगनाओं को शुभ भावों से संबोधित किया करता था।।1।। वह समय-समय पर भक्ति के अनुराग से पंचमेरु, रुचकगिरि, कुंडलगिरि, नंदीश्वर द्वीप, मानुषोत्तर पर्वत, इष्वाकार पर्वत, विजयार्द्ध पर्वत, कुलाचल और वृक्षों पर स्थित अकृत्रिम जिनालयों की वंदना के लिए जाया करता था।।2-3।। वह बहुत बार तीर्थंकर के समवशरण में, केवली की गंधकुटी में, उपदेश सुनने एवं प्रभु की स्तुति व वंदना के लिए जाया करता था।।4।। उसने तीर्थंकरों के गर्भ कल्याण ाक, जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और मोक्ष कल्याणक में जाकर भक्तिपूर्वक वंदना की।।5।। वह सदैव भावों की विशुद्धिपूर्वक पंचपरमेष्ठी के गुणों का चिंतन करता था। वह अति व्याकुल चित्त से सुसंयम साधना को धारण करने के लिए चिंतन करता-अहो! मनुष्य भव को धारण कर मैं कब महाव्रतों को ग्रहण करूँगा, कब पाणिपात्र में आहार लेने वाला एकांतवासी दिगंबर साधु होऊँगा।।6-7।। महापुण्य के उदय से उसने बीस सागर पर्यंत स्वर्ग में उत्तम भोगों को भोगा। स्वर्ग में व्यतीत किया काल उसे ज्ञात नहीं हुआ अर्थात् समय कब बीत गया उसे पता ही नहीं चला।।8।। स्वर्ग से च्युत होकर शेष पुण्य से वह जंबूद्वीप की शाश्वत कर्मभूमि पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश में पुण्यवान् पुंडरीकिणी नगरी में राजाधिराज विमलकीर्ति का अर्ककीर्ति नामक पुत्र हुआ।।9-10।। वह राजा शूर, न्यायप्रिय, प्रजावत्सल, हित-मित-सत्यभाषी, नीतिवान् व धर्मनिष्ठ था। वह सुखपूर्वक वहाँ शासन किया करता था।।11।। उसकी श्रीमती नामक प्राणवल्लभा थी जो उसके श्रेष्ठ सुकार्यों में सहयोगी रहती थी। वह बुद्धि और सौंदर्य की मूर्ति के समान, प्रिय व शीलवती थी।।12।।

1336. ताणं सुकलापेम्मी, विज्जावंतो अइपुण्णवंतो य।
अक्कोव्वओजंसीय,विअड्ढोसुदोअक्ककित्ती॥13॥

1337. अस्सअक्ककित्तिस्सदु,मेहसेण-गुणवंतोवर-मित्तं।
पाणादोवि अइपियो,जहट्ठ-मेत्ती छलविहीणा॥14॥

1338. तस्स पालण-पोसणं, सेट्ठ-रज्जोइद-रीदिणीदीहि।
सुदकित्ती पाढगो हु, आहविदो सचेद-रायेण॥15॥

1339. विविह-सेट्ठ-सिक्खाणं,सुसक्कारेहिं सह सुप्पसिद्धो।
जम्हासक्कारेहिं,विणाअणिट्ठकारीसिक्खा॥16॥(जुम्मं)

1340. वरसक्कारेहि विणा,सेट्ठ विज्जा वि सुफलदायगा णो।
अहमकायरपुरिसस्स,जह तह करागददिव्वत्थं॥17॥

1341. सुहसक्कारवंतोदु,वसणादीसुणोपरिलीदि कयावि।
तस्स जीवणं पि सुही,विज्जाइ वरो सुसक्कारो॥18॥

1342. तेण सह मेहसेणो, वि अज्झयणस्स रुईए गच्छीअ।
ते होही अइ-णिउणा, बहुकलासुं सुहविज्जासुं॥19॥

1343. सायरदत्तो सेट्ठी, पसिद्धो उत्तर-मथुरा-णयरीइ।
जयमदी-भज्जाइ सह, धम्मणिट्ठ-मणोहराए य॥20॥

1344. ताणसुमंदिरोसुदो,सुविज्जाकलासक्कार-सहिदोय।
विवित्तोपिदर-भत्तो,सव्वजणपियोगुणाकंखी॥21॥

1345. तदा दक्खिण-मथुराइ, सेट्ठी णंदिमित्तो धम्मिट्ठो य।
सावयगुणसंजुत्तो, भूवदि-सुमित्तं गुणवंतो॥22॥

1346. आयंसियो गिहत्थो, रदो दाण-पूयाइ-सुहकज्जेसु।
सडावसिय-सुपालगा,कुलकित्तिवड्ढगोसरलोय॥23॥

1347. तस्स पाणपिया धम्मदत्ता वच्छलाइ-बहुगुण-जुत्ता।
जिणाराहिगा सुसत्थ-अज्झयणरदा सुभासिल्ला॥24॥

उनका अर्ककीर्ति नामक पुत्र सुकलाप्रेमी, विद्यावान्, अतिपुण्यवान्, सूर्य के समान ओजस्वी और निपुण था।।13।। उस अर्ककीर्ति के मेघसेन नामक गुणवान् श्रेष्ठ मित्र था जो उसे प्राणों से भी अतिप्रिय था। उचित ही है यथार्थ मैत्री छल से रहित होती है।।14।। उसका पालन-पोषण श्रेष्ठ राज्योचित रीति और नीति से किया गया। पुत्र की शिक्षा के लिए सावधान उस राजा ने सुसंस्कारों के साथ वि. विध श्रेष्ठ शिक्षाओं के लिए सुप्रसिद्ध श्रुतकीर्ति नामक उपाध्याय को बुलाया क्योंकि सुसंस्कारों के बिना शिक्षा अनिष्टकारी ही होती है।।15-16।। उत्तम संस्कारों के बिना श्रेष्ठ विद्या इस प्रकार सुफल प्रदान करने वाली नहीं होती जिस प्रकार अधम व कायर पुरुष के हाथ में आया दिव्यास्त्र।।17।। सुसंस्कारवान् कभी भी व्यसन आदि में लीन नहीं होते और उनका जीवन भी सुखी होता है। उचित ही है विद्या से श्रेष्ठ सुसंस्कार होते हैं।।18।। अर्ककीर्ति के साथ मेघसेन भी अध्ययन के लिए रुचिपूर्वक गया। वे दोनों ही बहुत सी कलाओं व शुभ विद्याओं में निपुण हो गए।।19।। उधर उत्तर-मथुरा नगरी में अपनी धर्मनिष्ठ, मनोहरा जयमती नामक भार्या के साथ सागरदत्त श्रेष्ठी सुप्रसिद्ध थे।।20।। उनके सुमंदिर नामक पुत्र था; जो सुविद्या, कला व संस्कारों से युक्त, विवेकवान्, माता-पिता का भक्त, सभी लोगों का प्रिय व गुणों का आकांक्षी था।।21।। तभी दक्षिण- मथुरा नगरी में नंदिमित्र नामक श्रेष्ठी रहता था जो धर्मिष्ठ, श्रावक के गुणों से युक्त, राजा का मित्र और गुणवान् था।।22।। वह नंदिमित्र आदर्श गृहस्थ, दान-पूजा आदि शुभ कार्यों में रत, षटावश्यकों का पालन करने वाला, कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाला और सरल था।।23।। उसकी प्राणप्रिया धर्मदत्ता थी जो वत्सल आदि बहुत गुणों से युक्त, जिनेंद्रप्रभु की आराधिका, सुशास्त्रों के अध्ययन में रत व मृदुभाषी थी।।24।।

1348. सामाइयाइ-वदेहि, अहिंसाइ-अणुव्वद-जुदा कुसला।
गुणव्वद-संपालिगा, णिग्गंथ-चरणसुसेविगा य॥25॥

1349. ताणं बे पुत्ती सग-रूव-गुणरासि-संजुदा विणीदा।
अणुकंपया पसण्णा, भारजुत्ता जोव्वणियाए॥26॥

1350. भामिणीसरल-हिअया, णिम्मलचित्त-पविट्ठि-जुदाविमला।
सुसीलासुमदीखमासीलाबेलक्खजुद-पण्णा॥27॥(जुम्मं)

1351. जिणधम्ममि थिरा सगपिदरस्स गुणधारगा पडिरूवा।
बालोव्व चंचला तह, मंजुला सुह-मज्जाइल्ला॥28॥

1352. विअसिदा-कुमुदणीवय, णासिगाइअणियारत्तिम-सुहगा।
पाडलं व्व अहरो, दंतावली य दाडिमबीअं व॥29॥

1353. विणिम्मल-पुण्णिंदू व्व, आणणं आगरिसगं कामीणं।
पुप्फेसुं भमरोव्व हु, गोरं हरिसिदं कंतिजुदं॥30॥

1354. पाणिगहण-सक्कारो, होही सुमंदिरेणं सह ताणं।
उच्छाहेण हरिसेण, कुलेसु आणंद-वड्ढगाण॥31॥

1355. तदादक्खिण-भारदे, अक्ककित्तीचियसगमित्तेणसह।
पहुच्चीअ दु आमोद-पमोद-भावेणं भमंतो॥32॥

1356. ताणं सुरूवरासिं, पस्सित्ता संमुज्झीअ कुमारा।
परिययेण विणा मेहसेणागासियो विसेसेण॥33॥

1357. अक्ककित्ति-अणुमदीइ, गहिदा तासु मुद्ध-मेहसेणेणं।
करा उहयकण्णाणं, सम्मुहम्मि णयरवासीणं॥34॥

1358. तं दिस्सं पस्सित्ता, णयरवासी आसुरुत्ता हवेज्ज।
पिदु-णंदिमित्तेण, णिय-दुहं णिवेदिदं रुदंतेण॥35॥

1359. ताण वत्तं सुणिच्चा, कुविद-रायेण तदा दंडिदा ते।
णिस्सारिदा देसादु, अकज्जस्स धिक्कारंतेण॥36॥

वह सामायिक आदि व्रतों एवं अहिंसा आदि अणुव्रतों से युक्त, कुशला, गुणव्रतों का पालन करने वाली और निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरणों की सेविका थी।।25।। उनकी सुशीला व सुमती नामक दो पुत्रियाँ थीं जो अपने रूप और गुणों की राशि से युक्त, विनया, दयावती, प्रसन्न, यौवन के भार से युक्त, भाग्यशाली, सरल-हृदया, क्षमाशीला, लज्जावती और बुद्धिमती थीं।।26-27।। वे जिनधर्म में स्थिर, अपने माता-पिता के गुणों को धारण करने वाली, प्रशस्त रूप वाली, बालक के समान चंचल, कोमल, शुभ तथा मर्यादित थीं।।28।। वे खिली हुई कुमुदिनी के समान थीं। उनकी नासिका का अग्र भाग रक्तिम व सुभग था। उनके ओंठ गुलाब के समान थे। उनकी दंतावली अनार के दानों के समान थी।।29।। पूर्ण चंद्रमा के समान उनका आनन निर्मल था। जिस प्रकार पुष्पों पर भँवरे खिंचे चले आते हैं उसी प्रकार उनका चेहरा कामियों को आकर्षित करने वाला था। उनका चेहरा गौर वर्ण का, हर्षित और कांतियुक्त था।।30।। उन कुलों में आनंद की वृद्धि करने वाली कन्याओं का पाणिग्रहण संस्कार उत्साह व हर्षपूर्वक सुमंदिर के साथ हुआ।।31।। तभी भ्रमण करते हुए आमोद-प्रमोद भाव से अर्ककीर्ति अपने मित्र के साथ दक्षिण भारत में पहुँचे।।32।। उन कन्याओं की सुंदर रूपराशि को देखकर वे मुग्ध हो गए। उन कन्याओं के परिचय के बिना ही विशेष रूप से मेघसेन उनकी ओर आकर्षित हुआ।।33।। अर्ककीर्ति की सहमति से उन कन्याओं पर मुग्ध मेघसेन ने दोनों कन्याओं का हाथ नगरवासियों के सम्मुख ग्रहण कर लिया।।34।। उस दृश्य को देखकर नगरवासी बहुत क्रोधित हो गए; तब कन्याओं के पिता नंदिमित्र ने रोते हुए राजा विमलकीर्ति के समक्ष अपना दु:ख निवेदित किया।।35।। तब उनकी वार्ता को सुनकर राजा ने अर्ककीर्ति व मेघसेन को दंडित किया एवं उनके इस नहीं करने योग्य कार्य के लिए धिक्कारते हुए देश से बाहर निकाल दिया।।36।।

1360. तादो ठाणादो चिय, पहुच्चित्तु ते वीदसोगपुरं च।
अइ-पमिलाण-मुहेणं, वियारीअ भाविकज्जाइं।।37।।

1361. तस्स देसस्स राओ, विमलवाहणो दु विणिम्मलचित्तो।
राणी विमलसिरी तह, चित्तापहारगा सुंदरी।।38।।

1362. ताण-मट्ठ पुत्तीओ, जयमदी सुकंता कणगमाला य।
सुप्पहा य सुमदी सुव्वदा सुव्वदाणंदा तहा।।39।।

1363. विमलप्पहा सम्मत्त-वसुअंगोव्व सुसक्कारवंता य।
गुणवंत-पुण्णवंता, सीलवंता सुभग्गवंता।।40।।(जुम्मं)

1364. राय-विमलवाहणेण, एयदा पुच्छिदं अइ-पीदीए।
मे जयमदि-आदीणं, को होज्ज पदी पुण्णवंतो।।41।।

1365. तदा णिमित्तणाणिणा, भासिदं जो को वि पुण्णपुरिसो दु।
पुण्णवंत-जामादू, विज्झेज्ज चंदगवेज्झं सो।।42।।

1366. भिंडिमाल-कुंत-फरसु-धणु-करवालाइ-सत्थाणं।
विज्जासुं णिउणेणं, धणुव्वेदम्मि विसेसेणं।।43।।

1367. धणुद्धरेण अक्केण, विज्झिदं चंदगवेज्झं खणेगे।
सव्वा रायकुमारा, रायादी विम्हावंतेण।।44।।(जुम्मं)

1368. तदा जयमदी पहुदी, कण्णा पदायिदा अक्ककित्तिस्स।
राय-विमलवाहणेण, विहीए णिगामायरेणं।।45।।

1369. लहित्तु वसुकण्णाओ, ठाएज्ज तत्थ किंचणयालंतं।
भुंजंतो वरभोयं, अइ-सुहेणं च आणंदेण।।46।।

1370. गच्छीअ एयदिवसे, अमलयागत्थ-जिणालयहिरामं।
अहिसेगं जिणपूयं, णीरखीराइ-सुहदव्वेहि।।47।।

1371. उत्तमरयणेहि कट्टु, उववासेण सह ठाही तत्थेव।
कुणंतो जवं भत्तिं, पूयं णिवज्जीअ रत्तीइ।।48।।(जुम्मं)

अति म्लान मुख से उस स्थान से निकलकर वे वीतशोकपुर पहुँचे और अपने भविष्य के कार्यों का विचार करने लगे।।37।। उस देश का राजा निर्मलचित्त वाला विमलवाहन था। उसकी भार्या रानी वि. मलश्री थी जो सुंदर व उसके चित्त का हरण करने वाली थी।।38।। उनकी सुसंस्कारों से युक्त, सम्यक्त्व के आठ अंग के समान, गुणवती, पुण्यवती, शीलवती और सौभाग्यवती आठ पुत्रियाँ थीं। उनके नाम इस प्रकार थे–जयमति, सुकान्ता, कनकमाला, सुप्रभा, सुमति, सुव्रता, सुव्रतानंदा और विमलप्रभा।।39-40।। एक बार राजा विमलवाहन ने किसी निमित्तज्ञानी से पूछा कि मेरी जयमति आदि पुत्रियों का पुण्यवान् पति कौन होगा?।।41।। तब निमित्तज्ञानी ने कहा जो कोई भी पुण्य पुरुष चंद्रकवेध का वेध करेगा वही तुम्हारा पुण्यवान् दामाद होगा।।42।। राजकुमार अर्ककीर्ति भिंडमाल, भाला, फरसा, धनुष, तलवार आदि शस्त्र विद्याओं में निपुण था एवं विशेष रूप से धनुर्विद्या में निपुण था।।43।। सभी राजकुमार एवं राजाओं को आश्चर्यचकित करते हुए उस धनुर्धर अर्ककीर्ति ने एक ही क्षण में चंद्रकवेध को वेध दिया।।44।। तब राजा विमलवाहन ने विधिपूर्वक अत्यन्त आदर के साथ जयमति आदि आठों कन्याओं को अर्ककीर्ति के लिए प्रदान किया।।45।। आठों कन्याओं को प्राप्त कर उत्तम भोगों को भोगते हुए अति सुखपूर्वक व आनंद से कुछ समय तक अर्ककीर्ति वहाँ ठहरा।।46।।एक दिन अर्ककीर्ति मनोहर अमलयागस्थ जिनमंदिर गया। नीर-क्षीरादि शुभ द्रव्यों से अभिषेक व उत्तम रत्नों से जिनेंद्र भगवान् की पूजन कर उपवास सहित वह वहाँ ठहरा। रात्रि में जाप, भक्ति व पूजा करता हुआ अर्ककीर्ति वहाँ स्थित हुआ।।47-48।।

1372. लववो रायकुमारो, अवहरिदो चित्तलेहाए तदा।
बहु-विज्जाधारगाइ, पुणो आगासमग्गेणं हु।।49।।

1373. विजयद्ध-पव्वदे ठिद-सिद्धकूड-जिणालयेणीएज्जा।
जागरित्ता कुमारो, पस्सित्तु जिणालयं पढमं।।50।।

1374. विप्पसीअ सुकुमारो, तस्स दु अदिसय-पुण्णपहावेणं।
मंदिरस्स सुवज्जमय-दारं उग्घडीअ सयमेव।।51।।(जुम्मं)

1375. सिरिजिणबिंबदंसणं, सुहभावेहि अच्चंतहरिसेणं।
करीअ जिणाहिसेगं, पूयं गाअंतो भत्तीइ।।52।।

1376. तत्थ ठाण-सुरक्खगो, सुविज्जाहरो तदा विगडदंतो।
आहम्मिदूणं तस्स, णियडे पज्जरीअ कुमारो।।53।।

1377. केण कारणेण इमा, विज्जाहर-सुदा तुमं आहरीअ।
छलेणं णिवज्जंतं, उप्पालेमि हु आयण्णेसु।।54।।(जुम्मं)

1378. इह विजयद्ध-पव्वदे, अब्भपुरं चिय सुसोहिदं णयरं।
देवणयरीव विज्जाहर-परिपूरिदं अहिरामं।।55।।

1379. भूवदी पवणवेगो, विज्जाहरो परिक्कंतो धीरो।
तस्स पिय-अद्धंगिणी, गगणवल्लहा इंदाणीव।।56।।

1380. सा णिम्मलचित्ता पइ-अणुगामिया वच्छलभावजुत्ता।
णाणाकला-संजुदा, सुपुण्णरदा सीलवंता य।।57।।

1381. ताणं सुपुण्णवंता सुकुमारिया वीदसोगा पुत्ती।
रूववइ-भद्दा कला-णिउणा तह विण्णाण-कुसला।।58।।

1382. एयदा तेण णिवेण, पुच्छिदं णियपुत्तिवीदसोगाइ।
विवाह-संबंधम्मि य, को ताए सेट्ठ-जोग्गवरो।।59।।

1383 जस्स पहावेण सिद्धकूड-मंदिरदारं उग्घाडेज्ज।
णिमित्तणाणिणा तदा, कहिदं हु होज्ज पदी ताए।।60।।

कुछ समय पश्चात् राजकुमार वहीं सो गया तब बहुत विद्याओं को धारण करने वाली चित्रलेखा ने उस अर्ककीर्ति का हरण कर लिय. ।।49।। वह उस सोते हुए अर्ककीर्ति को विजयार्द्ध पर्वत पर स्थित सिद्धकूटवर्ती जिनालय में ले गयी। वह सुकुमार जागकर सबसे पहले जिनालय को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसके अतिशय पुण्य प्रभाव से मंदिर के वज्रमय द्वार अपने आप ही खुल गए।।50-51।। उसने अत्यंत हर्षपूर्वक शुभ भावों से श्री जिनबिंब दर्शन किए एवं भ. क्तिपूर्वक गाते हुए जिनेंद्र भगवान् का अभिषेक और पूजन की।।52।। तब उस स्थान का रक्षक विकटदंत नाम का विद्याधर उसके पास में आकर बोला–हे कुमार! ''विद्याधर की पुत्री किस कारण आपको सोते हुए छलपूर्वक यहाँ लेकर आयी है'' उसका कारण मैं कहता हूँ सुनो।।53-54।। इसी विजयार्द्ध पर्वत पर देव नगरी के समान अभ्रपुर नामक नगर सुशोभित है; वह विद्याधरों से परिपूरित व सुंदर है।।55।। उस नगर का राजा पवनवेग विद्याधर है जो पराक्रमी व धीर है। उसकी प्रिय अर्द्धांगिनी गगनवल्लभा इंद्राणी के समान है।।56।। वह रानी निर्मल चित्त वाली, पति की अनुगामिनी, वात्सल्य भाव से युक्त, नाना कलाओं से युक्त, सुपुण्य में रत और शीलवती है।।57।। उनकी सुकुमारी वीतशोका नामक पुत्री है जो पुण्यवती, रूपवती, भद्रपरिणामी, कलाओं में निपुण एवं विज्ञान कुशला है।।58।।एक बार राजा पवनवेग ने किसी निमित्तज्ञानी से अपनी पुत्री वीतशोका के विवाह के संबंध में पूछा था कि ''कौन इसका श्रेष्ठ योग्य वर होगा?।।59।। तब निमित्तज्ञानी ने कहा कि ''जिस पुरुष के प्रभाव से सिद्धकूटवर्ती जिनमंदिर के द्वार स्वयं खुल जाएँगे वह ही इसका पति होगा''।।60।।

1384. असाहारणंपुण्णं,पस्सियतवकित्तिंसुह-लक्खणाणि।
णिउत्त-विज्जाहरीइ, अवहरिदो उट्ठेसु अहुणा॥61॥

1385. आगच्छेज्ज मए सह, भो पुण्णवंत-कुमारो सहसत्ति।
सेट्ठ-रायपासादं,पुढविपदि-पवणवेगस्सखलु॥62॥

1386. सुहेण रायुज्जाणे, ठवित्तु तं पहुच्चीअ पासादं।
दायिदुं समायारं, सुहं णिव-पवणवेग-णियडे॥63॥

1387. सुणिय सव्ववित्तंतं, अइउच्छाहेणं पवणवेगेण।
पिय-गगणवल्लहाए, पसण्णेण सागदं करिदं॥64॥

1388. तस्स रायकुमारस्स, रज्जकुडुंब-मंतिमंडलेहि सह।
आणंदमहुच्छवोदु,होहीतदातम्मिणयरम्मि॥65॥(जुम्मं)

1389. कोक्किय णिउणपंडिदं, उत्तममुहुत्ते अप्पिदा पुत्ती।
अक्ककित्ति-कुमारस्स, विहीए अइ-उल्लासेणं॥66॥

1390. इगतीस-कण्णण्णाण,पाणिग्गहणसुसक्कारोवितदा।
णिव-अक्ककित्तिणाणसह,अइ-विहवेणंसमिद्धीए॥67॥

1391. तम्मि अब्भपुर-णयरे महुच्छवो च मासेग-पज्जंतं।
करिदोजिणपूयदाण-पहुदीहिसहविहव-दंसगो॥68॥

1392. पंचवासंतं अक्क-कित्ती ठाएज्जा सगपियाहि सह।
रायविहूदीए सह, सुहेण भुंजंतो भोयाणि॥69॥

1393. अणंतरं अंजणागिरि-णयरं खलु आगच्छीअ कुमारो।
कुअहलेण रंजंतो, चित्ताइं णयरवासीणं॥70॥

1394. भूवदि-पहंजणेणं, सुसासिदं तं सुणीदि-रीदीहिं।
अच्चंत-साहिमाणी, रायविज्जाजुत्तो विण्णो॥71॥

1395. तस्स हिअयवासिया दु, वच्छलजुदा णीलंजणा राणी।
सोम्ममुत्ती जिणधम्म-रदा तह सुसक्कारवंता॥72॥

आपके असाधारण पुण्य, कीर्ति व शुभ-लक्षणों को देखकर इस नियुक्त विद्याधरी ने आपका हरण किया है, अतः अब उठो।।61।। हे पुण्यवान् कुमार! शीघ्र मेरे साथ पृथ्वीपति पवनवेग के श्रेष्ठ राजप्रासाद में चलो।।62।। वह विद्याधर अर्ककीर्ति को सुखपूर्वक राज उद्यान में ठहराकर राजमहल में राजा पवनवेग के निकट शुभ समाचार देने के लिए पहुँचा।।63।। उक्त सब वृत्तांत को सुनकर राजा पवनवेग व गगनवल्लभा ने अति उत्साह व प्रसन्नतापूर्वक सर्व राजकुटुंब व मंत्रिमंडल के साथ उस राजकुमार का स्वागत किया। तब उस नगरी में अति आनंद महोत्सव हुआ।।64-65।। निपुण पंडित को बुलाकर राजा ने उत्तममुहूर्त में विधिपूर्वक अति उल्लास के साथ अपनी पुत्री राजकुमार अर्ककीर्ति के लिए अर्पित की।।66।। तभी अन्य इकत्तीस कन्याओं का पाणिग्रहण शुभ संस्कार भी अति वैभव व समृद्धि से राजकुमार अर्ककीर्ति के साथ कर दिया।।67।। उस अभ्रपुर नगर में एक मास तक जिनपूजा, दान आदि के द्वारा वैभव को दिखलाने वाला महोत्सव किया गया।।68।। अर्ककीर्ति राजविभूति युक्त अपनी प्रियाओं के साथ सुखपूर्वक भोगों को भोगते हुए पाँच वर्ष तक वहाँ रहे।।69।। अनंतर अपने कौतूहल से नगरवासियों के चित्त को रंजायमान करता हुआ कुमार अंजनगिरी नगर में आ गया।।70।। वह नगर सम्यक् नीति व रीति से राजा प्रभंजन द्व ारा शासित था। वह राजा अत्यंत स्वाभिमानी, राजविद्या से युक्त और विज्ञ था।।71।। उसकी हृदयवासिनी रानी का नाम नीलांजना था जो वात्सल्य भाव से युक्त, सौम्यमूर्ति, जिनधर्म में अनुरक्त

1396. ताणं अट्ठरिद्धीव, अट्ठकण्णाओ मदणा कणगा य।
विउला वेगवदि-कणगमाला विज्जुप्पहा पण्णा॥73॥

1397. जयमदी सुकंता ता, विहिण्ण-सुविज्जाकला-संजुत्ता।
पिदरस्साणाइत्ता, मच्छराइ-दुग्गुण-विहीणा॥74॥ (जुम्मं)

1398. एयदा तम्मि णयरे, अंजणगिरि-करिणा उच्छंखलेण।
उल्लूरिदा हु खंभा, इभपालेण अणियंतिदेण॥75॥

1399. भंजिद-मयससंकलं, अणेगभवणं धंसंतो करीअ।
बहुमाणुससंहारं, आधोरणं अविघादीअय॥76॥(जुम्मं)

1400. तं अइ-विवइं सोढुं, णेव समत्था तदा णयरवासी।
अक्ककित्ती-कुमारो, हत्थि-सम्मुहम्मि णिब्भिच्चो॥77॥

1401. विणा अत्थसत्थेहिं, गयरायो जंतिदो तेण सिग्घं।
तं आरुहिदूणं सो, पहुच्चीअ रायपासादं॥78॥(जुम्मं)

1402. रायपुरिसेहि सह बहुमाणो पहाविद-पभंजणेण।
तक्कालम्मि कुव्विदो, पस्सित्तु ओजंसि-कुमारं॥79॥

1403. अदिसय - पुण्णवंतो य, रायपुत्तो महाकुलीण - सूरो।
दयाखमाइ - संजुदो, विणयइ - णाणागुणपुंजो॥80॥

1404. मम रयणं व पुत्तीण, सुजोग्गो वरो सुहलक्खणजुत्तो।
चिंतीअ पस्सित्तु तं, देवोव्व भासिदं कुमारं॥81॥(जुम्मं)

1405. पाणिगहणसक्कारो, पुण्णाहे सुमुहुत्ते संपण्णो।
तेण सह वसुकण्णाण, णिमित्तणाणि-अणुसारेणं॥82॥

1406. जयदु रायपहंजणो, जयदु सया अक्ककित्ती कुमारो।
गुंजीअ मही गगणं, पयाए जयजयकारेहिं॥83॥

1407. इह देसे महापुरिस-रीदिं पस्सेज्ज परोवयारस्स।
तेण रक्खिदं णयरं, णिवेण दायिदा वसुकण्णा॥84॥

तथा सुसंस्कारवती थी।।72।। उनकी आठ ऋद्धियों के समान आठ बुद्धिमती पुत्रियाँ थीं। उनके नाम इस प्रकार हैं– मदना, कनका, विपुला, वेगवती, कनकमाला, विद्युत्प्रभा, जयमति और सुकांता। वे सभी विभिन्न सुविद्या व कलाओं से युक्त थीं। अपने माता-पिता की आज्ञाकारिणी एवं मात्सर्य आदि दुर्गुणों से रहित थीं।।73-74।। एक दिन उस नगर में अंजनगिरी नामक हाथी उच्छृंखल हो गया। तब उसने खंभों को उखाड़ दिया, लोहे की सांकलों को तोड़ दिया, अनेक भवनों को ध्वस्त करते हुए उसने बहुत नर संहार कर दिया तब महावत भी उसे नियंत्रित न कर सका। उसने महावत को भी मार दिया।।75-76।। उस अति दु:ख को सहने में नगरवासी समर्थ नहीं थे। तभी निर्भीक कुमार अर्ककीर्ति बिना अस्त्र-शस्त्रों के हाथी के सम्मुख पहुँच गया और उसने शीघ्र ही हाथी को अपने वश में कर लिया एवं उस पर आरूढ़ होकर राजमहल पहुँचा।।77-78।। तत्काल ही उस ओजस्वी राजकुमार को देखकर उससे प्रभावित राजा प्रभंजन ने राज-पुरुषों के साथ उसका बहुमान किया।।79।। उस देव के समान प्रतिभासित कुमार को देखकर राजा सोचने लगा–''अहो! यह राजकुमार अतिशय पुण्यवान् है। राजपुत्र, कुलीन व शूरवीर है। दया, क्षमा आदि गुणों से युक्त है, विनय आदि नाना गुणों का पुंज है। शुभ लक्षणों से युक्त है। मेरी रत्न समान पुत्रियों के लिए यह सुयोग्य वर है''।।80-81।। ऐसा विचारकर निमित्तज्ञानी के अनुसार शुभ दिन व शुभ मुहूर्त में उसके साथ आठ कन्याओं का पाणिग्रहण संस्कार संपन्न हुआ।।82।। तब राजा प्रभंजन की जय हो, राजकुमार अर्ककीर्ति की जय हो; इस प्रकार प्रजा के जय-जयकारों से संपूर्ण धरती व आकाश गुंजायमान हो उठा।।83।। इस देश में परोपकार की महापुरुषों की रीति तो देखो। यदि अर्ककीर्ति ने नगर की रक्षा की तो राजा ने अपनी आठ कन्याएँ उसे प्रदान कीं।।84।।

1408. सज्जणाणं सहावो, अयलो सयायाले सव्वखेत्ते।
णेव किदं उवयारं, विम्हरंति सज्जणा कया वि॥85॥

1409. अग्गी जह उण्हत्तं जलं सीयलत्तं पुप्फं गंधं।
सिप्पी मोत्तिअं तहा, रयणायरो देदि रयणं॥86॥

1410. मंदाइणी सलिलं च, धेणू खीरं घिदाइ-पणगव्वं।
महुमच्छिआ महुं गय-मोत्तिअं गयो जलं मेहो॥87॥

1411. मिगो कत्थूरि-मिक्खू, महुरिमं दीवजोदी पयासं हु।
अवगाहण-मायासो रुक्खो पुप्फं फलं छायं॥88॥

1412. अरिहंतो सण्णाणं, साहू आसीवायं सव्वाण।
सज्जणासहावादोकुव्वंतितहहिद-मुवयारं॥89॥(चउक्कं)

1413. किंचण-वासंतंपुण,कुमारोचिट्ठीअणियपियाहि सह।
आणंदेण णेहेण, अइ-आयरेण एयदा पुण॥90॥

1414. सगपिदर-सिमरणादो, वीदसोग-णयरिं अइयंतो सो।
पहुच्चीअ मित्तेणं, सह णियसेट्ठ जम्मणयरिं दु॥91॥

1415. बालोव्व सुह-महुर-चित्ताकस्सग-चेट्ठाहि विम्हावीअ।
सव्वा णयरवासी दु, पुंडरीगणि-सुहणयरीए॥92॥

1416. पुणोविज्जाबलेणं,अइ-विसाल-गठिद-वाहिणिंखणम्मि।
णिम्माणिदूण तेणं, वज्जावाविदा रणभेरी॥93॥

1417. तं भेरिं सुणिदूणं, विमलकित्ती वि आगच्छीअ तत्थ।
णियसुवाहिणीए सह, रोसेणं रज्ज-रक्खाए॥94॥

1418. चक्क-धणु-कुंतादीहि,अत्थसत्थेहि सज्जिदा वाहिणी।
जुज्झुच्छुगा सत्तूण, भयुप्पायगा दु कुमारस्स॥95॥

1419. इभपालेहि सज्जिदं, आरुहिदूणं रोविदत्थं हत्थिं।
एरावदे इंदोव्व, पहुच्चीअ सत्तु-सम्मुहे य॥96॥

सर्वकाल व सर्वक्षेत्र में सज्जनों का स्वभाव अचल होता है। सज्जन अपने प्रति किए गए उपकार को कभी नहीं भूलते।।85।। जिस प्रकार अग्नि ऊष्णता, जलशीतलता, पुष्प गंध, सीप मोती, रत्नाकर रत्न, नदी जल, गाय दुग्ध व घृतादि पंचगव्य देती है, मधुमक्खी शहद, हाथी गजमुक्ता, बादल जल, हरिण कस्तूरी, इक्षु मधुरता, दीपक की ज्योति प्रकाश, आकाश अवगाहन, वृक्ष पुष्प-फल व छाया, अरिहंत सम्यग्ज्ञान, साधु सभी के लिए आशीर्वाद देते हैं उसी प्रकार सज्जन स्वभावतः सभी का हित व उपकार करते हैं।।86-89।। पुनः राजकुमार अर्ककार्ति आनंद, स्नेह व अति आदरपूर्वक अपनी प्रियाओं के साथ कुछ वर्ष तक वहाँ ठहरे।।90।। एक बार उसे अपने पिता का स्मरण हो आया तब वह वीतशोक नगरी से गुजरते हुए अपने मित्र के साथ अपनी श्रेष्ठ जन्म-नगरी अर्थात् पुंडरीकणी नगरी पहुँचा।।91।। उसने पुंडरीकणी नामक शुभ नगरी में अपनी बाल सुलभ शुभ, मधुर, चित्ताकर्षक चेष्टाओं से सभी नगरवासियों को आश्चर्यचकित कर दिया।।92।। पुनः विद्या बल से एक ही क्षण में अति विशाल सुगठित सेना बनाकर उसने युद्ध के लिए भेरी बजवा दी।।93।। उस युद्ध की भेरी को सुनकर अपने राज्य की रक्षा के लिए रोषपूर्वक राजा विमलकीर्ति भी अपनी सेना के साथ आ पहुँचा।।94।। कुमार अर्ककीर्ति की सेना चक्र, धनुष व भाला आदि अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित व युद्ध के लिए उत्सुक थी। वह सेना उस समय शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाली थी।।95।। जिसे महावतों ने सजाया, जिस पर अस्त्र-शस्त्र रख दिए गए थे ऐसे हाथी पर सवार होकर अर्ककीर्ति शत्रु-सेना के सन्मुख पहुँचा। उस समय वह ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे ऐरावत हाथी पर सवार इंद्र।।96।।

1420. मंगलसूयग-सउणा, दक्खिणबाहुफंदणं जलकलसं।
वामे जंबूग-सरो, गदहस्स मिदुसरो तत्थेव॥97॥

1421. उच्छाहजुद-सेणिगा, भारद्दाय-पक्खिणा पदक्खिणा।
इट्ठत्थ-सूयगेहिं, विजयो फुडो अक्ककित्तिस्स॥98॥

1422. विमलकित्ती भासेदि, उच्चसरे पस्सिय लहुवयं तस्स।
मिच्चुणो किं ण विभेसि, रे बालो आगच्छीअ किं॥99॥

1423. अरे दद्दुरो दुट्ठो, केण कारणेण मिच्चुम्मि णिज्झसि।
बालोव्व तुमं जाणिय, मरहेमि तव सव्वदोसा हु॥100॥

1424. ण कंखेमि तव मिच्चुं, केण कारणेण इयरहा भणेज्ज।
सव्वराया मूसगो, घादिदो जुज्झम्मि सीहेण॥101॥

1425. तह विअक्ककित्ती णो, कुप्पीअ सुणित्तु इमाणि वयणाणि।
पसण्णचित्तेण भणदि, खणणंतरे पस्सेज्ज णिवो॥102॥

1426. को मूसगो य सीहो, को विच्छिओ को विसव-णागो वा।
को सायरो तडागं, जुज्झणंतरे हवेज्ज फुडो॥103॥(जुम्मं)

1427. णवरि महापुरिसो णो, दंसदि विक्कमं मेत्तं वयणेहि।
करेज्ज अस्स णिण्णयं, बाहुबलं वर-सत्थविज्जा॥104॥

1428. णयणादो वरिसंतो, अग्गिजालं भासेदि अइ-कुविदो।
णिच्छयेण तव मरणं, भमदे सिरोवरि वायालो!॥105॥

1429. अहो रायसिरोमणी!, किं तए णो सुणिदाणि वयणाइं।
सारविहीणो चणगो, बहुरवं कुव्वेदि पसिद्धो॥106॥

1430. सरिदाए हि पलावो, होदि अहंकारेणं भो राओ।
किण्णु-रयणायरो णो, उल्लंघेदि सगमज्जादं॥107॥

1431. मम हत्थेहिं मरणं, सुणिच्छिदं तव पस्ससु इसु-वरिसं।
इत्थं भासिदूणं हु, छंडीअ बहु-सरा रोसेण॥108॥

युद्ध के लिए जाते समय मंगलसूचक शकुन हुए। उसकी दाँयी भुजा फड़कने लगी, जल से भरे कलश दिखे, बाँई ओर शृगाली शब्द करने लगी और उसी दिशा में गधा कोमल शब्दों में बोलने लगा।।97।। भारद्वाज- खंजरीट पक्षी कहीं से आकर अर्ककीर्ति की परिक्रमा करके चला गया। सभी सैनिक उत्साह से युक्त थे। इन सभी इष्टार्थ सूचकों से अर्ककीर्ति की विजय स्पष्ट हो गई थी।।98।। उधर विमलकीर्ति उस कुमार की लघुवय देखकर उच्च स्वर में कहने लगे-हे बालक! तुम यहाँ क्यों आए हो, क्या तुम्हें मृत्यु से डर नहीं लगता?।।99।। अरे दर्दुर! दुष्ट! किस कारण तुम मृत्यु से स्नेह करते हो। तुम्हें बालक के समान जानकर मैं तुम्हारे सभी दोषों को क्षमा करता हूँ।।100।। मैं तुम्हारी मृत्यु नहीं चाहता अन्यथा सब राजा कहेंगे कि एक सिंह ने युद्ध में किस कारण एक चूहे का वध कर दिया।।101।। इन वचनों को सुनकर भी अर्ककीर्ति क्रोधित नहीं हुआ। वह प्रसन्नचित्त होकर कहता है–हे राजन्! एक क्षण पश्चात् ही देख लेंगे कि कौन चूहा है और कौन शेर, कौन बिच्छु है और कौन विषैला नाग, कौन सागर है और कौन तालाब; युद्ध के बाद सब स्पष्ट हो जाएगा।।102-103।। विशेषता यह है कि महापुरुष अपना पराक्रम मात्र शब्दों से प्रदर्शित नहीं करते। भुजाओं का बल और श्रेष्ठ शस्त्रविद्या ही इसका निर्णय करेगी।।104।। यह सुनकर अति क्रोधित विमलकीर्ति नयनों से अग्नि ज्वाला बरसाते हुए कहता है रे वाचाल! निश्चय से तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे सिर पर मंडरा रही है।।105।। अर्ककीर्ति पुनः कहता है अहो राजशिरोमणि! क्या आपने ये वचन नहीं सुने– ''थोथा चना बाजे घना, यह बात तो प्रसिद्ध है।।106।। हे राजन्! अहंकार के कारण नदी में ही बाढ़ आती है किन्तु समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता।।107।। ''लगता है मेरे हाथों ही तुम्हारा मरण सुनिश्चित है, लो देखो, बाणों की वर्षा।'' इस प्रकार कहकर रोषपूर्वक राजा विमलकीर्ति ने बहुत से बाण छोड़े।।108।।

1432. सगसेट्ठ-धणुविज्जाइ, खंडीअ सव्वबाणा दु मग्गम्मि।
णिव-विमलकित्तिणाबहुविहबाणाछंडिदापुणपुण॥109॥

1433. किण्णुअक्ककित्तिणादु,खंडिदासव्व-बाणाविणयेणं।
एरिसाहि मज्जादा,कुलीण-पुत्तस्स आयंसो॥110॥(जुम्मं)

1434. कुलमज्जादासक्किदि-रक्खगोविणदोमहुरभासगोय।
आणायारी मज्जादिदो धम्मिट्ठो मण्ण-गुणी॥111॥

1435. सयायार-संजुत्तो, णारीउ पडि सम्माणभावजुदो।
हीणोवसणपावादु,णिच्छलोयकुलीण-सुपुत्तो॥112॥(जुम्मं)

1436. तुरंगीणं रहीणं, पदादीणं खलु गजारूढाणं।
समा कच्छा दु जेणं,जस्स सो तं चिय आहवीअ॥113॥

1437. पव्वयादो पडंता, सरिदा व्व तिव्ववेगेणं भिडीअ।
उहयवाहिणी हु तिव्वरोसेण वण्णकूरपसू व्व॥114॥

1438. तुरंगीहिं तुरंगी, गयारूढेहि गयारूढ-छिण्णा।
भिण्णा रहीहिं रहा, हया पदादी पदादीहिं॥115॥

1439. कत्थविपदिद-पदादी,कत्थविभिण्णातुरगादंतीतह।
कत्थ वि भग्गमहरहा, दुस्संचारं रणंगणम्मि॥116॥

1440. कया य धणुटंकारो, कया दु भिंडिमाल-कुंतादीणं।
अइभयंकर-रवेणं,कंपीअचिअसव्वदिसाओ॥117॥

1441. णरमुंडपंतीए, पुढवी हु वहंतरत्तधाराए।
भयुप्पायगाहुतदाअसि-झुणीगुंजीअजुद्धम्मि॥118॥

1442. पस्सिय तं चिंतदि सो,सेणा-हणणं दु णिरत्थगं अत्थ।
कस्स वि णेव हिदत्थं,इदं जुज्झं विणास-हेदू॥119॥

तब अर्ककीर्ति ने अपनी श्रेष्ठ धनुर्विद्या से मार्ग में ही सब बाणों को खंडित कर दिया। राजा विमलकीर्ति ने पुनः पुनः बहुत प्रकार के बाण छोड़े किन्तु कुमार अर्ककीर्ति ने विनयपूर्वक सभी बाणों को खंडित कर दिया। कुलीन पुत्र का आदर्श और उसकी मर्यादा ऐसी ही होती है।।109-110।। कुलीन पुत्र कुल की मर्यादा व संस्कृति का रक्षक, विनम्र, मधुरभाषी, आज्ञाकारी, मर्यादित, धर्मिष्ठ, मान्य, गुणी, सदाचार से युक्त, नारियों के प्रति सम्मानभाव से युक्त, व्यसन व पाप से हीन और निश्छल होता है।।111-112।। उस समय कुछ योद्धा घोड़ों पर सवार थे, कुछ रथों पर, कुछ हाथियों पर। इनके अतिरिक्त पयादे भी थे किन्तु जो जिसके जोड़े का था उसने उसे ललकारा।।113।। दोनों ओर की सेना पर्वत से गिरती हुई नदी के समान तीव्र वेग से एवं वन्य क्रूर पशुओं के समान तीव्र रोष से भिड़ गयीं।।114।। घुड़सवारों के द्वारा घुड़सवार घायल किए गए, गजारोहियों के द्वारा गजारोही घायल किए गए। रथारोहियों के द्वारा रथ तोड़े गए और पदातियों के द्वारा पदाती मारे जाने लगे।।115।। रणांगण में कहीं पयादे पड़े हुए थे कहीं घायल हाथी-घोड़े दिख रहे थे, कहीं टूटे हुए बड़े-बड़े रथों का ढेर लगा हुआ था अतएव वहाँ संचार करना कठिन हो गया था।।116।। कभी धनुष की टंकार से कभी भिंडिमाल व भाले आदि की भयंकर आवाज से सभी दिशाएँ कंपायमान थीं।।117।। युद्ध में तलवार की ध्वनि से आकाश गुंजायमान हो रहा था। तब नरमुंडों की कतार व बहती हुई रक्त की धारा से वह पृथ्वी भय को उत्पन्न कर रही थी।।118।। यह देखकर अर्ककीर्ति विचार करने लगता है कि यहाँ सेना का विनाश निरर्थक है, इससे किसी का भी हित नहीं होगा। अहो! यह युद्ध विनाश का ही हेतु है।।119।।

1443. मुच्छाबाणेण तदा, मुच्छिदा सव्वा हु रायेण विणा।
पच्छा मंद-गदीए, छंडिदो बाणो पिदु-पदेसु॥120॥

1444. णियणामक्खरेहिं दु, अंकिदं विणयेण पणमंतेणं।
तंअवयच्छिदूणंच,अच्चंताणंदिदोजणगो॥121॥(जुम्मं)

1445. अहो इमो पुत्तो मम, बहुवासणंतरे चिय पलोट्टीअ।
सुजोग्गो पुण्णवंतो, परिक्कंतो बुद्धिमंतो य॥122॥

1446. अवरुहियसगरहादो,पहुच्चीअअवरुहंत-पिदु-णियडे।
पणमीअसगपुज्ज-पिदु-चरणेसुंसजल-णयणेहिं॥123॥

1447. आवआसिदो पुत्तो, अइणेहेणं च गव्वभावेणं।
णिण्णिमेस-पस्संतो, भो सुदो! पुण्णवंतो तुमं॥124॥

1448. गंभीरो सुगुणीसुं, विणयो जसवंतो पण्णावंतो।
बहु-सुकला-संजुत्तो,ववहारकुसलोणीदिण्हू॥125॥(जुम्मं)

1449. तुमं मज्झं दु गव्वो, दायित्ता रज्जं तुज्झं अहुणा।
कल्लाण-मग्गम्मि हं,समत्थो कुव्विदुं पविट्टिं॥126॥

1450. मज्झ परमोवयारी, करेज्जा मुत्तो रज्जभारादो।
सगकल्लाणस्स तिव्व-भावणा मणे सुबलवंता॥127॥

1451. जहवितुमंसुजोग्गोहु,बहु-उवएसोणआवसियोतुज्झ।
किंचिविभासेमितहवि,सगकत्तव्वपालणायहं॥128॥

1452. णायणीदीइ पालसु, धम्मं सया रक्खेसु मज्जादं।
सज्जणोइदं पुण्णं, कम्मं करेज्ज उच्छाहेण॥129।

1453. मित्तं व सहायो मादुव्व पालगो य रक्खगो पिदुव्व।
तुमंकयाविकत्तव्व-धम्म-मज्जादाणविम्हरसु॥130॥

1454. इमं रज्जं गहित्ता, देज्ज अणुमदिं विविणं गच्छेदुं।
णिग्गंथ-दिक्खाए दु,सवर-कल्लाणकारगाए॥131॥

तब कुमार ने मूर्च्छा बाण के द्वारा राजा को छोड़कर सभी को मूर्च्छित कर दिया। पश्चात् अपने नामाक्षरों से अंकित एक बाण उसने अपने पिता के चरणों में विनयपूर्वक प्रणाम करते हुए छोड़ा। उस बाण पर अपने पुत्र का नाम देखकर पिता विमलकीर्ति बहुत आनंदित हुए।।120-121।। अहो! यह तो मेरा पुत्र है। बहुत वर्ष बाद यहाँ लौटा है। यह सुयोग्य, पुण्यवान्, पराक्रमी और बुद्धिमान् है।।122।। उधर अर्ककीर्ति अपने रथ से नीचे उतरकर, अपने रथ से नीचे उतरते हुए अपने पिता के समीप पहुँचे एवं अपने पूज्य पिता के चरणों में सजल नयनों से प्रणाम किया।।123।। तब एकटक कुमार को देखते हुए राजा विमलकीर्ति ने अति स्नेह व गर्वभाव से अपने पुत्र का आलिंगन किया। पुनः कहा हे पुत्र! तुम पुण्यवान् हो। गुणों में गंभीर, विनम्र, यशवान्, बुद्धिमान्, बहुत श्रेष्ठ कलाओं से युक्त, व्यवहारकुशल नीतिवान् हो।।124-125।। तुम मेरा गर्व हो, तुम्हें राज्य देकर अब मैं कल्याण मार्ग में प्रवृत्ति करने में समर्थ हो सकूँगा।।126।। तुम मेरे परम उपकारी हो। तुम मुझे राज्यभार से मुक्त करो। मेरे मन में निज कल्याण की तीव्र भावना बलवती हो रही है।।127।। यद्यपि तुम योग्य हो, तुम्हें बहुत उपदेश की आवश्यकता नहीं है तथापि अपने कर्तव्य पालन के लिए मैं कुछ कहता हूँ।।128।। अहो पुत्र! तुम न्याय-नीतिपूर्वक सदैव धर्म का पालन करना, मर्यादा की रक्षा करना तथा उत्साहपूर्वक सज्जनोचित कार्य व पुण्य कार्य करना।।129।। अपनी प्रजा के प्रति मित्र के समान सहायक, माँ के समान पालक व पिता के समान रक्षक होना। तुम कभी भी कर्त्तव्य, धर्म व मर्यादा को नहीं भूलना।।130।। अहो पुत्र! इस राज्य को ग्रहण करके स्वपर कल्याणकारी निर्ग्रन्थ दीक्षा हेतु वन जाने की मुझे अनुमति प्रदान करो।।131।।

1455. अहो भयवदोव्व पिदू!, तए दायिदो सुसक्कारो मज्झ।
पुण्णहीणत्तादु तव, समीवत्तं ण लहिदं मए॥132॥

1456. अहुणा तव णिअडत्तं, लहित्ता वि ण पप्पोदुं समत्थो।
खमिय सव्वावराहं, ठाएज्जा विप्पसीअसु मे॥133॥

1457. णेव चिंतेज्ज इत्थं, अहो सुदो! मम पुण्णुदयो इयाणि।
पुण्णेणविणाणअप्प-हिद-भावणाणोसामच्छं॥134॥

1458. एवंविह बोहिदूण, णियपुत्तस्स दाएज्ज सगरज्जं।
णियकुलपरंपरा वा, वररायाण पालिदा तेण॥135॥

1459. अध सिद्धपदं लहिदुं, गच्छीअ वण-मुज्झित्ता ममत्तं।
चेयणाचेयणंपडि,विरज्जियभव-तण-भोयादो॥136॥

1460. सिरिहर-जोगि-समीवे, पहुच्चित्तु णिवेदीअ हे सामी।
णिग्गंथ-दिक्खंमज्झ,दाएज्जाअणुग्गहिदूणं॥137॥

1461. विहाय उहयसंगं दु, केसलुंचणं कट्टु गुरु-किवाए।
जहाजाद-दियंबरोसगवर-कल्लाण-कारगोदु॥138॥

1462. आदावणाइ-जोगं, धारित्ता दुद्धरं तवं किच्चा।
सुक्कज्झाणबलेणं,घादिकम्माइंघादित्ता॥139॥

1463. होज्जसजोग-केवली,पच्छाखयिदूणअघादिकम्माणि।
अविणस्सर-णिच्चक्खर-अणग्घ-सिद्धपदं पावीअ॥140॥ (जुम्मं)

त्रोटक छंद

1464. भव-मिच्चु-जरादुसयारहिदं,अयलंअणघंअवियारि-सिवं।
तणहीण-ममुत्तिग-मप्परदं,पणमामितहागुण-अट्ठ-जुदं॥141॥

1465. मलकम्मविहीण-मणंतसुहिं,अरसंचअरूव-मगंध-मरुं।
अमरंपरमुत्तम-लद्धगुणं,अहिणंदमिसुद्धविसुद्धपहुं॥142॥

यह सुनकर अर्ककीर्ति कहता है अहो, मेरे लिए भगवान् के समान पिता श्री! आपने मुझे सुसंस्कार प्रदान किए किन्तु पुण्यहीन होने से मैं आपकी समीपता को प्राप्त न कर सका।।132।। अब मैं आपकी निकटता को प्राप्त करके भी प्राप्त करने में समर्थ नहीं हूँ। हे पिता श्री! मेरे सभी अपराधों को क्षमा करके यहाँ ठहरिये। मुझ पर प्रसन्न होइये।।133।। अहो पुत्र! तुम्हें ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। अब मेरे पुण्य का उदय है क्योंकि पुण्य के बिना आत्महित की भावना व उसका सामर्थ्य नहीं होता।।134।। इस प्रकार समझाकर राजा ने अपने पुत्र के लिए राज्य दिया और अपनी कुल परंपरा अथवा श्रेष्ठ राजाओं की परंपरा का पालन किया।।135।। फिर सिद्धपद प्राप्त करने के लिए चेतन व अचेतन सभी के प्रति ममत्व भाव को त्यागकर संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर वन की ओर प्रस्थान किया।।136।। वहाँ श्रीधर योगीराज के समीप पहुँचकर उन्होंने निवेदन किया, हे स्वामी! मुझ पर कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा प्रदान करें।।137।। तब गुरु कृपा से दोनों प्रकार के परिग्रह का परित्याग कर एवं केशलोंच कर वे स्वपर का कल्याण करने वाले यथाजात दिगंबर मुनिराज हो गए।।138।। क्रमशः उन्होंने आतापन आदि योगों को धारण किया, दुर्द्धर तप किया एवं शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों को नष्ट कर सयोग केवली हो गए। पश्चात् अघातिया कर्मों का भी क्षय कर अविनश्वर, नित्य, अक्षर व अनर्घ सिद्ध पद को प्राप्त किया।।139-140।। जन्म, जरा, मृत्यु से सर्वदा रहित, अचल, अनघ, देह से विहीन, अमूर्त्तिक, आत्मा में रत, अष्ट गुणों से युक्त उन अविकारी सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ।।141।। कर्ममल से विहीन, अनंत सुखी, अरस-अरूपी-अगंध व रोग से रहित, मुक्तात्मा, परमोत्तम गुणों को प्राप्त, शुद्ध-विशुद्ध-प्रभु का अभिनंदन करता हूँ।।142।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में राजकुमार अर्ककीर्ति के पुण्य की महिमा एवं राजा विमलकीर्ति को मोक्ष प्राप्ति का वर्णन करने वाला बारहवाँ नंद पूर्ण हुआ।

तेरसम-णंदो

1466. सव्वराणी कोक्किदा, तेण माणेण विहिण्ण-ठाणादो।
णिगाम-उच्छाहेणं, विसिट्ठ महुच्छवेण रज्जे॥1॥

1467. णायेणं सव्वपया, पालिदा पुत्तोव्व दयाभावेण।
सुहकज्जेसु अग्गेण, साहुसेवाए चायगोव्व॥2॥

1468. पडिवस्से महुच्छवं, आणंदस्स विसिट्ठाणं माणं।
णारीण सुसिक्खं पडि, जागरिओ णिवो सो करीअ॥3॥

1469. मज्जाइल्लो विणयो, दयाखमाइ-संजुद-मंती तत्थ।
रज्जे सुहं समिद्धी, पवड्ढीअ सिदे सायरोव्व॥4॥

1470. जे के अवि दुट्ठा संकप्पेण अवरज्झीअ कुभावेहि।
ताणं तस्स रज्जम्मि, समुइदा दंडववत्था चिय॥5॥

1471. पुज्जेसु विणओ जिणे, भत्ती सुगुरूसुं सेवाभावो।
चउविहदाणं दु तत्थ, सक्किदि-सब्भदा-दंसगो य॥6॥

1472. सम-पत्तदत्तीहिं दु, तह अण्णयदत्ति-दयादत्तीहिं।
विणा इमेहि दाणेहि, कस्स वि रज्जं संभवो णो॥7॥

1473. महाजणा उराला दु, पइ-अणुगामिया सुसीला इत्थी।
बाला विगारहीणा, बालगा सुकज्ज-उच्छाही॥8॥

1474. राओ सो जागरिओ, विड्ढीइ सुसिक्खा-सक्काराणं।
पसुणो पडि अविणिच्चं, राओ पया करुणा-जुत्ता॥9॥

1475. पाहण्णेण णिरोगी, पुव्वपुण्णुदयादो सव्वा तत्थ।
वेज्जावच्चेणं तह, सेवाए खयंति रोया दु॥10॥

1476. सुद्धं मज्जाइल्लं, सक्किदि-अणुरूव-भोयणं अदीअ।
सुणिरवज्जोसहीहिं, वेज्जा कुव्वीअ उवयारं॥11॥

1477. ववत्थिद - मज्जाइल्ल - सिट्ठ - वत्थाभूसणाइं धरीअ।
सव्व-णराणारीवा, णअसिट्ठ-अमज्जाइल्लाणि॥12॥

उधर पिता के द्वारा राज्य सौंपे जाने के पश्चात् अर्ककीर्ति ने राज्य में अत्यंत उत्साहपूर्वक विशिष्ट महोत्सव से विभिन्न स्थानों से रानियों को मान-सम्मानपूर्वक बुलाया।।1।। वह दयाभाव से न्यायपूर्वक सर्व प्रजा का पालन पुत्रवत् करने लगा। वह प्यासे चातक पक्षी के समान पुण्यकार्यों व साधु-सेवा में अग्रणीय था।।2।। प्रजा में आनंद के लिए वह प्रतिवर्ष महोत्सव किया करता था, विशिष्ट पुरुषों का मान करता था और वह राजा नारियों की समीचीन शिक्षा के प्रति भी जागरूक था।।3।। वहाँ उस राज्य में मर्यादित, विनयी, दया व क्षमा आदि सुगुणों से युक्त मंत्री थे। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चंद्रमा की वृद्धि से सागर के जल में वृद्धि होती है उसी प्रकार राज्य में सुख-समृद्धि वृद्धिंगत हो रही थी।।4।। जो कोई भी दुष्ट संकल्पपूर्वक, कुभावों से अपराध करते थे उनके लिए उस अर्ककीर्ति के राज्य में समुचित दंडव्यवस्था भी थी।।5।। वहाँ पूज्य पुरुषों में विनय का भाव, जिनेंद्रप्रभु में भक्ति, निर्ग्रन्थ गुरुओं में सेवाभाव एवं चार प्रकार के दान की प्रवृत्ति विद्यमान थी जो वहाँ की संस्कृति व सभ्यता को दर्शाने वाली थी।।6।। वहाँ समदत्ति, पात्रदत्ती, अन्वयदत्ती और दयादत्ती ये चार प्रकार के दान भी थे। इन दानों के बिना किसी भी राजा का राज्य संभव नहीं है।।7।। वहाँ महाजन उदार थे, स्त्रियाँ सुशीला व पति की अनुगामिनी थीं, बालिकाएँ विकारहीन तथा बालक सुकार्यों के लिए उत्साही थे।।8।। समीचीन शिक्षा व संस्कारों के लिए वह राजा जागरूक था। राजा व प्रजा, पशुओं के प्रति नित्य करुणा से युक्त थे।।9।। वहाँ पूर्वकृत-पुण्य के उदय से मुख्यता से सभी निरोगी थे। उचित ही है, वैय्यावृत्ति और सेवा से रोग निश्चय से नष्ट होते हैं।।10।। वहाँ सभी लोग शुद्ध, मर्यादित और संस्कृति के अनुरूप भोजन करते थे। अच्छी, निर्दोष-निर्वद्य औषधियों के द्वारा वैद्य उपचार किया करते थे।।11।। सभी पुरुष व स्त्रियाँ व्यवस्थित, मर्यादित व शिष्ट वस्त्र और आभूषण पहना करते थे। अशिष्ट और अमर्यादित वस्त्र व आभूषण कभी धारण नहीं करते थे।।12।।

1478. जणरंजणत्थं विदूसगो धरीअ विचित्तवेसभूसं।
अस्सिट्ठ-अमज्जाइल्ल-वेसभूसा अहकारगा य॥13॥

1479. अइपावफल-भोयगा, जीवा दुल्लहा दु तम्मि देसम्मि।
पुण्णवंता हि बहुआ, णिच्चं पुण्णकज्जलीणा य॥14॥

1480. चक्कीव रज्जलच्छिं पाविदूणं दिग्घयालंतं पुण।
भवसुहं भुंजंतेण, तेणं कुव्विदं चिय रज्जं॥15॥

1481. पस्सिदा पइडि-सोहा, एयदा अक्ककित्ति-हरिसंतेण।
सुंदर-मेह-णिम्मिद-विसिट्ठ-चित्तं वितेणणहे॥16॥

1482. तदा तस्स सुचित्तं दु, खडिआइ सिरिदुं तप्परो तदा हि।
पावेण पुण्णफलं व, पवणेण पज्जण्ण-विइण्णं॥17॥

1483. तं दिस्सं पस्सित्ता, जागरिओ सो हु मोहणिद्दाए।
पज्जण्णं व खलु सव्व-दिस्समाण-पदत्थ-अणिच्चा॥18॥

1484. तरंगिणीइ वीई व, अथिरं कामिस्स पुण्णवियारोव्व।
देहो धणं जीवणं, इंदधणू व्व ओसबिंदू व्व॥19॥

1485. तेतीस-सायरं चिय, आउं सव्वट्ठसिद्धिवासीणं।
खयदि तं वितो किंणो, भासदि णराउं खणधंसी॥20॥

1486. चक्कीणं विहवो खण-धंसी सग्गविहूदी वि सक्कस्स।
तदा कहं सक्केमि दु, विहवं भुंजिदुं सुइरंतं॥21॥

1487. इत्थीणं सुंदरिमा, जोव्वणं रूव-लावण्णं अथिरं।
घणसारोव्व चियतिव्व-अक्कतावम्मि जलबिंदूव्व॥22॥

लोगों के मनोरंजन के लिए विदूषक विचित्र वेशभूषा धारण करते थे। उचित ही है अशिष्ट व अमर्यादित वेशभूषा पापकारक होती है।।13।। अति पाप का फल भोगने वाले जीव उस देश में दुर्लभ ही थे। बहुलता से वहाँ पुण्यवान् जीव ही थे जो नित्य पुण्यकार्यों में लीन रहते थे।।14।। चक्रवर्ती के समान राज्य रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर दीर्घकाल तक सांसारिक सुखों को भोगते हुए उस राजा अर्ककीर्ति ने राज्य किया।।15।। एक बार अर्ककीर्ति हर्षित होते हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे। उन्होंने आकाश में सुंदर मेघों से निर्मित विशिष्ट चित्र देखा।।16।। तब वह उस चित्र को खड़िया मिट्टी से बनाने के लिए उद्यत हुए ही थे कि हवा से मेघ उसी प्रकार विलीन हो गए जिस प्रकार पाप से पुण्य का फल नष्ट हो जाता है।।17।। उस दृश्य को देखकर वह राजा मोह रूपी निद्रा से जागृत हो गया एवं विचार करने लगा–अहो! इन मेघों के समान संसार के सभी दृश्यमान पदार्थ अनित्य हैं।।18।। अथवा जिस प्रकार नदी की लहरें, कामी व्यक्ति के पुण्यरूप विचार, आकाश में इंद्रधनुष और ओस की बूंद अस्थिर है, नश्वर है उसी प्रकार यह शरीर, धन और जीवन भी अथिर है, नश्वर है।।19।। अरे! जब सर्वार्थसिद्धि विमान में रहने वाले देवों की भी तैंतीस सागर की आयु क्षय को प्राप्त होती है तो मनुष्य की आयु क्षणध्वंसी क्यों प्रतिभासित नहीं होती? अर्थात् मनुष्य की आयु तो सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु के सामने एक पलक झपकने जितने समय में पूर्ण होने वाली है।।20।। चक्रवर्ती का वैभव, सौधर्म इंद्र की स्वर्ग विभूति भी क्षणध्वंसी है, तब इस वैभव को चिरकाल तक मैं कैसे भोग सकता हूँ, अर्थात् नहीं भोग सकता। यह भी नाश को प्राप्त होने वाला है।।21।। जिस प्रकार सूर्य के तीव्र ताप से जल की बूंद शीघ्र नष्ट हो जाती है अथवा कपूर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियों का सौंदर्य, यौवन, रूप व लावण्य भी अस्थिर है, नाश को प्राप्त हो जाता है।।22।।

1488. खयदि देहीण आउं, सिग्घं आयासे मेह-भवणं व।
तिणणिये जलबिंदू व्व, सछिद्द-अंजलीए जलं व॥23॥

1489. अक्कतिव्व-तावेणं, सोसिद-पंकं व सया खणधंसी।
पंचिंदिय-भोया खलु, पव्वदादो पडिद सरिदा व्व॥24॥

490. जिण्णपत्ताणि कया वि, पडेज्ज पवणाघादेण रुक्खादु।
जह तह सरीरं धणं, विहवो जोव्वणं जीवणं च॥25॥

1491. एक्को कुणदि हिंसाइ-पंचपावं च कसाय-भावेहिं।
पंचिंदिय-विसयेसुं, बुड्ढेदि य मूढबुद्धीए॥26॥

1492. एक्को करेदि पुण्णं, सुवद-पालणेणं तित्थजत्ताइ।
जिण-सुद-मुणि-भत्तीए, सज्झाय-सील-जव-तवेहिं॥27॥

1493. एक्को हि मोक्खमग्गे, विसयकसायारंभ हीणत्तादु।
पवज्जिदो णिग्गंथो, वड्ढदि रयणत्तयं गहित्तु॥28॥

1494. पडदि संसार-कूवे, कुदेव-कुगुरु-कुसत्थ-णिमित्तेणं।
धम्मसरूवं जाणिदु-मखमो मिच्छत्तेण एक्को॥29॥

1495. अणसणाइ-बज्झ-तवं, पायच्छित्ताइ-अंतरं किच्चा।
पसत्थज्झाणफलेण, खयेदि मोहणिज्जं एक्को॥30॥

1496. सुक्कज्झाणबलेणं, सक्कदि खयिदुं घादिं अघादिं च।
एक्को होदि केवली, एक्को हि णिरंजणो सिद्धो॥31॥

1497. रयणत्तयेणं विणा, जविदं भवे अणंतयालं मए।
सुद्धप्परूव-महुणा, लहिस्सामि विआणित्ता तं॥32॥

संसारी प्राणियों की आयु शीघ्र वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे आकाश में मेघ का भवन, घास के अग्र भाग पर स्थित जल की बूंद एवं छिद्र सहित अंजलि में जल शीघ्र नष्ट हो जाता है।।23।। सूर्य के तीव्र ताप से अवशोषित कीचड़ के समान अथवा पर्वत से गिरती हुई सरिता के समान पंचेंद्रिय के भोग सदा क्षणध्वंसी हैं।।24।। जिस प्रकार वायु के आघात से जीर्ण-शीर्ण पत्ते वृक्ष से कभी भी टूटकर गिर जाते हैं उसी प्रकार शरीर, धन, वैभव, यौवन और जीवन सब नष्ट हो जाता है।।25।। अकेला जीव ही कषाय भावों से हिंसादि पाँच पापों को करता है। मूढ़ बुद्धि से पंचेन्द्रिय के विषयों में डूबता है, निमग्न होता है।।26।। एक जीव स्वयं ही तीर्थयात्रा, जिनेन्द्रप्रभु-जिनश्रुत व निर्ग्रन्थ गुरुओं की भक्ति, स्वाध्याय, शील, जप, तप और सुव्रतों के पालन से पुण्य करता है।।27।।एक जीव स्वयं ही विषय-कषाय व आरंभ की हीनता होने से निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण करता है, रत्नत्रय को ग्रहण कर स्वयं ही मोक्षमार्ग पर बढ़ता है।।28।। कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के निमित्त से जीव स्वयं ही संसार रूपी कूप में गिरता है। जीव मिथ्यात्व के द्वारा धर्म के स्वरूप को जानने में असमर्थ होता है।।29।।एक जीव स्वयं ही अनशन आदि बाह्य तप और प्रायश्चित्त आदि अंतरंग तप करके प्रशस्त ध्यान के फल से मोहनीय कर्म को नष्ट करता है।।30।। जीव एक अकेला ही शुक्लध्यान के बल से घातिया व अघातिया कर्म को नष्ट करने के लिए समर्थ होता है। वह एक अकेला ही केवली होता है, स्वयं ही निरंजन अर्थात् सब कर्मों से रहित सिद्ध होता है।।31।। पुनः वह चिंतन करने लगा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय के बिना मैंने संसार में अनंत काल बिताया। उसे जानकर मैं अब शुद्धात्मा के स्वरूप को प्राप्त करूंगा।।32।।

1498. भव-सरीर-भोयादो, विरज्जिदूणं रज्जाहिसेगं च।
जसोमदीइ उप्पण्ण-स-जेट्ठपुत्तस्स करावित्तु॥33॥

1499. विमलकित्तिस्स हु तस्स, दाएज्ज तदा सव्वरज्जभारं।
पुत्ते णिवेदणे सो, संबोहदि वच्छलभावेण॥34॥

1500. भो सुदो! संपइणिवो, पया-पालणं करेज्जा पुत्तोव्व।
दयाइभावेणंजं,णिवस्ससंताणोव्वपयादु॥35॥(तिअं)

1501. धरेज्ज खमाभावं दु, कया वि अण्णायं पडि णेव णदो।
सचेदो हु अंत-बज्झ-सत्तूदो सुकज्जेसु रदो॥36॥

1502. सच्च-णाय-णीदी कुल-रीदी सुसक्किदी मज्जादा तइ।
रक्खिदव्वा अमज्जाइल्ल-णिवो विकिंकरो होदि॥37॥

1503. कया वि णो विम्हरेज्ज, धम्मं जिणं सुदं णिग्गंथगुरुं।
ते दु सासय-कल्लाण-हेदू हिद-कारगा जम्हा॥38॥

1504. कत्तव्वं विम्हरित्तु, णेव दुरुवओगं अहियाराणं।
करेज्ज विरत्तीए दु, रज्जसंचालणं सुपुत्तो॥39॥

1505. अंते समाहिमरणं, णियकुलरीदि-अणुसारेणं तुमं।
गहिदूणं जिणदिक्खं, करंतो बहुजोगतवाइं॥40॥

1506. गच्छीअ अक्ककित्ती, अध कंतारे खमिदूणं सव्वा।
खमाभावधारंतो, सीलगुत्त-मुणिराय-णियडे॥41॥

1507. पदक्खिणित्ता पुण पुण, पणमंतो थुदिं कुव्वीअ इत्थं।
अहो आणंदमुत्ती! अणंताणंद-हेदू तुमं॥42॥

1508. संसार-विरत्तीए, परम-कारणं दु अहो णिग्गंथो।
कसाओ उवसमदि तव, दंसणेण णिम्मलं चित्तं॥43॥

1509. भो रयणत्तयपुंजो! मोक्खमग्गस्स पहाण-कारणं दु।
पावक्खयस्स धम्म-पवट्टगो जंगम-तित्थं च॥44॥

ऐसा विचारकर राजा अर्ककीर्ति ने संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर अपनी यशोमती रानी से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र विमलकीर्ति का राज्याभिषेक कराकर उसे संपूर्ण राज्यभार सौंप दिया। तब पुत्र के निवेदन करने पर अर्ककीर्ति वात्सल्य भाव से पुत्र को संबोधित करते हुए कहते हैं—हे पुत्र! हे वर्तमान के राजा! दया भाव से सदैव पुत्रवत् प्रजा का पालन करना क्योंकि राजा के लिए प्रजा सदैव संतान के समान होती है।।33-35।। सदैव क्षमा भाव धारण करना। कभी भी अन्याय के प्रति नहीं झुकना। अंतर-बाह्य शत्रुओं से सावधान रहना और सुकार्यों में रत रहना।।36।। सत्य, न्याय, नीति, कुल, रीति, सुसंस्कृति और मर्यादा की रक्षा करना क्योंकि मर्यादाविहीन राजा किंकर (सेवक) के समान होता है।।37।। जिनधर्म, जिनेन्द्रप्रभु, जिनागम और निर्ग्रन्थ गुरुओं को कभी भी विस्मृत नहीं करना क्योंकि वे ही हितकारक हैं और कल्याण के शाश्वत हेतु हैं।।38।। हे सुपुत्र! कर्त्तव्यों को भूलकर अधिकारों का दुरुपयोग कभी नहीं करना। इस राज्य का संचालन विरक्तिपूर्वक करना।।39।। अंत में अपनी कुल-रीति के अनुसार जिनदीक्षा को ग्रहण कर बहुत योग व तपादि करते हुए समाधिमरण करना।।40।। फिर अर्ककीर्ति सभी से क्षमा माँगकर एवं क्षमा-भाव को धारण करते हुए वन में श्री शीलगुप्त मुनिराज के निकट गए।।41।। वहाँ मुनिराज को प्रणाम करते हुए उनकी परिक्रमा कर अर्ककीर्ति इस प्रकार स्तुति करने लगे—अहो, आनंदमूर्ति! आप अनंत आनंद के हेतु हैं।।42।। अहो निर्ग्रन्थ गुरुवर! आप संसार से विरक्ति का परम कारण हैं। आपके दर्शन से चित्त निर्मल होता है व कषाय उपशमित होती हैं।।43।। हे रत्नत्रय के पुंज! आप मोक्षमार्ग के प्रधान कारण हैं, पाप क्षय के मुख्य हेतु हैं, धर्म को प्रवर्तन करने वाले एवं चलते-फिरते तीर्थ हैं।।44।।

1510. तए विणा णेव को वि, समत्थो मम कल्लाणं करेदुं।
अहो गुणुदही! थुवेमि, अंचमि वंदमि पुज्जेमि तं।।45।।

1511. अहो करुणासायरो!, जहाजाद-दियंबरो णिग्गंथो।
उक्किट्ठो वेरागी, हिदत्थं देज्ज दिक्खं मज्झ।।46।।

1512. जह अइसंतत्तमहिं, पस्सिय पज्जण्ण-किवादिट्ठीए।
अमियंव जलंवरिसदि, भूमीहरिद-तुट्ठ-समिद्धा।।47।।

1513. तह सीलगुत्तमुणिणा, करुणापूरिद-चित्तेण जाणित्तु।
सगणिम्मलणाणेणं, तस्स आसण्ण-भव्वत्तं दु।।48।।

1514. दायिदो सुसक्कारो, अहिंसा-सच्च-अचोरिय-वदाणं।
बंभचेर-असंगाण, मोक्खत्थं अप्प-सुद्धीए।।49।।(तिअं)

1515. इरिया भासेसणा य, आदाणणिक्खेवणं उस्सग्गो।
पमादचाग-हेदू य, सेट्ठ पवित्ति-समिदी भणिदा।।50।।

1516. मणवयणकायाणं च, असुहपवट्टीए दु णिवट्टीए।
तियगुत्ति-सक्कारो दु, दायिदो णिरुंभिदुं अक्खं।।51।।

1517. पंचक्खजयस्स सडावस्सगाण सत्तविसेसगुणाणं।
दाएज्जा सक्कारं, अट्ठवीस-मूलगुणाणं च।।52।।

1518. तेहिं सह दु चउवीस-उत्तरगुणसक्कारं पि दाएज्ज।
बावीस-परीसहजय-बेदहतवाण विहिं खयिदुं।।53।।

1519. पालेज्ज मुणिवरो चउरासी-लक्ख-उत्तरोत्तरगुणा दु।
सत्तीए अट्ठारस - सहस्स - भेया सय सीलस्स।।54।।

1520. करीअ उग्गुग्ग-घोर-तवं णिग्गंथो चिय विसुद्धीए।
आदावणाइजोगा, धारीअ दु जहासत्तीए।।55।।

1521. सेलोव्व कम्मभारो, हस्सीअ दु णाणज्झाण-तवेहिं।
धारीअ सल्लेहणं, एगमासाउम्मि सेसम्मि।।56।।

आपके बिना मेरा कल्याण करने में कोई भी समर्थ नहीं है, अहो! गुणों के सागर! मैं आपकी स्तुति करता हूँ, अर्चना करता हूँ, वंदना करता हूँ और पूजन करता हूँ।।45।। अहो करुणा सागर मुनिराज! यथाजात निर्ग्रन्थ दिगंबर गुरुदेव! उत्कृष्ट वैरागी! मेरे हित के लिए मुझे दीक्षा प्रदान करें।।46।। जिस प्रकार अति संतप्त धरती को देखकर बादलों की कृपादृष्टि से अमृत के समान जल बरसता है जिससे भूमि हरित, संतुष्ट व समृद्ध हो जाती है उसी प्रकार श्री शीलगुप्त मुनिराज ने करुणा से परिपूरित चित्त से अपने निर्मल ज्ञान से उस अर्ककीर्ति का आसन्न भव्यत्व जानकर मोक्ष के लिए, आत्म शुद्धि के हेतु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों के श्रेष्ठ संस्कार प्रदान किए।।47-49।। प्रमाद त्याग की कारणभूत ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण व उत्सर्ग ये पाँच श्रेष्ठ प्रवृत्ति, समिति कही गई हैं।।50।। मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति के लिए एवं इंद्रिय निग्रह के लिए उन्हें तीन गुप्ति के संस्कार भी प्रदान किए।।51।। पाँच इंद्रियजय, षडावश्यक और सात विशेष गुण इस प्रकार कुल अट्ठाईस मूलगुणों के संस्कार प्रदान किए।।52।। उनके साथ कर्मक्षय के लिए उन्हें बाईस परीषहजय और बारह तप रूप चौंतीस उत्तर- गुणों के संस्कार भी दिए।।53।। वे अर्ककीर्ति मुनिराज शक्ति के अनुसार नित्य चौरासी लाख उत्तरोत्तर गुण और शील के अट्ठारह हजार भेदों का भी पालन करने लगे।।54।। वे मुनिराज विशुद्धिपूर्वक उग्रोग्र घोर तप करने लगे। वे यथाशक्ति आतापन आदि योगों को भी धारण करते थे।।55।। ज्ञान, ध्यान व तप के माध्यम से पर्वत के समान कर्म के भार को उन्होंने कम कर दिया। फिर एक मास की आयु शेष रहने पर उन्होंने सल्लेखना व्रत धारण किया।।56।।

1522. पुणो इंगिणीमरणं, किच्चा समत्त-विसुद्धभावेहिं।
परमेट्ठी-सिमरंतो, अरिहं सिद्धं च झायंतो॥57॥

1523. सोलसमच्चुदसग्गे, महड्ढिअ-देवो विहव-संजुत्तो।
बावीस-सायर-आउ-जुत्तो बावीस-पक्खेसुं॥58॥

1524. एगवारं दु गहीअ, उत्तमवग्गणाजुदं उस्सासं।
आणपाणकिरियाए,देवाणंसहजपविट्टीदु॥59॥(तिअं)

1525. अमियाहारं दु एग-वारं बावीस - सहस्स - वासेसु।
छव्विह-आहारेसुं, देवाणं माणसाहारो॥60॥

1526. बहुइड्ढिसंजुदो वर-वेगुव्विय-देह-जुद-पुण्णवंतो।
सुक्कलेस्साइ सहिदो, भुंजीअ उत्तम-भोयाइं॥61॥

1527. तवेणं लोगिग-सिद्धी पारलोगिग-सिद्धी अवि तवेणं।
अणिमाइ-इड्ढीओ वि,तवेणं चउसट्ठि-इड्ढी वि॥62॥

1528. तवेणं होदि जीवो, सुरिंदो णरिंदो अहमिंदो वा।
चक्की हली य कामो, तित्थयरो केवली सिद्धो॥63॥

1529. पुण्णोदयेणं विणा, असक्क-सम्मत्तणाणचरियाइं।
तेण विणा भव-सरीर-भोयादो दु विरत्ती णेव॥64॥

1530. पुण्णेणं विणा णेव, मूलुत्तरगुणपालण-णिद्दोसं।
वीयंविणारुक्खोव्व,णअक्खजयोअप्पणुभूदी॥65॥

1531. उक्किट्ठपुण्णफलेण, भववरसोक्खं परमुक्किट्ठेणं।
सूरि - पाढग - साहूण, वंदणीयपदं पाउणेदि॥66॥

1532. सव्वुक्किट्ठेण भवी, लहदे अरिहपदं णिस्संदेहो।
गच्छमाण - पुण्णं तं, दाएज्ज वरणिव्वाणपदं॥67॥

पुनः समत्व परिणामों से व विशुद्ध भावों से परमेष्ठी का स्मरण करते हुए अरिहंत व सिद्ध प्रभु का ध्यान करते हुए इंगिनी मरण किया।।57।। मरण को प्राप्त कर वे सोलहवें स्वर्ग में वैभव से संयुक्त महर्द्धिक देव हुए। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर की थी। वह देव बाईस पक्षों अर्थात् ग्यारह माह में एक बार आनप्राण क्रिया के माध्यम से उत्तम वर्गणाओं से युक्त श्वाँस ग्रहण करते थे। यह देवों की सहज प्रवृत्ति होती है।।58-59।। बाईस हजार वर्षों में एक बार वह देव अमृत का आहार करते थे। ओजाहार, मानसिकाहार, लेपाहार, कवलाहार, कर्माहार व नोकर्माहार ये छह प्रकार के आहार कहे गए हैं। इन छः प्रकार के आहारों में देवों का मानसिक आहार होता है।।60।। वह देव बहुत-सी ऋद्धियों से युक्त था, उत्कृष्ट वैक्रियक शरीर से युक्त पुण्यवान् व शुक्ल लेश्या से सहित था। वह देव वहाँ उत्तम भोगों को भोगने लगा।।61।। उचित ही है तप से लौकिक सिद्धि होती है, तप से ही पारलौकिक सिद्धि होती है। तप से ही अणिमा आदि ऋद्धियाँ होती हैं और तप से चौंसठ ऋद्धियाँ होती हैं।।62।। तप से जीव सुरेंद्र, नरेंद्र अथवा अहमिन्द्र होता है, तप से ही जीव चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेव, तीर्थंकर, केवली और सिद्ध होता है।।63।। पुण्य के उदय के बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अशक्य हैं। उस पुण्योदय के बिना संसार-शरीर व भोगों से विरक्ति भी नहीं होती।।64।। जैसे बीज के बिना वृक्ष नहीं होता वैसे पुण्य के बिना मूलगुण व उत्तरगुणों का निर्दोष पालन भी नहीं होता। न इंद्रियों पर विजय होती है और न ही आत्मानुभूति होती है।।65।। उत्कृष्टपुण्य के फलस्वरूप जीव संसार के उत्कृष्ट सुखों को प्राप्त करता है एवं परमोत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप जीव आचार्य, उपाध्याय व साधु के वंदनीय पद को प्राप्त करता है।।66।। सर्वोत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप भव्य जीव निःसंदेह अरिहंत पद को प्राप्त करता है तथा वह पुण्य जब जाता है तो उत्कृष्ट निर्वाण पद को देकर जाता है।।67।।

1533. अहो! भव्वुल्लो सया, करेज्ज सुहकज्जाइं सत्तीए।
मंदकसायं किच्चा, अहमुज्झिय विरत्तिभावेण॥68॥

1534. जिणपूयं तिक्काले, सव्वदा चउविह-संघसम्माणं।
सुदब्भासं करेज्जा, थिरचित्तेणं सुद्धभावेहि॥69॥

1535. सिरिणिग्गंथ - गुरूणं, पगवंदणं तहा वेज्जावच्चं।
करेज्ज चउविहदाणं, तित्थजत्तं सुपहावणं च॥70॥

1536. जिणबिंब-जिणालयाण,सुद-पगासणस्सतित्थजत्ताए।
णायज्जिद-धणंदेज्ज,जिणसासण-पहावणाएय॥71॥

1537. पालेज्जा सीलवदं, उववासं सत्तीए पव्वेसुं।
करेज्ज महाविवेगी, पाव - मुज्झित्ता सय पुण्णं॥72॥

1538. ताइ पूदिगंधाए, जीवो रोहिणीवद - पहावेणं।
अच्चुदसग्गम्मि अस्स, देवस्स पिया महादेवी॥73॥

1539. पुण घाडिदूणं तादु, हत्थिणायपुरम्मि वीदसोगस्स।
विज्जुदपहा-राणीइ, तुमं जोग्गपुत्तो असोगो॥74॥

1540. भो णरपुंगवो पस्स, विचित्तवत्थं संसारि-जीवाण।
कम्मबलेणं अणादि-यालादु परिभमंति दुहेण॥75॥

1541. सग्गे जा पिया तव, चयिय अंगस्स चंपाणयरीए।
मघवा-णिवस्सविसुद्ध-कुलेसिरिमदि-राणीएसा॥76॥

1542. सुरूववंत-रोहिणी, अहुणा तव अइपुण्णवंत-राणी।
एवंविह पुव्वभवा, भासिदा ओहिणाणि-मुणिणा॥77॥(जुम्मं)

1543. सुणिच्चु सगपुव्वभवा, किदण्हुभावपूरिदा भव्वा ते।
उट्ठिय सगासणादो, पणमीअ वंदीअ पुण पुण हु॥78॥

अहो भव्यजीव! विरक्त भाव से कषायों को मंद करके, पापों को त्यागकर सदैव शक्तिपूर्वक शुभ कार्य करो।।68।। स्थिर चित्त से व शुद्ध भावों से त्रिकाल में जिनपूजा, नित्य चतुर्विध संघ का सम्मान व श्रुत का अभ्यास करो।।69।। श्री निर्ग्रन्थ गुरुओं का पगवंदन, उनकी वैय्यावृत्ति, चार प्रकार का दान, तीर्थयात्रा व जिनशासन की प्रभावना करो।।70।। जिनबिंब, जिनमंदिर, श्रुत के प्रकाशन, तीर्थयात्रा और जिनशासन की प्रभावना के लिए अपने द्वारा न्यायार्जित धन देना चाहिए।।71।। शीलव्रत का पालन करना चाहिए, पर्वों में शक्तिपूर्वक उपवास करना चाहिए। महाविवेकी जनों को पापों को त्यागकर सदैव पुण्य करना चाहिए।।72।। उस पूतीगंधा का जीव रोहिणी व्रत के प्रभाव से अच्युत स्वर्ग में उस देव की प्रिय महादेवी हुई।।73।। और वह पूतीगंध का जीव वहाँ अच्युत स्वर्ग से च्युत होकर राजा वीतशोक और रानी विद्युत्प्रभा के तुम अशोक नामक योग्य पुत्र हुए हो।।74।। भो नरपुंगव! संसारी जीवों की इस विचित्र अवस्था को देखो। ये जीव अनादिकाल से कर्म के बल से दु:खपूर्वक संसार में परिभ्रमण कर रहा है।।75।। स्वर्ग में जो आपकी प्रिया थी वह वहाँ से च्युत होकर अंगदेश की चंपानगरी में विशुद्ध कुल में राजा मघवा व रानी श्रीमती की अतिरूपवती रोहिणी नामक पुत्री हुई। अब वह तुम्हारी अतिपुण्यवती रानी है। इस प्रकार उन अवधिज्ञानी मुनिराज ने अशोक व रोहिणी के पूर्व भवों को कहा।।76-77।। अपने पूर्वभवों को सुनकर वे भव्य जीव मुनिराज के प्रति कृतज्ञ भाव से भर गए। वे अपने आसन से खड़े होकर मुनिराज को पुन:-पुन: प्रणाम करने लगे, वंदन करने लगे।।78।।

1544. धण्णं रोहिणीवदं, धण्णं जिणसासणं हंदि जेणं।
लहिदा वरपज्जाया, अम्हेहि दुग्गंध-देहीहि॥79॥

1545. अमियं व रोहिणिवदं, जे के वि पालंति पुण्ण-सद्धाइ।
मिदोव्व भव्वुल्ला ते, लहंति णिच्च-णिव्वाणपदं॥80॥

1546. जो को अवि भव्वुल्लो, सम्मत्ताइ-धम्म-रहिदा भणिदा।
मिदोव्व तेहि गुणजुदा, विवरीया दु जिणसासणम्मि॥81॥

1547. जावइय-तिव्वभत्ती, रोहिणीवदपालणम्मि सद्धा य।
तावइय-सिग्घंलहदि, कम्मक्खयियवर-णिव्वाणं॥82॥

1548. जाव ण लहदे मोक्खं, ताव भुंजदि वर-णरिंदाइ-पदं।
सम्मत्तेण सह भवी, थोग-भवेसुं च मोक्खपदं॥83॥

शार्दूल विक्रीड़ित छंद

1549. सद्धाए वदपालणेण सददं पत्ताइ-दाणेण वा,
भत्तीए जिणदंसणेण मणसा पूयाइ जावेण वा।
सज्झायाइ-किदेहि पाविय णरो धण्णं धणं वेहवं,
इंदादीणपुणोलहेदि णियमाणिव्वाणसोक्खंअहो!॥84॥

रथोद्धता छंद

1550. पुण्णपाव-उदयादु सव्वदा, उण्णदिं अवणदिं च पावदे।
णोवयारि-अवयारगोजणो, मारुदेण लहरीव वासरे॥85॥

1551. णिंदणीय-दुरिदं ण सव्वदा, संसदीदु जदि मुत्तिकारणं।
सव्वदाणहि पसंस-सुक्किदं, दुग्गदीइ जदि होज्जकारणं॥86॥

वे कहते हैं धन्य है रोहिणी व्रत, धन्य है जिनशासन, जिसके द्व ारा हम दुर्गन्ध शरीरियों ने उत्कृष्ट पर्याय को प्राप्त किया।।79।। जो कोई मृत के समान भी भव्यजीव अमृत के समान रोहिणी व्रत का पूर्ण श्रद्धा से पालन करते हैं वे शाश्वत निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।।80।। जो कोई भी भव्य जीव सम्यक्त्व आदि धर्म से रहित हैं वे जिनशासन में मृत के समान कहे गए हैं और जो उन सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त हैं वे विपरीत अर्थात् जीवंत हैं।।81।। रोहिणी व्रत के पालन में जितनी तीव्र भक्ति और श्रद्धा होती है वह भव्य जीव उतनी ही शीघ्र कर्मों का क्षय कर उत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त करता है।।82।। रोहिणी व्रत को पालन करने वाला भव्य जीव जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता तब तक उत्कृष्ट राजा आदि के पदों को भोगता है। सम्यक्त्व के साथ वह भव्य जीव स्तोक भवों में मोक्षपद प्राप्त करता है।।83।। निरंतर श्रद्धापूर्वक व्रत पालन करने से, पात्र आदि दान से, भक्तिपूर्वक जिनदर्शन से, मनोयोगपूर्वक पूजा करने, जाप व स्वाध्याय आदि कृत्यों को करने से मनुष्य; इंद्र आदिकों के धन-धान्य व ऐश्वर्य को प्राप्त करके अहो! नियम से निर्वाण सुख प्राप्त करता है।।84।। जिस प्रकार हवा से जलाशय में लहरें उठती-गिरती हैं उसी प्रकार संसारी प्राणी सदा पुण्य व पाप से उन्नति व अवनति की अवस्था को प्राप्त करता है। यथार्थ में इस जीव का न कोई उपकारी है और न कोई अपकारी।।85।। अहो! जीवन में पाप भी सर्वदा निंदनीय नहीं है यदि वह संसार से मुक्ति का कारण हो तो तथा पुण्य भी सर्वदा प्रशंसनीय नहीं है यदि वह दुर्गति का कारण हो तो।।86।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में अर्ककीर्ति (अशोक का पूर्वभव) का राज्य संचालन, दीक्षा, समाधि, अच्युतस्वर्ग में देव व अशोक बनने तक का वर्णन करने वाला तेरहवाँ नंद पूर्ण हुआ।

चउद्दसम-णंदो

1552. पच्छा असोगराओ, मुणिचरणेसुं पुण पुण वंदित्ता।
पुच्छदि णिय-पुत्ताणं, पुव्वभवा हु अइविणयेणं।।1।।

1553. अहो राओ असोगो, भणेमि तव पुण्णवंत-पुत्ताणं।
पुव्वभवा चेइदूण, सुणह जाणिदुं भव-सरूवं।।2।।

1554. जंबुदीवस्स भरदे, सूरसेणत्थ-उत्तर-महुराए।
सिरिहर-णिवोपसिद्धो,णायपियोविक्कंत-धीरो।।3।।

1555. तस्सहिअय-वल्लहादु,चित्तवासियाउहयकुलपवित्ता।
विमला महाराणी य, धम्मवच्छला सुगुणपुंजा।।4।।

1556. ताण अणुवम-सुंदरी, सुसक्कार-संजुदा पुण्णवंता।
कमला सुजोग्गपुत्ती, बुद्धिमंता सुकला-णिउणा।।5।।

1557. तस्स रायस्स रज्जे, दरिद्द-कुलुप्पण्णो अग्गभोजी।
विप्पोदुअग्गिसम्मा,तस्सणयणवासियातिलगा।।6।।

1558. ताए सह भुंजंतो, अणुवमसोक्खं होज्ज सत्तपुत्ता।
अग्गिभूदि - सिरिभूदी, वाउभूदी - विसाहभूदी।।7।।

1559. विस्सभूदि - महाभूदि - सुभूदी णिगामपिया गुणवंता।
सत्थेसुंदुविअड्ढा,अच्चंत-दरिद्दा भद्दाय।।8।।(जुम्मं)

1560. अहिंसाधम्मजुत्ता,अणेग-सुविज्जा-कला-धारगा य।
णिउणा धम्मकिरियासु,आणाइत्तापिदर-गुरूणा।।9।।

1561. पहुच्चीअ इगदिवसे, पाडलिपुत्तणयरं विप्पपुत्ता।
तस्स देसस्स विहवं, परमाणंदिदा पस्सित्ता।।10।।

1562. तस्स देसस्स रायो, सुपदिट्ठिदो सुणायणीदिणिउणो।
पयावच्छलो सूरो, सच्चवायणे सुप्पसिद्धो।।11।।

इसके पश्चात् राजा अशोक मुनिराज के चरणों में पुनः पुनः वंदन करके अतिविनय भाव से अपने पुत्रों के पूर्वभव पूछने लगा।।1।। तब मुनिराज कहते हैं अहो राजा अशोक! मैं आपके पुण्यवान् पुत्रों के पूर्वभवों को कहता हूँ; संसार के स्वरूप को जानने के लिए सावधान होकर सुनो।।2।। इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में शूरसेन देश में उत्तर मथुरा नगरी है। जहाँ श्रीधर राजा था जो प्रसिद्ध, न्यायप्रिय, विक्रमी और धीर था।।3।। उस राजा की हृदयवल्लभा, चित्तवासिनी, दोनों कुलों को पवित्र करने वाली विमला नामक महारानी थी जो धर्मवत्सला व सुगुणों की पुंज थी।।4।। उनके कमला नामक सुयोग्य पुत्री थी जो अनुपम सुंदरी, सुसंस्कार से युक्त, पुण्यवती, बुद्धिमती व सुकलाओं में निपुण थी।।5।। उस राजा के राज्य में दरिद्र कुल में उत्पन्न अग्निशर्मा नामक एक अग्रभोजी ब्राह्मण था। उसकी नयनवासिनी पत्नी तिलका थी।।6।। उसके साथ अनुपम सुख को भोगते हुए उनके सात पुत्र हुए। उनके नाम इस प्रकार थे–अग्निभूति, श्रीभूति, वायुभूति, विशाखभूति, विश्वभूति, महाभूति और सुभूति। वे सभी अत्यंत प्रिय, गुणवान्, शास्त्रों में निपुण, बहुत दरिद्र और भद्र परिणामी थे।।7-8।। वे अहिंसा धर्म से युक्त, अनेक समीचीन विद्या व कलाओं के धारक, धर्म क्रियाओं में निपुण एवं माता-पिता व गुरुओं की आज्ञा का पालन करने वाले थे।।9।।एक दिन वे ब्राह्मण पुत्र पाटलिपुत्र नगर में पहुँचे। उस देश के वैभव को देखकर वे परम आनंदित हुए।।10।। उस देश के राजा सुप्रतिष्ठित थे जो न्याय-नीति में निपुण, प्रजावत्सल, शूर और सत्यवादिता में प्रसिद्ध थे।।11।।

1563. तस्स परमपीदिजुदा, सरूवा राणी चिय सीलवंता।
धरदीव खमाजुत्ता, पावभीरू पयावच्छला॥12॥

1564. पंचिंदिय-भोयाइं, भुंजीअ सुरोव्व दिग्घयालंतं।
गच्छमाण-बहुयालं, णेव जाणीअ पुण्णवंता॥13॥

1565. ताणं सुपुण्णवंतो, सीहत्थो सुजोग्गायंस-पुत्तो।
सीहोव्व परिक्कंतो, पिदरोव्व बहुगुणसंजुत्तो॥14॥

1566. अण्ण-देसस्सराओ,विसोगोसोग-रहिदोकिवालूय।
धम्मज्झाणम्मि रदो, सुहणीदिरीदिसुं विअड्ढो॥15॥

1567. पसण्णचित्तो सुपुण्ण-कज्जेसु रदो सुकत्तव्वणिट्ठो।
सुगुरुवयणंसुणेदुं,तिसाउर-चायगोव्वसयाहि॥16॥

1568. तित्थवंदणाइतस्स,विउसिद-चित्तंअक्केणपउमंव।
सुक्कपक्ख-चंदेणं, संवड्ढिद-सायर-णीरं व॥17॥

1569. पुप्फपुंजमज्झे अवि,वत्थाणि सुगंधिदाणि पुरिसाणं।
लहित्तु पुण्णवंताण, संगदिं होज्ज पुण्णवंता॥18॥

1570. अस्सरायस्सदुचित्त-विगासियारूवसिरीपिय-राणी।
आणंदिद-मणोहरा,गुणाणुरागियातहपदिस्स॥19॥

1571. सगसामिस्स वा पाण-णाहस्स समत्थणिमित्तं राणी।
संतुट्ठि-सोक्खाणंद-संति-इच्चादीणंणिच्चं॥20॥

1572. ताण अइरूववंता, सीलवंता सुसक्कारजुत्ता य।
पुत्तीकमललोयणा,विणीदायकमलाकमलाव॥21॥

1573. सगपिदरस्सहुआणा-कारियासुहगाणयणतारिगाय।
मादूए विसेसेण, अइपिया देहम्मि पाणोव्व॥22॥

उसकी परमप्रीति से युक्त स्वरूपा नाम की रानी थी जो शीलवती, पृथ्वी के समान क्षमा से युक्त, पापभीरू और प्रजावत्सला थी।।12।। दीर्घकाल तक देव के समान उन्होंने पंचेन्द्रिय भोगों को भोगा। उन पुण्यवानों को बीता बहुत काल ज्ञात ही नहीं हुआ।।13।। उनके सिंहस्थ नामक पुण्यवान्, सुयोग्य व आदर्श पुत्र था जो सिंह के समान पराक्रमी एवं अपने माता-पिता के समान बहुत गुणों से युक्त था।।14।। उसी समय एक अन्य देश का विशोक नामक राजा था जो शोक रहित, कृपालु, धर्मध्यान में रत एवं समीचीन नीति व रीतियों में कुशल था।।15।। वह राजा सदैव प्रसन्नचित्त, पुण्य कार्यों में रत, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा गुरुओं के वचन सुनने के लिए चातक के समान तृषातुर था।।16।। तीर्थों की वंदना कर उसका चित्त उस प्रकार विकसित होता था जिस प्रकार सूर्य से कमल विकसित होते हैं अथवा शुक्ल पक्ष में चंद्रमा से समुद्र का जल वृद्धिंगत होता है।।17।। जिस प्रकार पुष्पों के ढेर के मध्य रखे पुरुषों के वस्त्र भी सुगंधित हो जाते हैं उसी प्रकार पुण्यवानों की संगति प्राप्त कर नर सुपुण्यवान् हो जाते हैं।।18।। इस राजा की रूपश्री नामक प्रिय रानी थी जो उसके चित्त का विकास करने वाली, आनंदिता, मनोहरा एवं अपने पति के गुणों में अनुराग करने वाली थी।।19।। वह रानी नित्य अपने स्वामी या प्राणनाथ की संतुष्टि, सुख, आनंद व शांति इत्यादि का समर्थ निमित्त थी।।20।। उनकी कमललोचना, कमला अर्थात् लक्ष्मी के समान कमला नामक पुत्री थी जो विनयी, अतिरूपवती, शीलवती और सुसंस्कारों से युक्त थी।।21।। वह अपने माता-पिता की आज्ञाकारिणी, उनकी नयनों की तारिका व सुभगा थी। जिस प्रकार व्यक्ति के देह में प्राण अत्यंत प्रिय होते हैं उसी प्रकार वह कमला विशेष रूप से अपनी माँ के लिए अति प्रिय थी।।22।।

1574. कस्सपिदरस्सणहोदि,अच्चंत-पियासुजोग्गापुत्तीदु।
जोगीणं संजमोव्व किसीवलस्स सेट्ठसस्सं व॥23॥

1575. तिरियावाणिज्झंते,सग-सिसूसुचियवच्छलभावेणं।
संताणं रक्खेदुं, पाणं देदुं वि तप्परा हु॥24॥

1576. मादूए अइपियो वि, कुरूव-वियलंग-मूढ-संताणो।
तदाअइ-पुण्णवंतो,संताणोकिंणहोज्जपियो?॥25॥

1577. कंखदि पुण्णवंतस्स, संगदिं मिदुभासणं ववहारं।
पत्तेयं जीवो सय, तस्स दंसणं अवि तिप्पेदि॥26॥

1578. मंतिमंडलेणं सह, वियारित्तु बहुवारं विसोगेण।
पदायिदाणियकण्णा,कुमार-सीहत्थस्सविहीए॥27॥

1579. तदादेज्जबहुविहवं,अस्स-हत्थि-रह-पदादि-इच्चादी।
सेविगा परिचारिगा, सगचित्तसंतुट्ठीए चिय॥28॥

1580. सीहत्थोदुपसण्णो,लद्ध-उत्तमसस्स-किसीवलोव्वय।
लद्धविहवरंकोव्वय,लद्धजहेच्छफल-माणुसोव्व॥29॥

1581. सस्सियो अप्पतुट्ठो, सस्सेण सह लहित्तुं बहुपलालं।
रायेण दत्त-विहवं, लहित्ता जह तह सीहत्थो॥30॥

1582. तम्मि याले विवाहे, धणविहव-पहुदी णेव महच्चं दु।
माण-सम्माण-पीदी,कुलीण-कण्णागुणीवरोय॥31॥

1583. तत्थ सत्त-भादुणो दु, उवट्ठिदा महुच्छवं पस्संता।
सगभग्गं खिंसीअदु,जं कमलं गहिदुं असक्का॥32॥

1584. णिय-मिच्छत्तदसाए,अम्हेहि अविवित्तेहि पुण्णुदये।
अज्जिदं महापावं जिणसुदमुणी खिंसंतेहि वि॥33॥

उचित ही है जिस प्रकार योगियों को अपना संयम और श्रेष्ठ कृषक को अपनी श्रेष्ठ फसल अत्यंत प्रिय होती है उसी प्रकार ऐसे कौन से माता-पिता हैं जिन्हें अपनी योग्य पुत्री अति प्रिय नहीं होती? अर्थात् वह सभी को प्रिय होती है।।23।। अथवा देखो! तिर्यंच भी वात्सल्य भाव से अपने शिशुओं को स्नेह करते हैं। वे अपनी संतान की रक्षा के लिए अपने प्राण देने को भी तत्पर हो जाते हैं।।24।। जब कुरूप, विकलांग व मूर्ख संतान भी माता को अति प्रिय होती है तब अति पुण्यवान् संतान उन्हें प्रिय क्यों नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी।।25।। प्रत्येक जीव पुण्यवान् की संगति, मृदुभाषण व मृदुव्यवहार चाहता है। पुण्यवान् का दर्शन भी संतुष्टि देता है।।26।। अपने मंत्रीमंडल के साथ राजा विशोक ने बहुत बार विचार विमर्श कर सिंहस्थ कुमार के लिए विधिपूर्वक अपनी कन्या प्रदान की।।27।। तभी अपने चित्त की संतुष्टि के लिए बहुत वैभव, घोड़ा, हाथी, रथ, पदाति, सेविका व परिचारिका इत्यादि भी प्रदान कीं।।28।। जिस प्रकार कृषक उत्तम फसल प्राप्त करके प्रसन्न होता है, दरिद्र वैभव को प्राप्त कर प्रसन्न होता है व मनुष्य यथार्थ फल प्राप्त कर प्रसन्न होता है उसी प्रकार कुमार सिंहस्थ उस कन्या को प्राप्त कर प्रसन्न हुआ।।29।। जिस प्रकार फसल के साथ बहुत पलाल (भूसा) को प्राप्त कर कृषक आत्म संतुष्ट होता है उसी प्रकार कुमार सिंहस्थ राजा के द्वारा दिए गए वैभव को प्राप्त कर संतुष्ट हुआ।।30।। क्योंकि विवाह में धन, पैसा आदि का महत्व नहीं होता, उस समय मान-सम्मान-प्रीति, कुलीन कन्या और गुणी वर महत्वपूर्ण होते हैं।।31।। वहाँ उपस्थित सातों भाईयों ने महोत्सव को देखते हुए अपने भाग्य की निंदा की क्योंकि वे राजकुमारी कमला को ग्रहण करने में असमर्थ थे।।32।। वे चिंतन करने लगे अहो! अपनी मिथ्यात्व की दशा में हम अविवेकियों ने जिन, श्रुत, मुनि की निंदा करते हुए पुण्य के उदय में भी महापाप का अर्जन किया है।।33।।

1585. पावकज्जपुट्ठीए, पावुदये वि सुकज्ज-णिंदाइ वा।
अज्जदि पावं भुंजदि, फलं तस्स दुहं दारिद्दं॥34॥

1586. णरभवम्मि दारिद्दं, अहिसावोव्व य भयंकररोयोव्व।
कलह-किलेस-कारणं,अजसकित्ति-अवमाण-हेदू॥35॥

1587. दुरिदज-दारिद्दस्स य, पुत्तो दुक्खं विपत्ती पुत्ती य।
कंतिं बुद्धिं जसं च, बलं सिरिं खयिदुं परसू व्व॥36॥

1588. दारिद्दं पक्खोडदि, पद-पदिट्ठा सरजलं सेवालं।
आरोग्गं विणस्सदे, जह घुणो य कट्ठ-मण्णादिं॥37॥

1589. भुंजेदुं धणलच्छिं, उक्किट्ठं गिहलच्छिं पावुदये।
णेव समत्थो जीवो, णेरइयाणं सुहकिरिया व्व॥38॥

1590. दारिद्दं पावफलं, बहुभोयाकंखाकारणत्तादु।
अइरायदेसजुदस्स,दुल्लहो विरत्ति-भावो संगादु॥39॥

1591. भवतणुभोयसरूवं, वियारित्ता वड्ढीअ वेरग्गं।
सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चरियं तदा कंखंता ॥40॥

1592. अध जसोहर-मुणिराय-समीवे गच्छीअ संवेगेणं।
मुणिरूवं चिंतंता, तस्स सोम्म-अवियारि-मुद्दं॥41॥

1593. णिण्णिमेस-अवलोयंता कडुअतियपदक्खिणंचिट्ठीअ।
गुरुचरणेसुंकरीअ,थुदिं वंदणंपणमंताय॥42॥(तिअं)

1594. सम्मत्तं सण्णाणं, सच्चरियं वेरग्गफलं णियमा।
रयणत्तयंविणा णिच्चसुहं लहिदुंणखमो को वि॥43॥

1595. पुण्णेसु पावपइडी, संकमीअ ताण मुणिदंसणेणं।
मुणिदंसणं ण मेत्तं, पुण्णस्स अहणासहेदू वि॥44॥

पाप के उदय में पाप कार्यों की पुष्टि व सुकार्यों की निंदा से जीव पाप का अर्जन करता है एवं उसके फलस्वरूप दुःख व दरिद्रता को भोगता है।।34।। इस मनुष्य भव में दरिद्रता एक अभिशाप या भयंकर रोग के समान है। यह दरिद्रता कलह व क्लेश का कारण है एवं अयशकीर्ति व अपमान का हेतु है।।35।। पाप से उत्पन्न हुई दरिद्रता के दुःख रूपी पुत्र और विपत्ति रूपी पुत्री है। यह दरिद्रता कांति, बुद्धि, यश, बल व लक्ष्मी का नाश करने के लिए कुठार के समान है।।36।। दरिद्रता पद व प्रतिष्ठा को उसी प्रकार आच्छादित कर देती है जिस प्रकार शैवाल जलाशय के जल को आच्छादित कर देती है। दरिद्रता आरोग्य को उसी प्रकार नष्ट कर देती है जैसे घुन, अन्न व लकड़ी आदि को अंदर ही अंदर नष्ट कर देता है।।37।। जिस प्रकार नारकी जीवों के शुभ विक्रिया नहीं होती उसी प्रकार पाप के उदय में जीव उत्कृष्ट धनवैभव व गृहलक्ष्मी को भोगने में समर्थ नहीं होता।।38।। अहो! बहुत भोगों की आकांक्षा का कारण होने से दरिद्रता पाप का फल है। अति राग-द्वेष से युक्त व्यक्ति के परिग्रह से विरक्ति का भाव दुर्लभ होता है।।39।। पुनः संसार, शरीर व भोगों के स्वरूप का विचारकर उन्होंने वैराग्य को वृद्धिंगत किया। तभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की आकांक्षा करते हुए वे सातों भाई संवेगपूर्वक श्री यशोधर मुनिराज के समीप पहुँचे। उन्होंने मुनिराज के स्वरूप का चिंतन करते हुए और उनकी सौम्य व अविकारी मुद्रा का निर्निमेष अवलोकन करते हुए तीन प्रदक्षिणा की। फिर नमस्कार करते हुए मुनिराज की स्तुति व वंदना की एवं गुरु के चरणों में बैठे।।40-42।। उचित ही है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र नियम से वैराग्य का फल है। रत्नत्रय के बिना कोई भी नित्य-शाश्वत सुख प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।।43।। मुनिराज के दर्शन से उनकी पाप प्रकृतियाँ भी पुण्य में संक्रमित हो गई थीं। मुनिदर्शन ना केवल पुण्य का कारण है अपितु पापनाश का भी हेतु है।।44।।

1596. भोकरुणालयो!पहू!,णिस्संगो!णिरंबरो!णिरवज्जो!।
जदवितवमोणमुद्दा,उवदिसदेमोक्खमग्गंअवि।।45।।

1597. तदवि णिरेय-विसुद्धो,णिद्दंद-णित्तुलो णिरभिस्संगो।
वयंतसिद-चायगोव्व,करेदुंधम्मामिय-पाणं।।46।।(जुम्मं)

1598. अहो णिरावकंखी! हु, किं धम्मस्स सरूवं माहप्पं।
केणं कारणेणं च, पालेज्ज धम्मं णिम्मोहो!।।47।।

1599. अहेणिरुवट्ठाणिणा,उच्छाहिणासयामोक्खमग्गम्मि।
कहिदं मुणिरायेणं, अच्चंत-करुणाबुद्धीए।।48।।

1600. सव्वकल्लाणकारण-धम्मसरूवं सुणेह भव्वा जो।
दुक्खतावेछायाव्व,भवसायरेणिज्जामगोव्व।।49।।(जुम्मं)

1601. धम्मो वत्थु-सहावो, चेदणाइ सुद्धपरिणदी धम्मो।
सुद्धगुणपज्जायाण, संपत्ती ताइ कारणं वि।।50।।

1602. इमो णिच्छयो धम्मो, तस्स कारणं ववहार-धम्मो दु।
णिच्छय-लक्खेणविणा,ववहार-धम्मोजहत्थोण।।51।।

1603. को वि लहिदुंण सक्को,णिच्छयरयणत्तयं च सुद्धप्पं।
णिव्विअप्प-अणुभूदिं,विणा ववहार-धम्मेणं हु।।52।।

1604. होज्ज भूदत्थरूवो, बहुविहो ववहारधम्मो णियमा।
सगवेक्खाइदोण्हंहि,पुण्णजहत्थोजिणसमयम्मि।।53।।

1605. दहविह-धम्मो उत्तम-खमा मद्दवं अज्जवं सोचं च।
सच्चं संजमो तवो, चागाकिंचण-बंभचेरं।।54।।

1606. अहिंसा सच्चं तहा, अचोरियं बंभचेरं असंगं।
सेविद-पणविह-धम्मो, तित्थयराइ-महापुरिसेहि।।55।।

1607. धम्मो दयाविसुद्धो,हियमियपियवयण-जुद-वच्छलेणं।
णियकत्तव्व-पालणं, सुद्धप्पलीणत्तं धम्मो।।56।।

वे कहने लगे हे करुणा के भवन! हे प्रभु! हे निःसंग, निरंबर, निर्दोष मुनिराज यद्यपि आपकी मौन मुद्रा भी मोक्षमार्ग का उपदेश देती है तद्यपि हे निष्कंप, विशुद्ध, निर्द्वन्द, असाधारण, निःस्पृह मुनिराज हम धर्मामृत का पान करने के लिए तृषित चातक के समान स्थित है।।45-46।। अहो आकांक्षाओं से रहित मुनिराज! धर्म का स्वरूप व माहात्म्य क्या है? हे निर्मोही! व्यक्ति किस कारण धर्म का पालन करता है?।।47।। पाप में सदा निरुत्साही और मोक्षमार्ग में सदा उत्साही मुनिराज ने अत्यंत करुणाबुद्धिपूर्वक कहा–हे भव्य जीवों! सभी का कल्याण करने वाले धर्म का स्वरूप सुनो। वह धर्म दुःख की धूप में सुख की छाया के समान और संसार रूपी सागर में कर्णधार के समान है।।48-49।। वस्तु का स्वभाव धर्म है, चेतना की शुद्ध परिणति धर्म है, निज शुद्ध गुण व पर्याय की प्राप्ति धर्म है अथवा उन सबकी प्राप्ति का कारण भी धर्म है।।50।। यह निश्चय धर्म है और उस निश्चय धर्म का कारण व्यवहार धर्म है। निश्चय के लक्ष्य के बिना व्यवहार धर्म यथार्थ नहीं माना जाता।।51।। व्यवहार धर्म के बिना कोई भी निश्चय रत्नत्रय, शुद्धात्मा व निर्विकल्प अनुभूति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।।52।। व्यवहार धर्म बहुत प्रकार का होता है और वह नियम से भूतार्थ रूप होता है। अपनी-अपनी अपेक्षा से जिनागम में दोनों ही धर्म (व्यवहार व निश्चयधर्म) पूर्ण यथार्थ हैं।।53।। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य–ये दस प्रकार के धर्म हैं।।54।। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये भी धर्म के पाँच भेद हैं जो तीर्थंकर आदि महापुरुषों के द्वारा सेवित हैं।।55।। दया से विशुद्ध धर्म है अथवा हित-मित-प्रिय वचनों से समन्वित वात्सल्य भाव से अपने कर्त्तव्यों का पालन करना धर्म है अथवा शुद्धात्मलीनता धर्म है।।56।।

1608. मूलं जिणधम्मस्स दु, सम्मद्दंसणं सय सव्वखेत्ते।
सव्वभव्व-जीवाणं, मोक्खस्स दु पढमसोवाणं।।57।।

1609. चारित्तं खलु धम्मो, जुदं सम्मद्दंसणणाणेहि सया।
सम्मत्तहीणचरियं, मोक्खकारणं णेव कया वि।।58।।

1610. सम्मत्तहीणणाणं, णियमेणं कुणाणं जिणुद्दिट्ठं।
माणकसायपोसगं, अण्णकसायकारणं तं पि।।59।।

1611. सगंपंडिद-विदू वा, मणदि जो को वि सुसंजमेण विणा।
सो बंझा - पुत्तोव्व हु, हस्सपत्तो धम्मि - सहाए।।60।।

1612. संजदेसु अवदी णो, सोहदि बगोव्व धयरट्ठ-मज्झम्मि।
जदि बहुसद्दणाणी वि, मिच्छो ण पुज्जो धम्मीहिं।।61।।

1613. सम्माइट्ठी अवदी, संजमगहणस्स भावसहिदो जो।
धम्मीणं सहयारी, तेहि विणा सवरघादी सो।।62।।

1614. धम्मो दुविहो णेयो, भेयादो चिय समण-सावयाणं।
सत्तीए पालेज्जा, सयलवदं एगदेसं वा।।63।।

1615. धम्मो सस्सद-सुहदो, विग्घप्पणासगो दुह-णासगो य।
मणोरहपूरगो सय, उहय-सोक्खप्पदायगो सो।।64।।

1616. होदि णियामग-हेदू पाविदुं सुद्धसहावं जो को वि।
सो ववहार-धम्मो दु, कया वि उविक्खणीयो णेव।।65।।

1617. गहेज्ज धम्मकारणं, सुद्धप्पगुणं जाणिय विवेगेण।
उज्झित्तु मिच्छत्तयं, कसायं समेज्ज जदणेणं।।66।।

1618. पत्तेयं भव्वेण, सुद्धप्परूवो सय उवादेयो।
अखमो तं लहिदुं तो, पाउणेज्जा कारणं तस्स।।67।।

सर्व काल व क्षेत्र में सम्यग्दर्शन ही जिनधर्म का मूल है। यह सम्यग्दर्शन ही सभी भव्य जीवों के लिए मोक्ष का प्रथम सोपान है।।57।। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त चारित्र ही धर्म है। सम्यक्त्व से रहित चारित्र कभी भी मोक्ष का कारण नहीं होता।।58।। सम्यक्त्व से रहित ज्ञान नियम से कुज्ञान है, ऐसा जिनेंद्रप्रभु ने कहा है। वह मान कषाय का पोषक और अन्य कषायों का कारण भी होता है।।59।। जो कोई भी व्यक्ति सुसंयम के बिना स्वयं को पंडित या विद्वान् मानता है वह धर्मियों की सभा में बंध्या पुत्र के समान उपहास का पात्र होता है।।60।। संयमियों के मध्य अव्रती उसी प्रकार शोभा को प्राप्त नहीं होता जिस प्रकार राजहंस पक्षियों के मध्य बगुला शोभा को प्राप्त नहीं होता। यदि मिथ्यादृष्टि बहुत शब्दज्ञानी भी हो तो भी वह धर्मात्माओं के द्वारा पूज्य नहीं होता।।61।। जो सम्यग्दृष्टि अव्रती जीव संयम ग्रहण करने के भाव से सहित है वह धर्मियों का सहकारी-सहयोगी है। उस सम्यक्त्व और व्रतों के बिना वह स्व-पर का घात करने वाला ही है।।62।। श्रमण और श्रावकधर्म के भेद से धर्म दो प्रकार का जानना चाहिए। श्रमणधर्म सकलचारित्र युक्त और श्रावकधर्म एकदेशचारित्र युक्त होता है। भव्यों को शक्तिपूर्वक उनका पालन करना चाहिए।।63।। धर्म शाश्वत सुख प्रदान करने वाला है। विघ्नों का नाश करने वाला और दु:खों को विनाश करने वाला है। वह सदा मनोरथों को पूर्ण करने वाला और दोनों सुखों (नि:श्रेयस व अभ्युदय सुख) को प्रदान करने वाला है।।64।। जो कोई भी शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने के लिए नियामक हेतु होता है वह ही व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्म कभी उपेक्षा के योग्य नहीं होता।।65।। विवेकपूर्वक शुद्धात्म गुणों को जानकर धर्म के कारणों को ग्रहण करना चाहिए। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र का त्यागकर यत्नपूर्वक कषायों का शमन करना चाहिए।।66।। शुद्धात्मा का स्वरूप प्रत्येक भव्य जीव के द्वारा सदैव उपादेय है। यदि वह उस शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ हों तो उसका कारण प्राप्त करना चाहिए।।67।।

1619. सेट्ठपुण्णकज्जाइं, ववहारेण कारणं सुधम्मस्स।
पुण्णेणलहदिजीवो,भवसोक्खंमोक्खसाहणंपि॥68॥

1620. सुगिहत्थो अणुव्वदी, महव्वदी य सुद्धप्पजोगी वा।
पुण्णफलेणं अरिहो,होदि जीवो णो संकणेज्ज॥69॥

1621. अवदि-सम्माइट्ठी य, मोक्खमग्गी णेव संपइ-याले।
रयणत्तयेण णियमा,मोक्खमग्गी भावियालम्मि॥70॥

1622. सुणित्तु धम्मुवएसं, सत्तविप्पेहि लहिदो आणंदो।
पुण णिवेदीअ सामी,सीसह अम्हाण पुव्वभवा॥71॥

1623. सगोहिणाणेणं चिय,पुण्णपावफलसंजुद-पुव्वभवा।
वित्थरेणं जसोहर-मुणिवरेणं उप्पालिदा हु॥72॥

1624. सुणित्तु सगपुव्वभवा, वेरग्गुत्तालवीइसंजुदेहि।
वत्थाभूसण-मुज्झिय,ओग्गहिदा णिग्गंथदिक्खा॥73॥

1625. धीरंदु जस्स जणगो,खमाभावो जणणी संति-भगिणी।
करुणा पाणवल्लहा, संजम-भादू तवो मित्तं॥74॥

1626. तिजोग-संजमो सुदा, महव्वदं सुदो विरागो भादू।
दिसावसणंचउवसम-गेहोमुणीणिग्गंथोसो॥75॥(जुम्मं)

1627. धम्मसुक्कज्झाणं च, हिअफंदण-माणपाणो समत्तं।
पाणगं च जिणभत्ती, विरत्ती तह भोयणं ताण॥76॥

1628. दिग्घयालपज्जंतं तवुग्गं कुणंता समाहिमरणं।
लहिदं सुहझाणंता, जोगीहि समत्तभावेहिं॥77॥

1629. उत्तमसमाहिबलेण, सोहम्मसग्गे महड्ढिय-देवा।
दिव्व-इड्ढि-संजुत्ता, पीदलेस्साजुत्ता सुहगा॥78॥

1630. बेसहस्सवासेसुं, इगवारं माणसामियाहारं।
गहीअ सुहपरिणामी, आणपाणं बेपक्खेसुं॥79॥

व्यवहार से श्रेष्ठ पुण्य कार्य करना धर्म का कारण है। पुण्य से ही जीव संसार का सुख प्राप्त करता है और पुण्य से ही वह मोक्ष के साधन प्राप्त करता है।।68।। पुण्य के फलस्वरूप जीव समीचीन गृहस्थ, अणुव्रती, महाव्रती वा शुद्धोपयोगी होता है। पुण्य के फलस्वरूप ही जीव अरिहंत होता है इसमें कोई शंका नहीं करनी चाहिए।।69।। अव्रती सम्यग्दृष्टि वर्तमानकाल में मोक्षमार्गी नहीं हैं किन्तु भविष्य में रत्नत्रय के द्वारा नियम से मोक्षमार्गी होंगे।।70।। धर्मोपदेश सुनकर सातों ही ब्राह्मणों ने आनंद प्राप्त किया। पुनः निवेदन किया हे स्वामी! हमारे पूर्वभव बतलाइये।।71।। तब यशोधर मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान के माध्यम से विस्तारपूर्वक उनके पुण्य व पाप फल से संयुक्त पूर्वभवों को बताया।।72।। अपने पूर्वभवों को सुनकर उनके चित्त में वैराग्य की उत्ताल लहरें उछलने लगीं तब उन्होंने अपने वस्त्र व आभूषणों का त्याग कर निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की।।73।। धैर्य जिसके पिता हैं, क्षमाभाव माँ है, शांति बहन, करुणा जिसकी प्राण वल्लभा है, संयम भ्राता है और तप मित्र है। तीनों योगों का संयम जिसकी पुत्री है, महाव्रत पुत्र है, वैराग्य भाई है, दिशा ही कपड़े हैं और उपशम भाव ही गृह है ऐसे वे निर्ग्रन्थ मुनिराज थे।।74-75।। धर्म व शुक्लध्यान उन मुनिराजों के हृदय का स्पंदन था, समत्व भाव श्वासोच्छ्वास था, जिनभक्ति ही उनका पानक और विरक्ति ही उनका भोजन था।।76।। दीर्घकाल पर्यंत उग्र तप करते हुए उन योगियों ने शुभ ध्यान करते हुए समत्व भाव से समाधिमरण किया।।77।। उत्तम समाधि से वे सौधर्म स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए। वे सभी सौभाग्य युक्त देव दिव्य ऋद्धियों से संयुक्त व पीत लेश्या से युक्त थे।।78।। दो हजार वर्षों में एक बार वे देव शुभ परिणामों से युक्त मानसिक अमृताहार और दो पक्षों में एक बार श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे।79।।

1631. अकिट्टिम - चेइयालय - वंदणाए सुणिग्गंथ - थुदीए।
केवलिदिव्वज्झुणिंहु, सुणित्तुअज्जीअ बहुपुण्णं।।80।।

1632. बेसायरपज्जंतं, भोयंता उक्किट्ठ - सग्ग - सुहं च।
अवसिट्ठ पुण्णफलेण, चयिदूणं सत्तपुत्ता तव।।81।।

1633. तुज्झ अट्ठमपुत्तस्स, लोयवालस्स पुव्वपुण्णभवं च।
उप्पालेमि हं सुणह, अण्णाणं धम्म-पेरगो वि।।82।।

1634. विज्जाहर-सिरिभद्दो, कत्तव्वणिट्ठो जिणाणाइत्तो।
णिद्दोसवदपालगो पुव्वभवे वरसावगो सो।।83।।

1635. एयदा गच्छीअ मुणि - दंसणस्स मुणि - गुणाणुरायेणं।
समणधम्मं उवदिसिय, सावय-उसो देसिदो तेण।।84।।

1636. सावगाण एयारस-संजमठाणं जहक्कमेण जाण।
सगसत्तीए सगप्प-हिदत्थं पालंति विवेगी।।85।।

1637. जिणसुदणिग्गंथाणं पूयं सज्झायं वेज्जावच्चं।
कुणदि पावक्खयेदुं, पुण्णवंत-सावयो जो सो।।86।।

1338. तिविह - सावयोपक्खिग - णेट्ठिग - साहगाणंच भेयादो।
जिणधम्म-पक्खधरोदु, पक्खिगोसावयोजाणेज्ज।।87।।

1639. जिणण्णं सद्दहंतो, अट्ठमूलगुणं पालदे जो सो।
वसणचागी पूयाइ-सुकज्जेसु लीणो पक्खिगो।।88।।

1640. पालदि अप्पहिदत्थं, दंसणाइ - संजमठाणाइं जो।
णिट्ठाए णेयो सो, णेट्ठिगो सावयो पसंतो।।89।।

1641. जीवणंतम्मि हु मिच्चु-समये साहणं कुव्वेदि जो सो।
साहगो सावयो खलु, अप्पसुद्धीइ समाहीए।।90।।

1642. उवासगो सुगिहत्थो, सागारो य णिग्गंथाणुगामी।
सावगो गेही तहा, अहिंसापेम्मी एगट्ठो।।91।।

वे देव अकृत्रिम जिनालयों की वंदना से, निर्ग्रन्थ गुरुओं की स्तुति से एवं केवली प्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर बहुत पुण्य का अर्जन करते थे।।80।। वे सातों ही देव दो सागर पर्यंत स्वर्ग के उत्कृष्ट सुखों को भोगते हुए अवशेष पुण्य के फलस्वरूप वहाँ से च्युत होकर हे राजा अशोक! तुम्हारे सात पुत्र हुए हैं।।81।। अब तुम्हारे अष्टम पुत्र लोकपाल के पूर्व पुण्य भव को मैं कहता हूँ जो अन्यों को भी धर्म की प्रेरणा देने वाला है।।82।। वह लोकपाल पूर्वभव में श्रीभद्र नाम का विद्याधर था जो कर्त्तव्यनिष्ठ, जिनाज्ञा का पालन करने वाला व निर्दोष व्रतों का पालन करने वाला श्रेष्ठ श्रावक था।।83।। एक बार वह विद्याधर मुनिराज के गुणों के अनुराग से मुनि दर्शन के लिए वहाँ गया। उन मुनिराज ने श्रमणधर्म का उपदेश देकर श्रावक धर्म का उपदेश दिया।।।84।। वह इस प्रकार था–श्रावकों के यथाक्रम से ग्यारह संयमस्थान जानने चाहिए। विवेकी जन निज आत्महित के लिए शक्ति के अनुसार उनका पालन करते हैं।।85।। जो जिनेन्द्र देव की पूजा, श्रुत का स्वाध्याय और निर्ग्रन्थ गुरुओं की वैय्यावृत्ति अपने पापों के क्षय के लिए करता है वह पुण्यवान् श्रावक जानना चाहिए।।86।। पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक के भेद से श्रावक तीन प्रकार का जानना चाहिए। जिनधर्म के पक्ष को ग्रहण करने वाला पाक्षिक श्रावक होता है।।87।। जो जिनाज्ञा पर श्रद्धान करता हुआ अष्टमूलगुणों का पालन करता है, सप्त व्यसनों का त्यागी है और पूजा आदि सत्कार्यों में लीन रहता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।।88।। जो आत्मा के हित के लिए दर्शनादि संयम स्थानों का निष्ठापूर्वक पालन करता है वह प्रशांत नैष्ठिक श्रावक जानना चाहिए।।89।। जीवन के अंत में मृत्यु के समय जो आत्मशुद्धि हेतु समाधि की साधना करता है वह निश्चय से साधक श्रावक कहलाता है।।90।। उपासक, सद्गृहस्थ, सागार, निर्ग्रन्थानुगामी, श्रावक, गृही तथा अहिंसाप्रेमी ये एकार्थवाची हैं।।91।।

1643. पाणादु सेट्ठो जिणो, णिग्गंथो धम्मो आगमो जस्स।
सो भव-देह-भोयादु, विरत्तो स-दंसणपडिमा हु॥92॥

1644. मज्जादिदं कुव्वेदि, भोयणं साहणं वेज्जावच्चं।
सोअभक्खचागीसय, तित्थजत्तंजव-मुववासं॥93॥(जुम्मं)

1645. अणुव्वदाणि अहिंसा, सच्चमचोरियं सदार-तोसो य।
परिग्गह-परिमाणं च, सावगाण पुण्णविड्ढीए॥94॥

1646. दिव्वदं देसव्वदं, अणट्ठदंडविरदी गुणव्वदाणि।
सामाइयो पोसहोववासो अदिहिसंविभागो॥95॥

1647. भोगुवभोग - परिमाण - माहु सल्लेहणा वेज्जावच्चं।
णादव्वाणि चत्तारि-सिक्खावदाणि जिणसमयेहि॥96॥(जुम्मं)

1648. इमाणि बारसवदाणि, जो को अवि पालेदि य णिद्दोसं।
सड्ढाए णिट्ठाए, विदिय-पडिमा-जुदो वदी सो॥97॥

1649. तियसंझाकालेसुं, समत्त-मब्भसदि तिजोगसुद्धीइ।
जिणा जिणालयाइं च, पणगुरू वंददि सामइयो॥98॥

1650. सत्तीइ चउपव्वेसु, मासे अणसणं पोसहाणसणो।
कुणदि एगासणं पुव्वणंतरदिणेसु विसुद्धीइ॥99॥

1651. मज्जादिदाइंगहदि, जल-खीर-फल-अण्ण-पुप्फादीइं।
सुद्ध-मचित्तं जो सो, सचित्त-विरदो मुणेदव्वो॥100॥

1652. खज्जं सज्जं लेहं, पेयं आमुयदि चउविहाहारं।
रत्तीइ किदकारिदणुमोदेहि रत्तिभुत्तिचागी॥101॥

1653. सगित्थीएसह सव्व-इत्थीओमादु-भगिणि-सुपुत्तीव।
जस्स सो बंभयारी, वियारभावरहिदो धम्मी॥102॥

जिनेंद्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, जिनधर्म व जिनागम जिसके लिए प्राणों से भी श्रेष्ठ हैं और जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है वह दर्शन प्रतिमाधारी जानना चाहिए। वह श्रावक मर्यादा युक्त भोजन करता है। सर्व अभक्ष्य का त्यागी सदैव साधना, वैय्यावृत्ति, तीर्थयात्रा, जाप और उपवास करता है।।92-93।। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-संतोष और परिग्रह- परिमाण-श्रावकों के पुण्य की वृद्धि के लिए ये पाँच अणुव्रत जानने चाहिए।।94।। दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदंडविरति व्रत ये तीन गुणव्रत जानने चाहिए। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और भोगोपभोग परिमाण अथवा कहीं-कहीं वैय्यावृत्ति या सल्लेखना को भी स्वीकार किया गया है। जिनग्रंथों में ये चार शिक्षाव्रत जानने चाहिए।।95-96।। जो कोई भी श्रद्धा व निष्ठा से इन बारह व्रतों का निर्दोष पालन करता है वह द्वितीय प्रतिमा से युक्त व्रती श्रावक है।।97।। जो तीनों संध्याकालों में योगत्रय की विशुद्धिपूर्वक समता भाव का अभ्यास करता है। चैत्य, चैत्यालयों की व पंच गुरु अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु की वंदना करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी है।।98।। जो विशुद्धि हेतु एक माह में चार पर्व के दिनों में शक्तिपूर्वक उपवास करता है एवं पूर्व (पहले) व अनंतर (अगले) दिन एकासन करता है वह प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक है।।99।। जो मर्यादित शुद्ध व अचित्त जल, दुग्ध, फल, अन्न व पुष्पादि को ग्रहण करता है वह सचित्त विरत वा सचित्त त्यागी जानना चाहिए।।100।। जो रात्रि में कृत, कारित व अनुमोदना से खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग करता है वह रात्रिभुक्तित्यागी जानना चाहिए।।101।। जिसके लिए अपनी स्त्री के साथ-साथ सभी स्त्रियाँ माता, बहन व पुत्री के समान हैं वह विकार भाव से रहित धर्मात्मा ब्रह्मचारी जानना चाहिए।।102।।

1654. आरंभचागी हु किसि - सेवा - वाणिज्जादीदु विरत्तो।
मुणिस्ससगणिमित्तेण,अदणंपयिदुंवरंसक्को॥103॥

1655. धम्मज्झाण-विड्ढीइ,छंडित्ता उवजोगि-उवयरणाणि।
अट्ट कारणं संगं,सव्व - मुज्झेदि संग - विरदो॥104॥

1656. विवाह-उज्जोग-पहुदि-सावज्जकम्माण अणुमदिं णेव।
देज्जा अणुमदि-विरदो,वरं अग्गो धम्मकज्जेसु॥105॥

1657. उद्दिट्ठ - चाग - पडिमा - धारग - उक्किट्ठ सावगो दुविहो।
खुल्लयो एलगो अवि,संपइ दिस्संति विहरंता॥106॥

1658. णियसंजमपालणस्स,सोच - संजमाहार - उवयरणाणि।
गहेदि खुल्लयोएग-वत्थ-कोवीणेहि सहिदाणि॥107॥(जुम्मं)

1659. एलगो गहदि पिच्छिं, कमंडलुं खलु कोवीणेणं सह।
णियमादो पकुव्वेदि,कचलुंचणंपगविहारंच॥108॥

1660. पडिमा-धारगाणं दु, जण्णोववीदं धम्मचिण्हं तं।
धारेज्जा सय जावइय-पडिमा तावइय-सुत्ताणं॥109॥

1661. तियपडिमापज्जंतं, जण्णोववीदं तिसुत्ताण णरो।
तंजण्णोववीदंदु,एलगोणेवधारदिणवरि॥110॥(जुम्मं)

1662. एयारस-पडिमा सग-सत्तीइ गहिदा तेण सावगेण।
विरागेण पिहिदासव-पदेसु सुणिच्चा उवएसं॥111।

1663. बहुविज्जाधारगो दु, जं विज्जाहर-सुकुलुप्पण्णो सो।
गगणगामिणिंविणाहु,अवहेडीअसव्वविज्जाउ॥112॥

1664. अकिट्टिम-जिणबिंब-जिणचेइयालयाणि वंदीअ णिच्चं।
तियसंझायालेसुं, आगासगामिणि- विज्जाए॥113॥

जो कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि सर्व आरंभ से विरक्त है वह आरंभ त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है विशेषता यह है कि वह मुनिराज व अपने लिए भोजन बना सकता है।।103।। जो धर्मध्यान की वृद्धि हेतु उपयोगी उपकरणों को छोड़कर अन्य सभी आर्त्तध्यान के कारणभूत परिग्रह का त्याग कर देता है वह परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी है।।104।। जो विवाह, उद्योग आदि सावद्य कर्मों की अनुमति नहीं देता वह अनुमति त्याग प्रतिमाधारी जानना चाहिए; किन्तु वह धर्मकार्यों में सदैव अग्रणीय होता है।।105।। उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। वे दो प्रकार के जानने चाहिए–क्षुल्लक व ऐलक। ये क्षुल्लक व ऐलक आज भी विहार करते हुए दिखाई देते हैं। जो अपने संयम के पालन के लिए एक वस्त्र व कौपीन के साथ संयमोपकरण, शौचोपकरण व आहारोपकरण धारण करता है वह क्षुल्लक जानना चाहिए।।106-107।। ऐलक कौपीन के साथ पिच्छी व कमंडलु ही धारण करते हैं। वे नियम से केशलोंच व पगविहार करते हैं।।108।। प्रतिमाधारियों के लिए यज्ञोपवीत धर्म का चिह्न है। उन्हें इसे सदैव धारण करना चाहिए। जिसकी जितनी प्रतिमाएँ हों उसे उतने सूत्रों का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। विशेषता यह है कि तीन प्रतिमा पर्यंत व्यक्ति को तीन सूत्रों का यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। ऐलक जी उस यज्ञोपवीत को कभी धारण नहीं करते।।109-110।। उस श्रीभद्र श्रावक ने वैराग्यपूर्वक आचार्य श्री पिहितास्रव मुनिराज के चरणों में अपनी शक्ति के अनुसार ग्यारह प्रतिमाएँ ग्रहण कीं।।111।। वह श्रावक बहुत-सी विद्याओं का धारक था क्योंकि वह विद्याधरों के श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ था। ग्यारह प्रतिमा स्वीकार करते हुए उसने आकाशगामिनी विद्या के अतिरिक्त अन्य सभी विद्याओं का परित्याग कर दिया था।।112।। वह क्षुल्लक होने के पश्चात् तीनों संध्याकालों में आकाशगामिनी विद्या के द्वारा सदा अकृत्रिम जिनबिंबों व जिन चैत्यालयों की तीनों संध्याकालों में प्रत्यक्ष वंदना किया करता था।।113।।

1665. तिसंझासु वंदंतो, जिणं पच्चक्खे परोक्खे अहवा।
किट्टिमाणिपडिविपरमभत्ति-आणंद-संजुदोसो॥114॥

1666. कुव्वंते जिणभत्तिं, जे के वि परमगुणाणुरायेणं।
णिल्लूरंति संसार-तरुं मूलादो भव्वुल्ला॥115॥

1667. जिणभत्ति-पहावेणं, पाविदा उत्तमसमाही तेणं।
सोहम्मे देवो सो, पालिदूणं णिद्दोसवदं॥116॥

1668. महड्ढिय-पुण्णवंतो, पणवीस-पल्ल-आउ-धारगो सो।
तत्थ वि जिणभत्ति-रदो, कुव्वंतो तच्चचिंतणं दु॥117॥

1669. कया विसमवसरणम्मि, परिअलीअदिव्वज्झुणिंसुणेदुं।
कया वि तित्थयरस्स य, पंचकल्लाणमहुच्छवम्मि॥118॥

1670. जवंतो भत्ति-जत्तादीहि वि सुहेण बहुपुण्णमज्जीअ।
पुण चयित्ता पुण्णेण, सुरपुज्जो सुद-लोयवालो॥119॥

सान्द्र छंद

1671. पुव्वभवं जाणिय जणभव्वो, संभलदे संपडिसमये वा।
सोक्खमयंसक्कदेणियभावि, हंदि करेदुंसरल-सुभद्दो॥120॥

1672. चिंतिय जो सो णहि सगभूदं, संपइयाले हवदि पमादी।
कंविफलंणोलहदि भविस्से, तंसंपइकुव्वदुपुरिसट्ठं॥121॥

1673. दोस-तुडीहिं च समयपुव्वे, जो अवराहेहि णियकिदेहि।
ओग्गहदेपावण-सुहसिक्खं, सोखलुणेयोसुविदु-विवित्तो॥122॥

शार्दूल विक्रीड़ित छंद

1674. साफल्लं विवरीय-माहु वलये, उप्पण्ण-सस्सं तदा,
चिंतंतो णहि वट्टमाणसमये, जो सस्सिगो आलसो।
पावेदुं सुफलं ण सक्कदि कया, याले भविस्सम्मि सो,
तंसम्मंसुपरिस्समंकुणदु णिच्चं वट्टमाणम्मि भो॥123॥

तीनों संध्याकालों में प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से श्री जिनेन्द्र प्रभु की वंदना करते हुए वह कृत्रिम जिनालयों के प्रति भी परम भक्ति व आनंद से युक्त था।।114।। जो कोई भी भव्य जीव परम गुणानुराग से श्री जिनेन्द्रप्रभु की भक्ति करते हैं वे संसार रूप वृक्ष को मूल से नष्ट कर देते हैं।।115।। उस श्रीभद्र क्षुल्लक ने व्रतों का निर्दोष पालन कर श्री जिनभक्ति के प्रभाव से उत्तमसमाधि प्राप्त की एवं सौधर्म स्वर्ग में पच्चीस पल्य की आयु वाला पुण्यवान् महर्द्धिक देव हुआ, वहाँ भी वह देव तत्त्वचिंतन करता हुआ श्री जिनेंद्रप्रभु की भक्ति में अनुरक्त रहता था।।116-117।। वह कभी समवसरण में भगवान् की दिव्यध्वनि सुनने जाता तो कभी तीर्थंकर प्रभु के पंच-कल्याणक महोत्सव में जाता।।118।। उसने भक्ति, यात्रा आदि के द्वारा सुखपूर्वक काल व्यतीत करते हुए बहुत पुण्य का अर्जन किया। पुनः वहाँ से चय होकर पुण्य से देवों के द्वारा पूज्य तुम्हारा लोकपाल नामक पुत्र हुआ है।।119।। सरल-भद्र जीव अपने पूर्वभव को जानकर वर्तमानकाल में संभल सकता है और अपने भविष्य को भी सुखमय बनाने में समर्थ हो सकता है।।120।। जो अपने अतीत का विचार कर भी वर्तमान काल में प्रमादी होता है वह भविष्य में कोई फल प्राप्त नहीं कर सकता अतः वर्तमान में पुरुषार्थ करो।।121।। जो पूर्व समय में अपने द्वारा किए गए दोष, त्रुटियों व अपराधों से पावन सुशिक्षा ग्रहण करता है वह निश्चिय से विद्वान्, विवेकवान् जानना चाहिए।।122।। जो कृषक उसके खेत में हुई फसल की सफलता व असफलता पर विचार न करता हुआ, वर्तमान में प्रमादी वा आलसी हो जाता है, वह भविष्य में श्रेष्ठ फल प्राप्त करने में कभी समर्थ नहीं हो पाता। अतः हे भव्य जीव! वर्तमान में सदैव सम्यक् परिश्रम वा पुरुषार्थ करो।।123।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में महाराज अशोक के पुत्रों के पूर्वभवों का वर्णन करने वाला चौदहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

पंचदसम-णंदो

1675. आयण्णिय पुव्वभवं, कहदि पणमंतो विप्पसीअंतो।
अणुग्गहिदूणं पहू!, सीसहि विपिय-पुत्तीण भवा।।1।।

1676. सिंधू व्व गंभीरेण, उसहोव्व भद्देण जलं व मणेण।
गयोव्व साहिमाणिणा, मुणिणा उप्पालिदं च तदा।।2।।

1677. जंबूदीवस्स पुव्व-विदेहे कच्छमणोहरो देसो।
तत्थ रयदायलस्स दु, दक्खिणसेणीए ठिदाए।।3।।

1678. सुह-अलगाणयरीए, राओ गरुडसेणो सुप्पसिद्धो।
रज्जविज्जाजाणगो, सडंतरंगसत्तुविहीणो।।4।।(तिअं)

1679. पेयसीतस्स कमला, इत्थि-उइद-गुण-संपण्णाणिउणा।
सुहविज्जाकलासुं च, धम्मवच्छला पुण्णवंता।।5।।

1680. मज्जादा-रक्खिगाय, मिदुभासिया पदिगुणाणुरागिया।
सगपइचित्तहारिया, सुसीला सुसक्कार-जुत्ता।।6।।

1681. ताणं चउपुत्ती चउ-विह-णिहीव सुगुणी लच्छीरूवा।
सगपिदरस्स गुणेहिं, अहिसंचिदा लावण्णजुदा।।7।।

1682. कुलदीविगाविणीदा, दया-धम्म-सहिदाविअडाधीरा।
तासु फुडित्तु णारीण, सुसोहिदा कला चउसट्ठी।।8।।

1683. ताणसुहणामाकमलसिरीकमलगंधिणीविमलसिरीय।
विमलगंधिणी सव्वा, सुसद्दा य सेट्ठ-ववहारी।।9।।

1684. 'सु'-अक्खरस्स अट्ठो य, सुहंकरा सुमंगल्ला सुसीला।
'दा'-अट्ठो दामिदा य, दायगा धम्मसक्काराण।।10।।

1685. दिवसेगे पहुच्चीअ, उवरिल्ल-अट्ठ-सुसत्थगा कण्णा।
उज्जाणे ठिदिड्ढिजुद-सिरि-सुव्वदारिय-चरणेसुं।।11।।

अपने पुत्र के पूर्वभव को सुनकर प्रसन्न होते हुए राजा अशोक मुनिराज को नमस्कार करते हुए कहने लगे हे प्रभु! कृपया कर हमारी प्रिय पुत्रियों के पूर्वभव भी बतायें।।1।। तब सागर के समान गंभीर, वृषभ के समान भद्र, हाथी के समान स्वाभिमानी एवं जल के समान चित्त वाले मुनिराज कहने लगे–जंबूद्वीप के पूर्वविदेहक्षेत्र में कच्छ नामक मनोहर देश है। उसमें विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में अलका नाम की शुभ नगरी है। उस देश का राजा गरुड़सेन सुप्रसिद्ध था। वह राज्य की विद्याओं को जानने वाला एवं छः अंतरंग शत्रुओं से विहीन था।।2-4।। उसकी प्रेयसी का नाम कमला था। वह स्त्री उचित गुणों से सम्पन्न, शुभ विद्या व कलाओं में निपुण, धर्मवत्सला और पुण्यवती थी।।5।। वह महारानी कमला मर्यादा की रक्षा करने वाली, मृदुभाषिणी, पति के गुणों में अनुराग करने वाली, अपने पति के चित्त का हरण करने वाली, सुशीला और सुसंस्कारों से युक्त थी।।6।। उनकी चार प्रकार की निधि के समान चार पुत्रियाँ थीं। वे सुगुणी, लक्ष्मी का स्वरूप, लावण्य से युक्त, अपने माता-पिता के गुणों से अभिसिंचित थीं।।7।। वे कुल दीपिका, विनयी, दया धर्म से सहित, लज्जावती व धैर्यवती थीं। नारियों की चौंसठ कलाएँ उनमें प्रकट होकर शोभा को प्राप्त हो रही थीं।।8।। उनके शुभ नाम कमलश्री, कमलगंधिनी, विमलश्री और विमलगंधिनी थे। वे सभी मधुर आवाज वालीं और श्रेष्ठ व्यवहार से युक्त थीं।।9।। 'सुदा' शब्द में 'सु' अक्षर का अर्थ है–सुख को करने वाली, सुमंगलकारी, सुशीला। 'दा' का अर्थ है–संयमित एवं धर्म के संस्कारों को देने वाली। इस प्रकार जो सुख करने वाली, मंगलकारी, सुशीला, संयमित एवं धर्म के संस्कारों को प्रदान करती है वही पुत्री है।।10।। एक दिन उपर्युक्त अर्थ को सार्थक करने वाली वे कन्याएँ उद्यान में स्थित, ऋद्धियों से युक्त निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री सुव्रताचार्य के चरणों में पहुँची।।11।।

1686. रत्ती जुण्हाए जह, सरसी खलु सुरम्म-सरसिरुहेहिं।
गगणं जोदिसगहेहि, णायो भादि गयमुत्ताए॥12॥

1687. सीहो परक्कमेणं, गवो विउलमिट्ठदुद्धदाणेणं।
उसहो भद्दत्तेणं, रयणायरो रयणरासीइ॥13॥

1688. पंडिदो सण्णाणेण, तित्थयरो पणकल्लाणपूयाइ।
धम्मीहि लोगत्तयं, धणदो बहुरयणविट्ठीए॥14॥

1689. अणुव्वदेहि सावयो, समोसरणं तित्थयरजिणिंदेण।
संजमी संजमेणं, तवस्सी सय सम्मतवेणं॥15॥

1690. कुलो सुपुत्तेणं तह, जिणालयो पूयामंगलादीहि।
सिस्सो गुरुभत्तीए, पूयगो य जिण-अच्चणाए॥16॥

1691. सहासिट्ठपुरिसेहिं,हिय-मिय-पिय-सुवयणेहिंवाणीय।
जिणवयणसवणेणं च,सोदू सिवेहि सिद्धखेत्तं॥17॥

1692. तह मूलुत्तरगुणेहि, चउ-आराहणाहिं मुणिवरो सो।
सोहिदोसज्झाणेण,तवादुअणुवम-तणु-कंतीइ॥18॥(सत्तगं)

1693. तियपदक्खिणं किच्चा, पुण पुण थुवंता वंदंता तत्थ।
चिट्ठीअ भत्तीइ ता, पणमंता तिण्णिजोगेहिं॥19॥

1694. पउमाणिविअसंतिजह,उल्लसंतिखगाअक्कोदयेणं।
सज्जणा दुज्जणा वा, णंदंति पुलअंते रुक्खा॥20॥

1695. चंदुदयेण कुमुदाणि, दिग्घयालंतरे लहिय सुपुत्तं।
दंपत्ती णंदंते, वा जहेच्छधणं धणकंखी॥21॥

1696. जहेच्छ-मिट्ठण्णं वा, हरिसंति अइछुहाउरा लहित्ता।
स-सिसुं पस्सिय मादू, वा मादुं बालगो सरलो॥22॥

1697. तह कट्ठु मुणिदंसणं, विसुद्धीइ भत्तीइ तिप्पीअ ता।
णिस्सीम-विहूदीवा,दिवि-समिद्धीपाविदाताहि॥23॥(चउक्कं)

जैसे रात्रि चंद्रमा की चाँदनी से, तालाब कमलों से, आकाश ज्योतिष ग्रहों से, हाथी गजमुक्ता से, सिंह पराक्रम से, गाय प्रचुर मिष्ट दुग्ध देने से, बैल भद्रता से, रत्नाकर रत्नराशि से, पंडित सम्यग्ज्ञान से, तीर्थंकर पंचकल्याणक पूजा से, लोकत्रय धार्मिक जनों से, कुबेर रत्नवृष्टि से, श्रावक अणुव्रतों से, समवसरण तीर्थंकर भगवान् से, संयमी संयम से, तपस्वी सदा सम्यक् तप से, कुल सुपुत्र से, जिनालय जिनपूजा व मंगलद्रव्यादि से, शिष्य गुरुभक्ति से, पूजक श्री जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना से, सभा शिष्ट पुरुषों से, मधुर वाणी हित-मित-प्रिय श्रेष्ठ वचनों से, श्रोता जिन वचनों के श्रवण से, सिद्धक्षेत्र सिद्धों से शोभायमान होता है उसी प्रकार वे मुनिराज मूलगुण, उत्तरगुण, चार आराधना, सद्ध्यान एवं तप के कारण अनुपम देहकांति से युक्त थे।।12-18।। वे कन्यायें मुनिराज की तीन परिक्रमा करके पुनः-पुनः स्तुति-वंदना करते हुए तीनों योगों से प्रणाम करते हुए भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों में बैठीं।।19।। जैसे सूर्य के उदय से कमल खिलते हैं, पक्षी उल्लसित होते हैं, वृक्ष रोमांचित होते हैं तथा सज्जन वा दुर्जन सभी आनंदित होते हैं, जैसे चंद्र के उदय से कुमुद विकसित होते हैं, जैसे दीर्घकाल पश्चात् सुपुत्र को प्राप्त कर दंपत्ति आनंदित होते हैं व धन के आकांक्षी यथेच्छ धन प्राप्त कर आनंदित होते हैं, अति क्षुधातुर यथेच्छ मिष्ठान्न को प्राप्त कर हर्षित होते हैं, माँ अपने शिशु को व सरल बालक अपनी माता को देखकर प्रसन्न होता है वैसे ही वे बालिकाएँ मुनिराज के विशुद्धि व भक्तिपूर्वक दर्शन कर संतुष्ट हुईं मानो उन्होंने निःसीम विभूति या स्वर्ग की समृद्धि ही प्राप्त कर ली हो।।20-23।।

1698. सगकल्लाणाय ताहि, णिवेदिदं भत्तीए मुणि-पदेसु।
हे सामी! उवदिसेज्ज, भवसायरं णित्थारेदुं॥24॥

1699. सुव्वदमहाजोगिणा, उवदिसिदं अइ-करुणाबुद्धीए।
सव्वेसुं जीवेसुं, करुणा-भावो धम्म-मूलो॥25॥

1700. वीयं विणा रुक्खोव्व, धम्मट्ठिदी हु अहिंसाए विणा।
चंदं विणा जुण्हा व्व, अक्कं विणा अक्कतावोव्व॥26॥

1701. सुमे गंधोव्व अणले, उण्हत्तं व जले सीयलत्तं व।
सहावेण पत्तेयं, जीवम्मि अहिंसा करुणा य॥27॥

1702. विहिक्खयं विणा सिवो, संजमेण विणा जह मोक्खमग्गो।
तह अहिंसाए विणा, णेव धम्मो कत्थ वि कया वि॥28॥

1703. पंचगुरुवंदणं जिण-पूयादि-सावयधम्मं पालेज्ज।
चउविह-संघेसुं चउविहदाणं देज्ज सत्तीए॥29॥

1704. जिणबिंबवंदणेणं, णिधत्ति-णिकाइद-असुह कम्माइं।
णिज्जरदि पावपइडी, संकमंति पुण्णपइडीसुं॥30॥

1705. जिणदंसणेणणस्सदि, असुहकम्मंतमोव्व अक्कुदयेण।
भव्वचित्तंबुजं तह, विअसेदि जह पउमं तेणं॥31॥

1706. सया मंगलकारगं, कारणं सासय - सोक्ख - संतीणं।
अप्पविसुद्धीए अवि, असुहहारगं जिणदंसणं॥32॥

1707. रत्तिभुत्तिं जो कुणदि, कहं अहिंसगो दयालू णरो सो।
भवदुहभोत्ता दुग्गइ-गामी रत्तिभोयणकत्ता॥33॥

1708. णादव्वं समयेहिं, रत्तपाणं व पाणं रत्तीए।
रत्तीए भुंजणं दु, मंसपिंडभुंजणं व तहा॥34॥

1709. जा आसत्ती हवदे, रत्तिभोयणे तहेव णो दिवसे।
अच्चासत्ती णेया, अच्चंत पाव - किच्छ - हेदू॥35॥

उन्होंने अपने कल्याण के लिए भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों में निवेदन किया हे स्वामी! संसार सागर से पार होने के लिए हमें उपदेश प्रदान करें।।24।। उन श्री सुव्रत महायोगी ने अति करुणा बुद्धि से इस प्रकार धर्म का उपदेश दिया–सभी जीवों में करुणा का भाव धर्म का मूल है।।25।। जैसे बीज के बिना वृक्ष नहीं होता, चंद्र के बिना ज्योत्सना–चाँदनी नहीं होती, सूर्य के बिना सूर्य का ताप नहीं होता उसी प्रकार अहिंसा के बिना धर्म की स्थिति नहीं होती।।26।। जिस प्रकार अग्नि में ऊष्णता, जल में शीतलता और पुष्प में गंध होती है उसी प्रकार प्रत्येक जीव में स्वभाव से ही अहिंसा और करुणा होती है।।27।। जिस प्रकार कर्मक्षय के बिना मोक्ष नहीं होता, संयम के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता उसी प्रकार अहिंसा के बिना कहीं भी और कभी भी धर्म नहीं होता।।28।। श्रावक को पंचगुरुओं की वंदना करनी चाहिए। जिनेन्द्र पूजा आदि श्रावक धर्म का पालन करना चाहिए। चार प्रकार के संघों में शक्तिपूर्वक चार प्रकार का दान देना चाहिए।।29।। जिनबिम्ब की वंदना से निधत्ति–निकाचित कर्म भी निर्जीर्ण होते हैं; पाप प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियों में संक्रमित हो जाती हैं।।30।। जिस प्रकार सूर्य के उदय से अंधकार नष्ट हो जाता है और कमल खिल जाता है उसी प्रकार जिनेंद्रप्रभु के दर्शन से अशुभ कर्म नष्ट होते हैं और भव्यों का हृदय–कमल विकसित हो जाता है।।31।। जिनेंद प्रभु का दर्शन नित्य मंगलकारक, शाश्वत सुख व शांति का कारण, आत्मविशुद्धि का हेतु और अशुभहारक है।।32।। अहो! जो व्यक्ति रात्रि में भोजन करता है वह अहिंसक या दयालु कैसे हो सकता है? रात्रि में भोजन करने वाला संसार के दुःखों का भोक्ता और दुर्गति में जाने वाला होता है।।33।। रात्रि में जलादि का पीना रक्तपान के समान एवं रात्रि में भोजन करना माँस पिंड को खाने के समान है ऐसा शास्त्रों से जानना चाहिए।।34।। जो आसक्ति रात्रि भोजन में होती है उस प्रकार दिन में कभी नहीं होती और अति आसक्ति को अत्यंत पाप व दुःख का कारण जानना चाहिए।।35।।

1710. णिसिभुंजगो अज्जदे, महा-अहं बहुजीवघादत्तादु।
तेण फलेण थावरो, वियलिंदियो असण्णी आहु॥36॥

1711. जदि सण्णि-पंचिंदियो, तो णेरइयो वा कूरतिरियो दु।
णरेसु मुक्को अंधो, बहिरो हीणजादिमंतो य॥37॥

1712. सज्जणेसुं हु मण्णो, कोलीणो रत्तिभोयणचागेण।
साहुसंगदिं लहदे, णिरामय - सुदेहं देवोव्व॥38॥

1713. मंडलीगो तह अद्ध - मंडलीगो महामंडलीगो दु।
मदणो अद्धचक्की वा तित्थयर-जणगो तित्थयरो॥39॥

1714. देविंदो अहमिंदो, लोयंतिगो धणदो लोयवालो।
णिहि-रयणाणं सामी, बत्तीस-सहस्स-रायाणं॥40॥

1715. पच्छा रज्जं उज्झिय, जहाजादो य दियंबरो हवेदि।
समाहिमरणंकिच्चा, पाउणदि सारज्जंमोक्खं॥41॥(चउक्कं)

1716. ण अददि रत्तिभोयणं, णवणीदाइ-अभक्खं तिमयारं।
उदंबरं सद्धाए, आसण्ण - भव्वो दिवसेगं॥42॥

1717. चउविहाहार-मुज्झदि, रत्तीइ एगवस्संतं जो सो।
छम्मासुववास-फलं, लहदि आइक्खंति गणेसा॥43॥

1718. गिहत्थाण वर-धम्मो, णायेण अज्जणं सम्मंदाणं।
पुव्वजकित्तिरक्खणं, तहा मज्जादा-पालणं पि॥44॥

1719. साहम्मीसुं वच्छल-भावो, उवयार-भावो सत्तीइ।
जिणसासणपहावणा, उवगूहणं अविठिदिकरणं॥45॥

1720. वेज्जावच्चं मुणीण, तित्थसेवा जवो जिणिंदपूया।
सवणं जिणवयणाणं, सीलपालणं च उववासो॥46॥(तिअं)

1721. पालंति सगसत्तीइ, कत्तव्वं अण्णा ण उविक्खिंता।
जो सो आसण्ण-भवी, सुइरं पाउणदि णिव्वाणं॥47॥

बहुत जीवों का घात होने से रात्रि में भोजन करने वाला महापाप का अर्जन करता है। उसके फलस्वरूप स्थावर, विकलेन्द्रिय अथवा असंज्ञी होता है।।36।। यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय होता है तो नारकी व क्रूर तिर्यंच होता है अथवा यदि मनुष्य होता है तो उनमें गूंगा, अंधा, बहरा व हीन जाति वाला होता है।।37।। रात्रिभोजन के त्याग से जीव सज्जनों में मान्य व कुलीन होता है, वह साधुओं की संगति और देवों के समान रोग रहित सुंदर देह प्राप्त करता है। रात्रिभोजन त्याग से जीव मंडलीक, अर्द्धमंडलीक, महामंडलीक, कामदेव, अर्द्धचक्रवर्ती अर्थात् नारायण वा प्रतिनारायण, तीर्थंकर का पिता व तीर्थंकर होता है। वह देवेंद्र, अहमिन्द्र, लौकान्तिक देव, कुबेर, लोकपाल अथवा नवनिधि, चौदह रत्न एवं बत्तीस हजार राजाओं का स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती होता है। इन श्रेष्ठ पदों को प्राप्त कर पश्चात् यथाजात दिगंबर मुनि होता है एवं समाधिमरण करके स्वर्ग का साम्राज्य व मोक्ष प्राप्त करता है।।38-41।। जो श्रद्धा से संकल्पपूर्वक एक दिन भी रात्रिभोजन नहीं करता, मक्खन आदि अभक्ष्य पदार्थ, तीन मकार व उदंबर फलों का सेवन नहीं करता वह आसन्न भव्य है।।42।। जो एक वर्ष पर्यंत रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है वह छः माह के उपवास के फल को प्राप्त करता है ऐसा गणधर परमेष्ठी कहते हैं।।43।। न्यायपूर्वक धन अर्जन करना, समीचीन दान देना, पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा करना तथा मर्यादा का पालन करना, साधर्मियों में वात्सल्य भाव, उपकार भाव, शक्तिपूर्वक जिनशासन की प्रभावना, उपगूहन, स्थितिकरण, मुनियों की वैय्यावृत्ति, तीर्थसेवा, जिनेंद्रपूजा, जप, जिनवचनों का श्रवण, शीलपालन और उपवास ये गृहस्थों का श्रेष्ठ धर्म है।।44-46।। जो आसन्न भव्य जीव अन्यों की उपेक्षा न करता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार कर्त्तव्यों का पालन करता है वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है।।47।।

1722. सत्तवसणाणिणियमा,दुहसिंधु-सत्तणिरयाणदाराणि।
जे केअवि वसणी ते, कहं ण लहंति णिरयवासं।।48।।

1723. मंसं मज्जं जूअं, चोरिय-माहेडं परित्थिरमणं।
वेस्सागमणं इमाणि, वसणाणि अइपाव-हेदू हु।।49।।

1724. जे के अवि सेवंते, मज्जं कहं णो महापावी ते।
मज्जसेवणंणियमा,कारणंचसत्तवसणाणं।।50।।(जुम्मं)

1725. हिंसा मुसा चोरियं, अबंभं परिग्गहं पणपावाणि।
णवरिवसणाणिलोए,महापावाणिहुपसिद्धाणि।।51।।

1726. लहदि सारज्जं सिवं, चाग-संकप्पं सत्तवसणाणं।
जदि पालदि णिद्दोसं,सगप्प-परमप्प-सक्खीए।।52।।

1727. णियमेणं पव्वेसुं, सीलं पालेज्ज धम्म-भावणाइ।
करेज्ज कम्मक्खयिदुं, उववासं हु सग-सत्तीए।।53।।

1728. करेज्जविअण्णदिणेसु,उववासंचणमोक्काराइवदं।
आसण्णभव्वुल्ला दु,णियमेणं सग-कल्लाणाय।।54।।

1729. सुहतित्थवंदणाए, संगहेज्जा विउलपुण्णरासिं च।
कोविपुण्णेणंविणा,पाउणेदिणेवइट्ठफलं।।55।।

1730. जिणिंदवयणसरूवं, आगमसत्थं पढेज्ज सुणेज्जा य।
सो सज्झाओ धम्मे, परमहेदू चित्तथिरिमाइ।।56।।

1731. जिणागम-सज्झायेण,विणाणसंभवोसण्णाण-विड्ढी।
सण्णाणंचसंवेग-विराग-वच्छल-भत्ति-हेदू।।57।।

1732. केवलणाणं लहिदुं, कहं सक्केदि सुदणाणेण विणा।
सुदणाणं सय धम्मज्झाणस्स पहाण-कारणं दु।।58।।

1733. अंत-तवो सज्झाओ, सम्मत्त-संवर-णिज्जरा-हेदू।
चित्त-सोहग-अग्गीय,मोक्ख-कारणंपरंपराइ।।59।।

सप्त व्यसन नियम से दु:ख के सिंधु स्वरूप सात नरकों के द्वार हैं। जो कोई भी व्यसनीजन हैं वे नरक का वास कैसे प्राप्त नहीं करते? अर्थात् वे नरकवास प्राप्त करते ही हैं।।48।। माँस, मद्य, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्रीरमण और वेश्यागमन ये व्यसन अति पाप के हेतु हैं। जो कोई भी जीव मद्य सेवन करते हैं वे महापापी क्यों नहीं कहलाते? अर्थात् वे महापापी ही हैं। मद्य सेवन नियम से सात व्यसनों का कारण है।।49-50।। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच पाप हैं। किन्तु विशेषता ये है कि लोक में व्यसन ही महापाप रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हैं।।51।। भव्य जीव यदि अपनी आत्मा व परमात्मा की साक्षी में सप्त व्यसनों के त्याग के संकल्प का निर्दोष पालन करता है तो वह स्वर्ग के साम्राज्य पुन: मोक्ष को प्राप्त करता है।।52।। श्रावक को धर्म की भावना से पर्वों में नियम से शील का पालन करना चाहिए एवं अपनी शक्ति के अनुसार कर्म क्षय के लिए उपवास करने चाहिए।।53।। आसन्न भव्यों को अपने कल्याण के लिए अन्य दिनों में भी उपवास और णमोकार आदि के व्रत नियम से करने चाहिए।।54।। तीर्थों की वंदना से विपुल पुण्य राशि का संग्रह करना चाहिए। कोई भी जीव पुण्य के बिना इष्ट फल को प्राप्त नहीं करता।।55।। श्री जिनेन्द्र भगवान् के वचन स्वरूप आगम शास्त्रों को पढ़ना चाहिए और सुनना चाहिए। वह स्वाध्याय धर्म में चित्त की स्थिरता का परम हेतु है।।56।। जिनागम के स्वाध्याय के बिना सम्यग्ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं है। सम्यग्ज्ञान, संवेग, वैराग्य, वात्सल्य और भक्ति का हेतु है।।57।। श्रुतज्ञान के बिना जीव केवलज्ञान प्राप्त करने में समर्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। श्रुतज्ञान सदैव धर्मध्यान का प्रधान कारण है।।58।। स्वाध्याय अंतरंग तप है, सम्यक्त्व, संवर व निर्जरा का हेतु है, चित्त शोधक अग्नि है और परंपरा से मोक्ष का कारण है।।59।।

1734. पुण पुच्छंते सामी! उववास- सरूवो किं तस्स फलं।
सव्व-पावक्खयस्स दु, वयं तिव्वभाव-संजुत्ता॥60॥

1735. चउविहाहारो जाण, खज्ज-सज्ज-लेह-पेय-भेयादो।
ताणं चागुववासो, सोलस-पहर-पज्जंतं चिय॥61॥

1736. धम्मज्झाणेणं सह, अवहेडिदूणं विसयकसायं च।
विसुद्धिं पवड्ढंतो, सत्तीइ करेज्ज उववासं॥62॥

1737. फासाइपणिंदियाण, णो रज्जेज्ज सत्तवीस-विसयेसु।
लहेज्ज उववास-दिणे, परमसंति-मुवसमभावेहि॥63॥

1738. तद्दिवसम्मि विरत्तो, होज्ज संसार-सरीर-भोयादो।
वेरग्गं वड्ढंतो, जवेज्ज दिणं जिणवयणेहिं॥64॥

1739. विरोयणेणंचसुक्करुक्ख-संजुद-अइ-सघण-काणणंव।
उववासेणं णियमा, संधुक्कंति सव्वकम्माणि॥65॥

1740. णिविड-कम्माणिखयिदुं, जोग्गाणिसहजदाइ उववासेण।
जह तह जल-सिंचणेण, सुकोमला सुक्कमिदिगा अवि॥66॥

1741. वड्ढदि उववासेणं, पुण्णं सुक्कपक्खस्स मिअंगोव्व।
हासेदि पावं तहा, एणंगोव्व किण्हपक्खस्स॥67॥

1742. समिच्चादी बहुगुणा, अणसणतवसाहगचित्तम्मि सया।
रयणायर-तलम्मि चिय, विज्जंत-बहु-रयणरासीव॥68॥

1743. उववासेण वड्ढंति, णाणं खमा विणयो-वच्छल्लं य।
करुणा सोक्खं संती, अप्पबलं संजमो पहुदी॥69॥

1744. अविवागि-णिज्जराए, खयंतिपुव्वकम्माणिअणसणेण।
पुण्णपइडीसुं तहा, संकमंते, पावपइडी वि॥70॥

1745. उववासेण दिस्सेदि, देहो-सिढिलो णवरि सीयलप्पा।
जलासयस्स अक्केण, उण्हं जह तह उवरिणीरं॥71॥

पुनः वे कन्याएँ पूछती हैं हे स्वामी! उपवास का स्वरूप क्या है और उसका क्या फल है? हे प्रभु! सभी पापों के क्षय के लिए हम तीव्र भाव से युक्त हैं।।60।। मुनिराज कहते हैं कि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय के भेद से आहार चार प्रकार का जानना चाहिए। उन सबका सोलह पहर त्याग करना उपवास है।।61।। विषय-कषायों का त्याग कर धर्मध्यान के साथ विशुद्धि को बढ़ाते हुए शक्तिपूर्वक उपवास करना चाहिए।।62।। उपवास के दिन स्पर्शन आदि पंचेन्द्रियों के सत्ताईस विषयों में रंजायमान नहीं होना चाहिए तथा उपशम भावों से परम शांति प्राप्त करनी चाहिए।।63।। जिन वचनों के अनुसार उस उपवास के दिन संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होना चाहिए एवं वैराग्य को बढ़ाते हुए दिन व्यतीत करना चाहिए।।64।। जिस प्रकार अग्नि से सूखे वृक्षों से युक्त अति घना जंगल भी धूँ-धूँ कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उपवास से सभी कर्म नियम से नष्ट हो जाते हैं।।65।। जिस प्रकार जल से सिंचन करने पर शुष्क मिट्टी भी सुकोमल हो जाती है उसी प्रकार उपवास से निविड कर्म सहजता से ही क्षय करने के योग्य हो जाते हैं।।66।। उपवास करने से शुक्ल पक्ष के चंद्रमा के समान पुण्य संवर्द्धित होता है तथा कृष्ण पक्ष के चंद्रमा के समान पाप घटता जाता है।।67।। जिस प्रकार समुद्र के तल में बहुत सी रत्नराशि विद्यमान होती है उसी प्रकार अनशन आदि तप की साधना करने वाले के चित्त में समिति आदि बहुत गुण होते हैं।।68।। उपवास से ज्ञान, क्षमा, विनय, वात्सल्य, करुणा, सुख, शांति, आत्मबल व संयम आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं।।69।। उपवास से अविपाकी निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तथा पाप प्रकृतियाँ भी पुण्य प्रकृतियों में संक्रमित होती हैं।।70।। जिस प्रकार सूर्य ताप से जलाशय का ऊपर का जल तो उष्ण हो जाता है किन्तु अंदर शीतल रहता है उसी प्रकार उपवास से शरीर शिथिल दिखाई देता है जबकि विशेषता यह है कि आत्मा शीतल होती है।।71।।

1746. इत्थं मुणिरायेणं, वज्जरंतो उववास-माहच्चं।
पणमी-वद-महप्पुरो, उप्पालिदो विसेसेणं दु॥72॥

1747. पणमीवद-माहप्पं, आयण्णिय पुण मुणिणा सद्धाए।
णिवेदीअ सुवदं तं, ओग्गहिदुं विहिं पुच्छंता॥73॥

1748. पणमीइ सिदपक्खस्स, करेज्ज उववासं पणवासंतं।
विसयकसायपावं च, उज्झित्ता असुहवियारं पि॥74॥

1749. गच्छीअ वदं गहित्तु पणमित्ता मुणिं णिय-णिय-ठाणम्मि।
पढम-पंचमीइ किदं, उववासं ताहि कण्णाहिं॥75॥

1750. अच्चंत विसुद्धीए, अहोरत्तीए विणा पमादेण।
उच्छाहेण पुण्णम्मि, पूयं जवादिं कुणंताहि॥76॥

1751. सहसत्ति एयदिवसे, विज्जुद-पड़णादो आयासादो।
मरीअ चउकण्णाओ, विसुद्ध-संत-परिणामेहिं॥77॥(तिअं)

1752. पढम - सोहम्म - सग्गे, पणपल्लाउधारगा देवीओ।
दिणेग-वदपहावेण, होही ताउ सुहलेस्साए॥78॥

1753. अकिट्टिमजिणबिंबाण, पूयाइं कुणंता सुभोयाइं।
भोयंता जवीअ पण-पल्लं पणखणोव्व सग्गम्मि॥79॥

1754. अध चयित्तु भो राओ! ता सुरंगणा चउ पुत्ती तुज्झं।
अप्पभवेसुं सव्वा, पाविस्संति णिव्वाणपदं॥80॥

1755. रूवकुंभ-मुणिवरेण, सुणिच्चु सग सग-पुव्वभवा इत्थं।
णंदंता रज्जे पुण, गच्छीअ दंसण-भावणाइ॥81॥

1756. असोगेणं सह रायपरिवारो गच्छीअ जिणालयाणि।
चउगदिं णिवारेदुं, अणंतचदुट्ठयं लहेदुं॥82॥

1757. वणट्ठिदिभूदि-महाभूदि-विभूदि-अंबरतिलगाणंच।
जिणभवणाणदंसणं, वंदणंकरीअ भत्तीए॥83॥(जुम्मं)

इस प्रकार मुनिराज ने उपवास के माहात्म्य को कहते हुए पुनः विशेष रूप से पंचमी व्रत के माहात्म्य को बताया।।72।। मुनिराज से श्रद्धापूर्वक पंचमी व्रत का माहात्म्य सुनकर उन्होंने मुनिराज से उस व्रत की विधि पूछी और व्रत को ग्रहण करने के लिए मुनिवर से निवेदन किया।।73।। मुनिवर ने बताया कि शुक्लपक्ष की पंचमी को विषय-कषाय, पाप और अशुभ विचारों का त्याग कर पाँच वर्ष पाँच महीनों तक उपवास करने चाहिए।।74।। वे कन्याएँ व्रत ग्रहण कर मुनिराज को प्रणाम कर अपने-अपने स्थान पर चली गईं। पूजा, जाप इत्यादि करते हुए उन कन्याओं द्वारा प्रमाद के बिना अहोरात्रि अत्यंत विशुद्धि पूर्वक प्रथम पंचमी पर उपवास किया गया। उत्साहपूर्वक व्रत पूर्ण होने पर अचानक एक दिन आकाश से बिजली गिरने से विशुद्ध व शांत परिणामों से चारों कन्याओं का मरण हो गया।।75-77।। वे कन्याएँ एक दिन व्रत करने के प्रभाव से शुभ लेश्या पूर्वक प्रथम सौधर्म स्वर्ग में पाँच पल्य की आयु वाली देवियाँ हुईं।।78।। अकृत्रिम जिनबिंबों की पूजा आदि करते हुए भोगों को भोगते हुए स्वर्ग में उन देवियों की पाँच पल्य की आयु पाँच क्षण के समान व्यतीत हो गई।।79।। फिर वहाँ से चयकर हे राजन्! वे देवियाँ तुम्हारी चार पुत्रियाँ हुई हैं। वे सभी पुत्रियाँ अल्पभवों में निर्वाण पद प्राप्त करेंगी।।80।। इस प्रकार श्री रूपकुंभ मुनिराज से अपने-अपने पूर्व भवों को सुनकर आनंदित होते हुए राजा सहित समस्त परिकर मुनिराज के पुनः दर्शन की भावना से राज्य में चले गए।।81।। तब सर्वप्रथम राजा अशोक के साथ राजपरिवार भी जिनमंदिर गया। वहाँ चारों गतियों के निवारण और अनंत चतुष्टय की प्राप्ति के लिए वन में स्थित अतिभूति, महाभूति, विभूति और अंबरतिलक नामक जिनालयों के भक्तिपूर्वक दर्शन व वंदना की।।82-83।।

1758. सगचेयण-विसुद्धीइ, फुडेदुं सगजिणिंदत्तं कुणंति।
भवी भत्ति-पूयाइं, जिणचेइयचेइयालयाण॥84॥

1759. णिम्मलणीरेणं सह, णिम्मलं खार-पदत्थ-पउत्तेण।
वत्थुं जह तह अप्पा, होदि एगत्तजिणभत्तीइ॥85॥

1760. जह वइस्साणरेणं, सुज्झेदि कलधोदं असंकेज्जा।
सगचेयणा वि तहेव, एगत्तजिणिंदभत्तीए॥86॥

1761. जह विलिज्जेदि सप्पिं, सित्थं पहुदी तिव्वक्ककिरणेहि।
तह जिणदंसणेणं दु, तिव्व-अप्पसत्थ-कम्माइं॥87॥

1762. जिणिंदभत्तीपूया, असाद-विग्घ-असुहणामकम्माणि।
जह तह विरोयणं चिय, आलुंखेदि अवगरकुडं च॥88॥

1763. णाण - दंसणावरणं, समंते तह जिणिंदत्थुदीए दु।
जह उक्कलंत - दुद्धं, उब्भाअं सीयलणीरेण॥89॥

1764. जिणचरणवंदणाए, खयंते भयसोगवाहिविग्घाणि।
खयदिणिक्किंयत्तं, विज्जुदेणविज्जुद-उवयरणाण॥90॥

1765. मत्तंडपयासेणं, जह तह कच्चं दिप्पेदि वज्जं व।
जिणबिंब-दंसणेणं, भव्वो हु आसण्णभव्वोव्व॥91॥

1766. विणस्सेदि जह रुक्खं, मूलादु तक्कविसाइपउत्तेण।
तह भवमूलं जिणिंददेवस्स एगत्त - भत्तीइ॥92॥

1767. रुक्खकट्ठ-पहुदी जह, खयंति वामलूराइकीडेहिं।
पणगुरुभत्तीए तह, अयाले वि असुहकम्माइं॥93॥

1768. जिणत्थवणं समत्थं, छिंदिदुं अप्पसत्थकम्मरुक्खं।
जो तिजोगसुद्धीए, कुणदि सो होज्ज तिलोयपदी॥94॥

उचित ही है भव्य जीव अपनी चेतना की विशुद्धि और स्वयं में जिनेंद्रत्व प्रकट करने हेतु ही जिनचैत्य व जिनचैत्यालयों की भक्ति-पूजा आदि करते हैं।।84।। जिस प्रकार निर्मल जल के साथ क्षारीय पदार्थ का प्रयोग करने से वस्तु निर्मल हो जाती है उसी प्रकार एकत्व जिनभक्ति से आत्मा भी निर्मल हो जाती है।।85।। जैसे अग्नि से सोना परिशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार एकत्व जिनेन्द्रभक्ति से अपनी चेतना भी शुद्ध हो जाती है इसमें शंका नहीं करनी चाहिए।।86।। जिस प्रकार सूर्य की तीव्र किरणों के द्वारा घी, मोम आदि पदार्थ पिघल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार जिनेंद्रप्रभु के दर्शन से तीव्र अप्रशस्त कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।।87।। जिनेंद्रभक्ति-पूजा असातावेदनीय, अंतराय व अशुभ नामकर्म को उसी प्रकार नष्ट कर देती है जिस प्रकार अग्नि कूड़े के ढेर को जला डालती है।।88।। जिस प्रकार उबलता हुआ दूध शीतल नीर से शांत हो जाता है उसी प्रकार श्री जिनेंद्रप्रभु की स्तुति से ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म शमित हो जाते हैं।।89।। जिस प्रकार विद्युत से विद्युत उपकरणों का निष्क्रियत्व नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जिनेंद्रप्रभु के चरणों की वंदना से भय, शोक, रोग और विघ्न सब नष्ट हो जाते हैं।।90।। जिस प्रकार काँच पर सूर्य का प्रकाश पड़ने पर वह हीरे के समान दीप्तिमान होता है उसी प्रकार जिनबिंब के दर्शन से भव्य जीव आसन्न भव्य के समान प्रतिभासित होता है।।91।। जिस प्रकार मट्ठा, विष आदि के प्रयोग से वृक्ष, मूल से नष्ट हो जाता है उसी प्रकार श्री जिनेंद्रदेव की एकत्व भक्ति से संसार का मूल नष्ट हो जाता है।।92।। जिस प्रकार दीमक आदि कीटों के द्वारा वृक्ष, काष्ठ आदि नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार पंचगुरु की भक्ति से अकाल में भी अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।।93।। जिनेंद्रप्रभु का स्तवन अप्रशस्त कर्म रूप वृक्ष को छेदने में समर्थ है। जो भव्य तीनों योगों की शुद्धि पूर्वक जिनेंद्र भगवान् का स्तवन करता है वह त्रिलोकपति अर्थात् स्वयं भगवान् होता है।।94।।

अपरवक्त्र या वैतालीय छंद

1769. खयदि सय रयं च वारिणा, तणुसुरहं मलयेण पावदे।
वर-अभिअणमक्खदेणवा, मणहर-भोय-वरंसुमेहिओ॥95॥

1770. सुमहुर-बलिणायवेहवं, सुहद-सुमदिं चपदीवगेणभो!।
विअसदिसुह-भग्ग-उप्पलं, जिणचरणेखलुधूवणेणवा॥96॥

1771. रुइर-महुर-पुप्फजेहि वा, लहदि जहेच्छफलंसिवंतहा।
वर-मणहर-अग्घ-मप्पदे, लहदिअणग्घपदंभवीसया॥97॥(तिअं)

अहो! भगवान् के चरणों में जल चढ़ाने से रज का नाश होता है। चंदन से सुगंधित देह की प्राप्ति होती है। अक्षत से पूजा करने से उत्तम कुल एवं पुष्पों से पूजा करने से मनहर उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति होती है। सुमधुर नैवेद्य चढ़ाने से वैभव व दीपक चढ़ाने से सुखद सम्यक् बुद्धि प्राप्त होती है। धूप खेने से सौभाग्य रूपी कमल विकसित होता है। सुंदर, मधुर फलों से पूजा करने से जीव यथेच्छ फल तथा मोक्ष प्राप्त करता है एवं जो भव्य सदा उत्तम, मनहर अर्घ्य अर्पित करता है वह अनर्घ्य पद प्राप्त करता है।।95-97।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में राजा अशोक की पुत्रियों के पूर्वभव का वर्णन करने वाला पन्द्रहवाँ नंद पूर्ण हुआ।

सोलसम-णंदो

1772. रायअसोगेण रज्ज-संचालणं करिदं सु णायेणं।
बे जणा एयदिवसे, आगच्छीअ तत्थ णायस्स॥1॥

1773. णरेगो भणदि सामी! मए कयिदं अस्स खेत्तं पच्छा।
बेसुवण्ण-जुद-कलसं,लहिदंतत्थखणण-समयम्मि॥2॥

1774. मए कयिदं खेत्तं हि, णेव सुवण्णजुत्तकलसं तम्हा।
णेवगहण-जोग्गंमइ,किण्णुणेवओग्गहदे सोवि॥3॥

1775. विदियो बोल्लेदि तदा, भो राओ! विच्चिदं मए खेत्तं।
णो ओग्गहिस्सामि तं, सगणायज्जिदधणे तुट्ठो॥4॥

1776. सुणिच्चा उहय-वत्तं, ताण सरलचित्ताण वच्छलेणं।
कहदि भो पुण्णवंता, सोहग्गिआ तुज्झ पुण्णेण॥5॥

1777. पाविदं दोण्णिकलसं, तम्हा गहेज्जा कलसमेगेगं।
भणदि तदा तंमंती,धणंरायकोसस्स सामी॥6॥(जुम्मं)

1778. णायप्पिय-तुट्ठ-णिवो, भासदि चेयणसंपत्ती दु पया।
धणं णो रज्ज-बज्झे कोसम्मि ताण समीवे वा॥7॥

1779 पया पुत्तोव्व मज्झं, लहिदं धणं तेहिं सोहग्गेण।
पस्सिय पुत्तुत्थाणं,को जणगो होदि पसण्णो ण?॥8॥

1780. पच्छा, रायभवणम्मि, आगद-बेपुरिसेहिं विणयेहिं।
णिवेदिदं दु णायस्स, सगवित्तंत-भणंतेहिं च॥9॥

1781. पढमेण भासिदं मे, पुत्तीइ सह सुणिच्छिदो विवाहो।
इमेण दायिदाणि बहुधण-वत्थाभूसणाणि ताइ॥10॥

1782. मम पावकम्मुदयेण, दिवंगदा णयणतारिगा सा तं।
पच्चप्पिणेमिअहुणा,किण्णुणगहदि महाणुभावो॥11॥

राजा अशोक न्यायपूर्वक राज्य का संचालन कर रहे थे। एक दिन दो लोग राजा के पास न्याय के लिए आए।।1।। तब एक व्यक्ति कहता है हे स्वामी! मैंने इसके खेत को खरीदा था। उसके पश्चात् वहाँ खुदाई के समय मुझे दो स्वर्ण से युक्त कलश प्राप्त हुए।।2।। हे राजन्! मैंने मात्र खेत ही खरीदा था, स्वर्ण युक्त कलश मैंने नहीं खरीदे इसलिए ये मेरे द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं; किन्तु यह व्यक्ति भी उन कलशों को नहीं लेता।।3।। दूसरा व्यक्ति कहता है हे राजन्! मैंने तो खेत बेच दिया है इसलिए उीन कलशों को मैं ग्रहण नहीं करूंगा। मैं अपने द्वारा न्यायोपार्जित धन में संतुष्ट हूँ।।4।।

उन सरल चित्त वाले दोनों लोगों की वार्ता सुनकर राजा कहते हैं हे पुण्यवान्, सौभाग्यशाली नरों! आपके पुण्य से ही वे दो कलश प्राप्त हुए हैं इसलिए दोनों एक-एक स्वर्ण कलश ग्रहण करें। तब एक मंत्री कहता है हे स्वामी! यह धन तो राजकोष का होना चाहिए।।5-6।। तब न्यायप्रिय व संतुष्ट राजा अशोक कहते हैं हे मंत्रीवर! ये प्रजा हमारी चेतन संपत्ति है। ये धन राज्य के बाहर नहीं है। यदि उनके पास है तो वह कोष में ही मानिये।।7।। पश्चात् राजभवन में दो पुरुषों का आगमन हुआ। उन्होंने विनयपूर्वक अपना वृत्तांत कहा एवं न्याय के लिए निवेदन किया।।9।। पहले व्यक्ति के कहा हे राजन्! (इनके पुत्र का) मेरी पुत्री के साथ विवाह निश्चित हुआ था तब इन्होंने उसके लिए बहुत-सा धन व वस्त्राभूषण प्रदान किए थे।।10।। मेरे पाप कर्म के उदय से मेरे आँखों की तारिका पुत्री का देहांत हो गया। अब मैं वह धन, वस्त्राभूषणादि इन्हें लौटा रहा हूँ किन्तु ये महानुभाव उसे ग्रहण ही नहीं कर रहे हैं।।11।।

1783. भो णायप्पिय-राओ, तं धणं णेव मम इयाणिं।
अहं णेव गहिस्सामि, लोहो पाव-जणगो जम्हा॥12॥

1784. विदियो कहदि दायिदं, धणाइं मइ भावि-पुत्तवहूए।
अहुणा भो रायो तं, दाण-धणं व गहिदु-मसक्को॥13॥

1785. अम्हाणं कुल-रीदी एरिसा पहू तुमं अवि सहमदो।
पदत्तधणं दु कया वि, णेव ओग्गहण-जोग्गं पुणो॥14॥

1786. तुज्झ वयणं उत्तमं, किण्णु किं करिदव्वं अस्स धणस्स।
सहसा उहया वदंति, रायकोसस्स गहेज्ज पहू॥15॥

1787. तदा महामच्चादी, कहंति उइदो पुढविपालगो भो॥
ठाएज्ज सुणह णायं, मंतिमंडलो अहो मज्झं॥16॥

1788. णियसुकुलसासण-रीदि-अणुसारेण इदं गहण-जोग्गं ण।
तहा अजोग्गं दु राय-कोसस्स किण्णु णजदि गहेह॥17॥

1789. तो धणमिदं अण्णाइ, कण्णाए चिय उवजुंजस्सिमो य।
हिदत्थं जेपयाए, सव्वा कण्णा मम पुत्तीव॥18॥(जुम्मं)

1790. रायणायं सुणित्ता, पस्सिय ओदारियं भणंति तदा।
साहू साहू पच्चक्ख-भयवदो व्व अम्हाण णिवो॥19॥

1791. इत्थं तस्स सासणे, सुणायो विज्जमाणो वच्छलेण।
सुह-संती संतोसो जत्थ णायो तत्थ समिद्धी॥20॥

1792. णागरिआण भावणा, णेव परत्थं अहियारं गहिदुं।
परोवयारम्मि रदा, संतोसी ते दु धम्मिट्ठा॥21॥

तब दूसरा व्यक्ति कहता है हे न्यायप्रिय राजन्! अब यह धन मेरा नहीं है। मैं वह कदापि ग्रहण नहीं करूंगा क्योंकि लोभ पाप का बाप है। वह धनादि मैंने अपनी होने वाली पुत्रवधू के लिए दिया था। अहो राजन्! जैसे दान किए हुए धन को पुनः ग्रहण नहीं कर सकते, उसी प्रकार मैं वह दिया धन अब ग्रहण नहीं कर सकता।।12-13।। ऐसी हमारी कुल की रीति है। दिया गया धन कभी भी पुनः ग्रहण करने योग्य नहीं होता। हे प्रभु! इस बात से तो आप भी सहमत हैं।।14।। तब महाराज अशोक कहते हैं तुम्हारा वचन उत्तम है किन्तु इस धन का क्या करना चाहिए। अचानक दोनों बोलते हैं हे प्रभु! राजकोष के लिए इसे ग्रहण कर लीजिए।।15।। तब महामात्य आदि कहते हैं हे पृथ्वीपालक! उचित है, उचित है। राजा पुनः कहते हैं ठहरिये, अहो मंत्रीमंडल! मेरा न्याय सुनिये।।16।। अपने कुल व शासन की रीति के अनुसार यह धनादि मेरे ग्रहण करने योग्य नहीं है। और राजकोष के लिए भी यह अयोग्य है। यदि ये दोनों उसे ग्रहण नहीं करते तो यह धन हम अन्य कन्या के हितार्थ उपयोग करेंगे; क्योंकि प्रजा की सभी कन्याएँ मेरी पुत्री के समान हैं।।17-18।। तब राजा के न्याय को सुनकर, उनकी उदारता को देखकर सब कहते हैं साधु-साधु। हमारा राजा प्रत्यक्ष भगवान् के समान है।।19।। हे मंत्रीवर! मेरे लिए प्रजा पुत्र के समान है। उन्होंने अपने सौभाग्य से धन प्राप्त किया है। अरे! पुत्र के उत्थान को देखकर कौन-सा पिता प्रसन्न नहीं होता अर्थात् सब होते हैं। इस प्रकार उस राजा अशोक के शासन में वात्सल्यपूर्वक श्रेष्ठ समीचीन न्याय विद्यमान था। उचित ही है जहाँ न्याय होता है वहीं सुख, शांति, संतोष और समृद्धि होती है।।20।। तब उस राज्य में नागरिकों की भावना दूसरों की वस्तु या अधिकार ग्रहण करने की नहीं थी। वे सभी परोपकार में रत, संतोषी और ध र्मिष्ठ थे।।21।।

1793. णेव तत्थ अण्णायो, दंडो तहा महुरइक्खुदंडोव्व।
सगवत्थुं उज्झित्ता, सया हरिसीअ णंदीअ ते॥22॥

1794. पुप्फम्मि दुग्गंधोव्व, दुट्ठा असब्भा य तम्मि देसम्मि।
देसो सो सायरोव्व, णवरि रयणायरम्मि जलं हु॥23॥

1795. तस्स रायस्स देसे, णिवसीअ जलं व जलबुद्धी णेव।
तत्थपुण्णकज्जाइं,रयणायरेधवल-फेणोव्व॥24॥(जुम्मं)

1796. तदा देसस्स कित्ती, रयणायरस्स उत्तंगवीई व्व।
बहुकलासुविज्जातह,णाणावण्णिरयणरासीव॥25॥

1797. सायरो णेव लंघदि, सगसीमं कयावि आपदयाले।
तस्स देसवासी णो, अहकम्मुदये वि सगसीमं॥26॥

1798. णयरवासीणधणंण,खयदिदाणाइ-सुकज्जंकुणंता।
दायंतो सगजलं पि, ओरुम्मादि सायरो णेव॥27॥

1799. पिवासं समिदूण जह, रयणायरो तिप्पेदि सव्वदा हु।
उवयारं जणा मिहो, करीअ णिक्कंखभावेणं॥28॥

1800. वीईहि सायरो जह,खिवदि अणावस्सग-वत्थुं बहिरे।
सव्वा दोस-विगारा, छड्डिदा देसणिवासीहिं॥29॥

1801. धम्माणंदेण देसवासी जयघोसं परमेट्ठीणं।
हरिसेण सायरो जह, करेज्ज तह गंभीरघोसं॥30॥

1802. वड्ढदि सायर-णीरं, जह पवड्ढंतेण मिअंगेण सह।
जिण-चंददंसणेणं, धम्मविड्ढी तह णिवासीसु॥31॥

वहाँ अन्याय बिल्कुल नहीं था, दंड केवल इक्षुदंडों में ही था। जिस प्रकार इक्षु दंड में दंड होता है किन्तु वह मधुरता से युक्त होता है उसी प्रकार राजा अशोक के राज्य में दंड व्यवस्था थी किन्तु वह कटु नहीं मधुर थी। वहाँ अपनी वस्तुओं का त्याग कर व अन्यों को देकर वे लोग सदा हर्षित होते थे, आनंदित होते थे।।22।। जिस प्रकार पुष्प में दुर्गंध नहीं होती है उसी प्रकार उस देश में असभ्य जन नहीं थे। वह देश समुद्र के समान था किन्तु विशेषता यह है कि जैसे समुद्र में जल होता है वैसे उस देश में जल के समान सरल लोग रहते थे। जड़बुद्धि या मूर्ख कदापि भी निवास नहीं करते थे। वहाँ नागरिकों द्वारा किए जाने वाले पुण्यकार्य समुद्र में धवल फेन के समान थे।।23-24।। उस समय उस देश की कीर्ति रत्नाकर की उत्तुंग लहरों के समान थी। वहाँ बहुत कलाएँ व समीचीन विद्याएँ रत्नाकर में नाना वर्णों की रत्न राशि के समान गर्भित थीं।।25।। जिस प्रकार समुद्र आपत्तिकाल में भी कदापि अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार उस देश के निवासी पापकर्म के उदय में भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे।।26।। बहुत दान आदि पुण्य कार्य करते हुए भी नगरवासियों का धन उसी प्रकार क्षय को प्राप्त नहीं होता था जिस प्रकार अपना जल देते हुए भी सागर कभी सूखता नहीं है।।27।। जिस प्रकार समुद्र लोगों की प्यास शांत करके सर्वदा उन्हें संतुष्ट करता है उसी प्रकार वहाँ लोग आपस में निःकांक्ष भाव से उपकार किया करते थे।।28।। जिस प्रकार समुद्र अपनी लहरों से अनावश्यक वस्तु को बाहर फेंक देता है उसी प्रकार उस देश के निवासियों ने सभी दोष व विकार छोड़ दिए थे।।29।। जिस प्रकार सागर हर्षपूर्वक गंभीर घोष करता है उसी प्रकार उस देश के निवासी धर्म के आनंद से परमेष्ठियों की जयघोष किया करते थे।।30।। जिस प्रकार चंद्रमा की वृद्धि से समुद्र का जल भी वृद्धिंगत होता जाता है। उसी प्रकार चंद्रमा के समान श्रीजिनेंद्र-प्रभु के दर्शन से उस देश के निवासियों में धर्म की वृद्धि हुआ करती थी।।31।।

1803. तत्थ आगच्छीअ बहु-इड्ढिधारगा चदुव्विहो-संघो।
जह तह रयणायरम्मि, बहुविह-तरंगिणी णंदेण॥32॥

1804. जदवि रयणायर-तडे, सिप्पी पासाणखंडकच्चादी।
देस-समीवम्मितदवि, णेवअवगुणोदोसगोअवि॥33॥

1805. तावं मरिसंतो अवि मेहरूव-जलं दायदि गगणस्स।
देसवासी वि आपदयाले सगधणं दरिद्दाण॥34॥

1806. लोयपसिद्धो सिंधू, लहदि सम्माणं सव्वसरिदाहिं।
तह कुरुजंगलदेसो, वि सम्माणं अण्णदेसेहि॥35॥

1807. डिंडीरेण जह होदि, अच्छादिदं तस्स णिम्मलणीरं।
तह गुत्तरूवेण तं, करीअ सगधम्मकत्तव्वं॥36॥

1808. अवगाहंति सायरे, मराला जह णीर-खीर-विवित्ता।
तह तम्मि देसम्मि चिय, वदी विदू भेदविण्णाणी॥37॥

1809. सायरस्स गंभीरं, मादुं जह णो को वि समत्थो तह।
पच्चक्खणाणिं विणा, णेव को वि देस-गंभीरं॥38॥

1810. देसम्मि सुसक्कारो, णिवस्स सुसक्कार-कारणत्तादु।
असोगो रोहिणिजुदो, सोहेज्ज रोहिणिजुदिंदू व्व॥39॥

1811. दिव्वजोदिसंजुत्तो, सीयलो तावहारगो चंदोव्व।
सव्वजणेसु पहाणो, सम्म-णेदुत्त-सत्ति-जुत्तो॥40॥

1812. मिअंगो कलंक-जुदो णवरि रायो णिक्कलंगो लोए।
हस्सीअणिवविहवोण, अहण्णिसंपरिअड्ढमाणो॥41॥

1813. णियमिद-गमणसीलो हु, णियदीए पारतंतेण चंदो।
जह तह पुरिसट्ठेणं, सव्वदा रायो असोगो वि॥42॥

जिस प्रकार सागर में बहुत प्रकार की लहरें उठती हैं उसी प्रकार वहाँ आनंदपूर्वक बहुत ऋद्धियों के धारक चार प्रकार के संघ (यति, ऋषि, मुनि, अनगार) आया करते थे।।32।। यद्यपि समुद्र के तट पर सीप, पाषाण खंड व काँच आदि होते हैं तद्यपि उस देश के समीप में कोई अवगुण या दोषक नहीं था।।33।। जैसे सूर्य के ताप को सहन करते हुए भी सागर आकाश के लिए वाष्पीकरण द्वारा मेघरूप में जल प्रदान करता है उसी प्रकार उस देश के वासी भी आपत्तिकाल में दरिद्रों व जरूरतमंदों के लिए अपना धन देते थे।।34।। जिस प्रकार लोकप्रसिद्ध सागर सभी नदियों से सम्मान प्राप्त करता है उसी प्रकार वह कुरुजांगल देश भी अन्य देशों से सम्मान प्राप्त करता था।।35।। जिस प्रकार फेन से सागर का निर्मल नीर आच्छादित होता है उसी प्रकार उस देश के नागरिक गुप्त रूप से अपने धर्म के कर्त्तव्य किया करते थे।।36।। जिस प्रकार समुद्र में नीर-क्षीर विवेकी हंस अवगाहन करते हैं उसी प्रकार उस देश में व्रती, विद्वान् व भेदविज्ञानी थे।।37।। जिस प्रकार सागर की गहराई को मापने के लिए कोई भी समर्थ नहीं होता उसी प्रकार उस समय प्रत्यक्षज्ञानी के बिना उस देश के गांभीर्य को मापने में कोई भी समर्थ नहीं था।।38।। राजा के सुसंस्कारी होने के कारण उस देश में सुसंस्कार थे। रोहिणी के साथ राजा अशोक उस प्रकार सुशोभित था जैसे रोहिणी नक्षत्र से युक्त चंद्रमा।।39।। राजा अशोक चंद्रमा के समान दिव्यज्योति से संयुक्त, शीतल व ताप का हरण करने वाला था। वह राजा सभी जनों में प्रधान एवं समीचीन नेतृत्व शक्ति से युक्त था।।40।। विशेषता यह है कि चंद्रमा तो कलंक से युक्त होता है किन्तु राजा अशोक लोक में निष्कलंक था। चंद्रमा तो कृष्ण-पक्ष में घटता है किन्तु राजा का वैभव निरंतर प्रवर्द्धमान था।।41।। जिस प्रकार नियति की परतंत्रता से चंद्रमा नियमित गमनशील होता है उसी प्रकार राजा अशोक भी पुरुषार्थ के बल से सदैव गमनशील था।।42।।

1814. जह सुविसालदेसम्मि, पव्वय-तरंगिणि-आइ-संजुत्तं।
अणेगतरूहि सहिदं, महारण्णं तहेव राओ॥43॥

1815. महापुण्णवंतो चिय, उक्किट्ठ-जसकित्ति-पव्वय-जुत्तो।
करुणा-तरंगिणीए, वच्छलाइ-सुगुण-रुक्खेहिं॥44॥(जुम्मं)

1816. रायम्मि परोवयार-मेत्ति-पमोदाइ-भावा पसत्था।
उल्लास-पमोदेणं, विहसंत-बहुविह-पुप्फाणिव॥45॥

1817. परोप्परे घसणेणं, सयमेव डज्झंत-सुक्करुक्खोव्व।
बद्धकम्मोदयादो, विज्जंत-वियारा वि राये॥46॥

1818. सगिट्ठकज्जसिद्धिं दु, कुणंत-काणणासिद-बहुजीवा व्व।
णिवासिदा सुपया अवि, पावीअ जहेच्छ-इट्ठ फलं॥47॥

1819. णंदंत-विहरंत-उड्डंत-बहुविह-पक्खीव काणणम्मि।
णिवासिदा-वदी सुहं, संतिं लहीअ आणंदं वि॥48॥

1820. काणणम्मि विज्जमाण-दक्खिणरुक्खा जह तह पवड्ढंति।
णिवासिद-सरल-पुरिसा, सवरहिदतप्परा फलंता॥49॥

1821. विवरीय-वक्क-रुक्खा, सुक्का पुप्फफलपत्तविहीणाय।
केवलं मूलजुत्ता णट्ठ-जोग्गा य खयंति सयं॥50॥

1822. जह तह राय-समीवे, णेह-वद-चरियाइ-रहिदा कुडिला।
जडबुद्धिसहिद-णरा वि, सयमेव चिय पावकिदेहिं॥51॥(जुम्मं)

1823. परिहाएज्ज विवत्थिद-मुल्ल-सुवत्थाणि पया हु देसस्स।
णारी देवंगणा व्व, धरित्तु कणगाइ-भूसणाणि॥52॥

1824. जीवरक्खंता तित्थ-जत्ताइ गच्छीअ समये समये।
उवाणया-रहिदा सुद्धभावणाइ गुरु-वंदणाइ॥53॥

जिस प्रकार एक विशाल देश में पर्वत, नदी आदि से संयुक्त व अनेक वृक्षों से सहित महाअरण्य होता है उसी प्रकार महापुण्यवान् राजा अशोक उत्कृष्ट यशकीर्ति रूपी पर्वत, करुणा रूपी नदी एवं वात्सल्य आदि गुण रूपी वृक्षों से सहित था।।43-44।। जिस प्रकार वन में बहुत प्रकार के खिले हुए पुष्प होते हैं उसी प्रकार उल्लास व प्रमोदपूर्वक राजा में परोपकार, मैत्री, प्रमोद आदि प्रशस्त भाव थे।।45।। जिस प्रकार परस्पर घर्षण से सूखे वृक्ष स्वयं ही जल जाते हैं उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से राजा में विद्यमान विकार भी नष्ट हो गए थे।।46।। जिस प्रकार वन में आश्रित बहुत जीव अपने इष्ट कार्यों की सिद्धि करते हुए रहते हैं, उसी राजा के आश्रित प्रजा भी यथेच्छ फल प्राप्त कर रही थी।।47।। जिस प्रकार वन में बहुत प्रकार के पक्षी विचरण करते हुए, उड़ते हुए आनंदित होते हैं उसी प्रकार उस राजा के देश में रहने वाले व्रतीजन सुख, शांति व आनंद को प्राप्त कर रहे थे।।48।। जिस प्रकार वन में विद्यमान सीधे वृक्ष वृद्धि को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार वहाँ देश में रहने वाले स्व-पर हित में तत्पर सरल पुरुष फलित हो रहे थे, वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे।।49।। इसके विपरीत जो वक्र वृक्ष हैं, पुष्प, फल व पत्तों से विहीन शुष्क वृक्ष हैं, केवल मूल से युक्त हैं, वे नष्ट होने के योग्य हैं या वे स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार राजा के समीप स्नेह-वात्सल्य, व्रत, चारित्र आदि से रहित, कुटिल व जड़ बुद्धि से सहित लोग भी अपने पापकृत्यों से स्वयं ही नष्ट हो जाते थे।।50-51।। उस देश की प्रजा व्यवस्थित, मूल्यवान् समीचीन वस्त्रों को धारण किया करती थी। उस समय स्वर्ण आदि के आभूषणों को धारण कर नारियाँ सुरांगनाओं के समान प्रतिभासित होती थीं।।52।। समय-समय पर उस देश के नागरिक तीर्थयात्रा व गुरु-वंदना के लिए जीवों की रक्षा करते हुए नंगे पैर जाया करते थे।।53।।

1825. विवत्थिद-वेस-भूसं, पस्सिय रोहीअ ताण चित्ते णो।
कुराग-वासणाय, थुदि-आइ-करंता गंधव्वोव्व॥54॥

1826. तत्थ णरा णारीओ, धारीअ भूसणाणि उच्छाहेण।
सभूसणा हु करेज्जा, जिणभत्ती सुगुरुवंदणा य॥55॥

1827. अणेगविहपुप्फेहिं, सदेहं मंडीअ बहुणरणारी।
जं पुप्फाणि णंद-सुह-संति-सुंदरिमाण हेदू य॥56॥

1828. सुंदर-सुहग-सुंगधिद-पुप्फेहि सुसज्जिदं जणसमूहं।
अवयच्छिदूणं तदा, उल्लासुच्छाह-कारगेहि॥57॥

1829. भमरा हवेज्ज भमिदा, णर-णारी वा पुप्फजुत्तरुक्खा।
आगरिसगुववणंवा, तिव्वासत्तामयरंदम्मि॥58॥(जुम्मं)

1830. धारीअ पुण्णवंता, सुवण्णरजदरयणाभूसणाइं।
पुण्णहीणा लहंते, णेव कयावि इट्ठवत्थूणि॥59॥

1831. कणगभूसण-धारगा, सच्चवायि-णायपिय-सयायारी।
सुवण्णं व फुडवादी, वेरागी सुधम्मसीला य॥60॥

1832. पाहण्णेणं राओ, णयरसेट्ठी धणिगा महाजणा य।
कणयरयद-भायणेसु, करीअ भोयणं हरिसंता॥61॥

1833. विमलभावेहि भक्खं, फासुगं मज्जादिदं पच्चग्गं।
वड्ढगंवत्तसमाइ-गुणाणपसत्थवियारंता॥62॥(जुम्मं)

1834. अमियं व पुट्ठिमंतं, सुद्धभावेहि भुंजावणत्तादु।
महोसहिरूवं तं च, पयणत्तादु गहणत्तादो॥63॥

1835. तत्थ बाला जुवदी य, मज्जादिदा लज्जापइत्तआ य।
केसबंधणजुदा तं, विंतराइ-बाहा अप्पा दु॥64॥

1836. होज्जधम्मविवज्जिदा, सूदग-पादगाइ-असुद्धियाले।
रिउयालेतियदिवसा, णोकरीअगिहकज्जंकंपि॥65॥

सभी की वेशभूषा व्यवस्थित हुआ करती थी। किसी की वेशभूषा को देखकर उनके चित्त में कुराग या वासना उत्पन्न नहीं हुआ करती थी। स्तुति आदि करते हुए वे लोग गंधर्व के समान प्रतीत होते थे।।54।। वहाँ नर-नारियाँ सभी उत्साहपूर्वक आभूषण धारण किया करते थे। उन्हीं आभूषणों से युक्त वे जिनेंद्रभक्ति व गुरु-वंदना किया करते थे।।55।। बहुत से नर-नारियाँ अनेक प्रकार के पुष्पों से अपनी देह को मंडित किया करते थे; क्योंकि पुष्प आनंद, सुख, शांति और सौंदर्य का कारण हैं।।56।। उल्लास व उत्साह के कारक सुंदर, सुभग व सुगंधित पुष्पों से सजे हुए जनसमूह को देखकर पुष्प पराग में तीव्रासक्त भ्रमर भी यह सोचकर भ्रमित हो जाते थे कि ये नर-नारी हैं या पुष्पों से सज्जित वृक्ष हैं अथवा कोई उपवन ही है।।57-58।। पुण्यवान् जीव स्वर्ण, चाँदी व रत्नों के आभूषण धारण किया करते थे। पुण्यहीन जीव इष्ट वस्तुओं को कदापि प्राप्त नहीं करते।।59।। स्वर्णाभूषणों को धारण करने वाले सत्यवादी, न्यायप्रिय व सदाचारी होते हैं। वे स्वर्ण के समान स्पष्टवादी, वैरागी व धर्मशील होते हैं।।60।। राजा, नगरश्रेष्ठी, धनिक और महाजन हर्षित होते हुए, प्रशस्त विचार करते हुए निर्मल भावों से आरोग्य, शम आदि गुणों की वृद्धि करने वाला भक्ष्य, प्रासुक, मर्यादित व श्रेष्ठ भोजन प्रायःकर स्वर्ण व चाँदी के बर्तनों में किया करते थे।।61-62।। शुभ भावों से भोजन पकाने, कराने व ग्रहण करने से वह उनके लिए अमृत के समान पुष्टिकारक व महौषधि रूप होता है।।63।। वहाँ बालिकाएँ व युवतियाँ मर्यादित व लज्जावती थीं। उनके केश बंधन को प्राप्त रहते थे अतः वहाँ व्यंतरादि की बाधा अल्प थी।।64।। सूतक-पातकादि अशुद्धिकाल में वे सभी धर्मकार्यों से विवर्जित होते थे। ऋतुकाल में तीन दिन वे नारियाँ कोई भी गृहकार्य नहीं किया करती थीं।।65।।

1837. बहुआ सम्माइट्ठी, मिच्छाइट्ठी य अइ-णूणा तत्थ।
णो पुज्जीअ कुदेवा, तं लोगिग-कज्ज-सिद्धीए॥66॥

1838. मेत्तं ण गिहकज्जेसु, अण्णकज्जेसु पवीणा णारी वि।
सुराय-धम्म-रण-णाय-णीदीसुंववहार-कुसला॥67॥

1839. सद्दविज्जा-सिद्धंत-अज्झप्प-आगम-दंसणसत्थेसु।
चउसट्ठि कलासुं ता, णिउणा सीलवंता णारी॥68॥

1840. बाल-बालिगा तत्थ य, थिरबुद्धी सुसिक्खा-सक्कारेसु।
कुविज्जाइ-विहीणादु, विवज्जिदा अणट्ठ-कज्जादु॥69॥

1841. भासीअ बालिगा ता, महुरभासिया सुकोमलकलिगा व।
मिदु-हास-विलास-जुदा, मणरंजग-सुहदा सुजणाण॥70॥

1842. सुहगइगामिया देव-कण्णा व्व सुंदरी पुण्ण-णिमित्ता।
सहजेण आगरिसगा, सीला मज्जादा-रक्खगा॥71॥

1843. अणेगसुलक्खणजुदा, बहुवण्णिवत्थजुदा सुगुणसहिदा।
उववणंवहु भासीअ, विविहकलाविज्जा-संजुदा॥72॥

1844. सुरभिदं गेहंगणं, जह तह उववणेणं बालिगाणं।
बाल-सुलह-चेट्ठाए, कसायुवसमिदो सुजणाणं॥73॥

1845. पुप्फाइं पस्सित्ता, कोमलपरिणामा होज्ज पुरिसाण।
जह तह बालिगाओ दु, मदविहीणा सहजरूवेण॥74॥

1846. रुक्खा फलभारेणं, विणीदा मणमोहग-पुप्फवंता।
सुहदा सगछायाइ, जह तह कण्णाओ अवि तत्थ॥75॥

वहाँ मुख्यता से सम्यग्दृष्टि जीव ही थे, मिथ्यादृष्टि जीव बहुत कम थे। अतः लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए वे कुदेवों की पूजा नहीं किया करते थे।।66।। नारियाँ मात्र गृहकार्यों में ही निपुण नहीं थीं अपितु अन्य कार्यों में भी निपुण थीं; राजनीति, धर्मनीति, रणनीति व न्यायनीति में भी निपुण थीं। वे व्यवहार-कुशला थीं।।67।। वे शीलवती नारियाँ शब्दविद्या, सिद्धांत, अध्यात्म, आगम, दर्शनशास्त्र व चौंसठ कलाओं में निपुण थीं।।68।। वहाँ बालक व बालिका सम्यक् शिक्षा व संस्कारों में स्थिर बुद्धि वाले थे। वे कुविद्याओं से विहीन तथा अनर्थकारी कार्यों से विवर्जित थे।।69।। वे बालिकाएँ सुकोमल कली के समान प्रतिभासित होती थीं। वे मधुरभाषिणी, सुकोमला, हास-विलास से युक्त, सज्जनों के मन को रंजायमान करने वाली व सुख प्रदान करने वाली थीं।।70।। वे बालिकाएँ गजगामिनी, देवकन्याओं के समान सुंदरी, पुण्य की निमित्त, सहज ही आकर्षक, शीलवती व मर्यादा की रक्षा करने वाली थीं।।71।। अनेक सुलक्षणों से युक्त, बहुवर्णी वस्त्रों से युक्त, गुणों से सहित, विविध कला व विद्या से संयुक्त वे बालिकाएँ उपवन के समान ही प्रतिभासित होती थीं अर्थात् जिस प्रकार अनेक प्रकार के विविध वर्णी पुष्पों से उपवन सुशोभित होता है उसी प्रकार वे बालिकाएँ विविध कला, विद्या व गुणों से सुशोभित थीं।।72।। जिस प्रकार उपवन से गृहांगन सुगंधित हो जाता है उसी प्रकार बालिकाओं की बाल सुलभ चेष्टा से सज्जनों की कषाय उपशमित हो जाती थीं।।73।। जिस प्रकार पुष्पों को देखकर लोगों के परिणाम कोमल हो जाते हैं उसी प्रकार उन बालिकाओं को देखकर पुरुषों के परिणाम सहज ही अहंकार से रहित-ऋजु हो जाते थे।।74।। जिस प्रकार वृक्ष फलों के भार से झुके हुए, मन को मोहने वाले, पुष्पों से युक्त व अपनी छाया से सभी को सुख प्रदान करने वाले होते हैं उसी प्रकार वहाँ युवतियाँ उन्नत उरुओं के भार से झुकी हुईं, अपने गुणों व चेष्टाओं से मन को मोहने वाली, पुष्पवती व अपनी उपस्थिति से सभी को सुख प्रदान करने वाली थीं।।75।।

1847. ता आलस-विहीणा य, सव्व-कज्जेसुं तप्परा हयोव्व।
बुद्धिमंता विअड्ढा, भवणं सुसक्कार-सिक्खाण॥76॥

1848. णिब्भया य णिस्संका, विक्कमा सीह-सावगोव्व बाला।
अणट्ठ कज्जविरहिदा, अण्णायाणीदि-विमुहा चिय॥77॥

1849. धवलमेहोव्व पुरिसा, णिट्ठावंता य सुदाण - धम्मम्मि।
मण्णेज्ज विणा दाणं, किण्हमेहोव्व मुहं किण्हं॥78॥

1850. दायग-मेहो उच्चो, गाहगा सर-खादिगा अहट्ठिदा।
दाणधम्मम्मिवसणी, धवलुज्जलो णिज्जलघणोव्व॥79॥

1851. ठाणणेगेसु किड्डागिहा णाडयसाला उववणाणि य।
णर-णारीणं पिथगुच्छवा वस्से मज्जादाए॥80॥

1852. सरद-वसंत-हेमंत-पाविडयालेसु वा जिणपूयाइ।
मणोरंजणं करीअ, भत्तिणच्च-कित्तणादीहि य॥81॥

1853. सुणाणं पसारेदुं, उत्तम-गुरुकुल विज्जागिहा तत्थ।
णाणगोट्ठीए तच्च-वत्ताइ वड्ढेज्ज सुणाणं॥82॥

1854. रायाणाए णिम्मावीअ पसुपक्खीण करुणाधीए।
सेट्ठ चारिगिहा वास - ठाणाणि पेयजलववत्था॥83॥

1855. वंदुरा गो-मेस-गय-आदीण णिम्माविदाणि सालाणि।
जं णिवो ण मेत्तं णर-रक्खगो दु पसुपक्खीणं पि॥84॥

1856. दुरिताइं कुवियारा, अवराहा दुल्लहा तत्थ जह तह।
दिवायर-दंसणं णो, पाविडे घणेणच्छादणे॥85॥

1857. णो पइडि-पकोवो अइ-वरिसा अणावरिसा महामारी।
णिरावाह-सुहं सव्व-पया राओ भुंजीअ तत्थ॥86॥

वे बालिकाएँ अश्व के समान सर्वकार्यों में आलस्य से रहित व कार्य करने में तत्पर रहती थीं। वे बुद्धिमान्, पांडित्य से युक्त एवं सुसंस्कार व सुशिक्षा का भवन ही थीं।।76।। वहाँ बालक निर्भय, निःशंक, सिंह के बच्चे के समान पराक्रमी, अनर्थ कार्यों से रहित एवं अन्याय व अनीति से विमुख थे।।77।। पुरुष धवल मेघों के समान सम्यक् दान-धर्म में निष्ठावान् थे। दान दिए बिना उस व्यक्ति का मुख भी श्याम मेघ के समान श्यामल माना जाता है। (और जब वे श्याम मेघ जल बरसा देते हैं तब वे धवल रूप हो जाते हैं)।।78।। देखो देने वाले बादल ऊँचे होते हैं और ग्रहण करने वाले सरोवर व खाई नीचे होते हैं। दान-धर्म में व्यसनी (लीन) जन निर्जल मेघों के समान उच्च, उज्ज्वल व धवल होते हैं।।79।। वहाँ अनेक स्थानों पर क्रीड़ागृह, नाट्यशाला और उपवन थे जहाँ स्त्री व पुरुषों के पृथक् उत्सव मर्यादापूर्वक वर्ष में कई बार हुआ करते थे।।80।। शरद ऋतु, वसंत ऋतु, हेमंत ऋतु व वर्षाकाल में वे देवपूजा, भक्ति, नृत्य व कीर्तन आदि के द्वारा मनोरंजन किया करते थे।।81।। समीचीन ज्ञान के प्रसार के लिए वहाँ उत्तम गुरुकुल व विद्यागृह थे। वहाँ लोग ज्ञान गोष्ठी व तत्त्ववार्ता के द्वारा सम्यग्ज्ञान का वर्धन किया करते थे।।82।। राजा की आज्ञा से करुणाबुद्धि पूर्वक पशु-पक्षियों के लिए श्रेष्ठ चारागृह व निवास स्थान का निर्माण कराया गया था।।83।। वहाँ अश्वशाला, गौशाला, भेड़शाला, गजशाला आदि का निर्माण भी कराया गया क्योंकि राजा न केवल मनुष्यों का रक्षक होता है अपितु पशु व पक्षियों का भी रक्षक होता है।।84।। वहाँ कुविचार, कुविकार व पाप उसी प्रकार दुर्लभ थे जिस प्रकार वर्षाकाल में बादल के द्वारा ढके जाने पर सूर्य का दर्शन नहीं होता।।85।। वहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि प्रकृति प्रकोप नहीं होते थे। राजा व प्रजा सभी निराबाध सुख भोगते थे।।86।।

1858. णोकंखीअपरधणं,इत्थि-महियारमण्णपद-खेत्ताणि।
सोहग्गं सिरिदुं पडिफद्धं करीअ उच्छाहेण॥87॥

1859. सिक्खगाणं धवलं च, पूयगाण पीदवत्थं णिरवज्जं।
धणिगाणंरत्तिमंच,ताणंव भवणाणवण्णावि॥88॥

1860. कट्ठणिम्मिद-वाहणं,विहिण्ण-सगडंरहंचइच्चादी।
सिविगा पउत्ता तदा, णारीणं गमणागमणस्स॥89॥

1861. उत्तम-पुट्ठिग-सादू,सहजुप्पण्ण-फल-पुप्फसागादी।
बहुविह-धण्णंचसुक्क-फलाइंतिलहणाइंतत्थ॥90॥

1862. तेहि णिट्ठाणं तत्थ,पयिदं गोरस-णिम्मिद-वंजणं च।
इक्खुरस - खज्जूरेहि, पिंडगुलादीहि मिट्ठण्णं॥91॥

1863. पव्वेसु आमंतीअ, अइणेहेणं परोप्परे जणा दु।
णेह - मित्त - भावाणं,तहा पविड्ढि - हेदुत्तादो॥92॥

1864. सगसंताणा णिवेण, पढाविदा जहवि वरपाढगेहिं।
तहवि धम्म-मज्जादायाराण दायिदा सुसिक्खा॥93॥

1865. सिक्खावेज्जसुपुत्ता,धम्म-राय-समाय-लोयणीदीउ।
साम-दाम-दंड-भेद-णीदी विज्जाउच्छाहेण॥94॥

1866. तित्थयर-पुरुदेव-अणुसज्जंतोअणेगलिवीकलाअवि।
दव्वाइ-अणुसारेण,सव्वासिदा सिक्खा वेज्जा॥95॥

1867. बंभि-पहुदि-लिवीतहा,वत्थु-जोदिस-वज्ज-णच्चाइ-कला।
णाडय - संगीदादी, सुधम्मवड्ढगा जीविगा य॥96॥

1868. असि-संचालणं तहा, धणुसंधाणं अवि बहुविहवेहा।
दंद - मल्लाइ - जुज्झं,भिंडिमालाइ - सुप्पओगं॥97॥

कोई दूसरे के धन, स्त्री, अधिकार, पद व खेत आदि की आकांक्षा नहीं करता था। सौभाग्य के निर्माण के लिए वे उत्साहपूर्वक प्रतिस्पर्द्धा करते थे।।87।। तब शिक्षकों के वस्त्र धवल, पुजारियों के पीत तथा धनिकों के लाल होते थे। वस्त्र निर्दोष-निरवद्य हुआ करते थे। उनके समान ही उनके भवनों के वर्ण भी थे।।88।। उस समय लकड़ी से बने वाहन, विभिन्न गाड़ियाँ व रथ इत्यादि थे। नारियों के गमनागमन के लिए पालकी का प्रयोग होता था।।89।। वहाँ उत्तम, पौष्टिक, स्वादिष्ट व सहजोत्पन्न फल-पुष्प-सब्जी आदि एवं बहुत प्रकार के धान्य, शुष्क फल तथा तिलहन आदि थे।।90।। वहाँ उनके द्वारा सर्वगुणयुक्त भोजन, गोरस से निर्मित व्यंजन एवं इक्षुरस, खर्जूर व गुड़ आदि से मिष्ठान्न बनाया जाता था।।91।। स्नेह और मित्र भावों की वृद्धि का कारण होने से वे लोग पर्वों पर एक-दूसरे को अति-स्नेहपूर्वक आमंत्रित किया करते थे।।92।। यद्यपि राजा ने अपनी संतानों को श्रेष्ठ पाठकों से पढ़वाया तथापि उसने अपनी संतानों को धर्म, मर्यादा व आचरण की समीचीन शिक्षा प्रदान की।।93।। अपने पुत्रों को उसने धर्मनीति, राजनीति, समाजनीति व लोकनीति सिखायी। उसने उत्साहपूर्वक साम, दाम, दंड, भेद नीतियाँ व विद्याएँ भी सिखायीं।।94।। तीर्थंकर पुरुदेव का अनुसरण करते हुए राजा ने अपने पुत्र को अनेक लिपी व कला भी सिखायीं। द्रव्यादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) के अनुसार सभी आश्रितों को भी कलादि सिखायीं।।95।। ब्राह्मी आदि लिपी, वास्तुकला, ज्योतिषकला, वाद्यकला, नृत्यकला, नाट्यकला, संगीतकला, सद्धर्मवर्द्धक कला व आजीविका आदि कलाएँ सिखायीं।।96।। असि संचालन, धनुषबाण चलाना, बहुत प्रकार के वेध, द्वंदयुद्ध, मल्ल आदि युद्ध, भिंदिपाल आदि का प्रयोग भी सिखाया।।97।।

1869. णिज्जणारण्ण-गमणं,रह-संचालण-मस्सगयारुहणं।
पहुदीबहुविह-सुकला,सिक्खावेज्जवरविगासाय॥98॥

1870. पडिवासेकत्तिय-सिद-पक्खम्मि पारंभ-सत्तदिवसेसु।
पडिप्फद्धा विहिण्ण-सुकला-कउसलाण णिव-हुत्ते॥99॥

1871. पुण णंदीसर-पव्वे, कडुअ ठवणं णंदीसरदीवस्स।
णंदीसर-महच्चणं, सिद्धचक्क-अच्चणं कुणीअ॥100॥

1872. पच्छा, विजयी जणा दु, रायेण सह सुह तित्थजत्ताए।
अवसरं लहीअ ताण, सम्माण-पदिट्ठा-वड्ढगं॥101॥

1873. पडिवासोव्वहुपडिहा-संपण्ण-वर-जुवा-जुवदीविजयी।
माणीअ इह वासे वि, पुरक्कारो घोसिदो तेण॥102॥

1874. गच्छीअ पुव्व-वासे, सम्मेद-सिहरं जत्ताइ जह तह।
गच्छिस्सामो अहुणा, अट्ठापदं जिणवंदणाइ॥103॥

1875. सस्सदं तित्थभूमिं-अजुद्धं अण्ण-तित्थयराणं अवि।
जम्ममहिं भावाणं,विसुद्धीइपावक्खयेदुं॥104॥(जुम्मं)

1876. हणिहणिं व तद्दिणे वि, रायो जिणहिसेगं पूयं कडुअ।
दार-पेक्खण-कुणंतो,मुणि-पडिग्गहण-तप्परोसो॥105॥

1877. तदा गगणमग्गादो,इड्ढि-संपण्णो मुणिवर-जुगलो य।
आवीअ तमहारगो,णाणपसारगो अक्किंकदु व्व॥106॥

1878. मुणिदंसणेण खयंति, मिच्छत्तं अण्णाणं भव्वाणं।
कोआसंति चित्ताणि,अक्कुदयेणं कमलाइं व॥107॥

निर्जन वन में गमन, रथ संचालन, अश्वारोहण, गजारोहण आदि बहुत प्रकार की कलाएँ उनके श्रेष्ठ विकास के लिए उन्हें सिखायीं।।98।। प्रत्येक वर्ष कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के प्रारंभ के सात दिनों में राजा के सन्मुख विभिन्न श्रेष्ठ कलाकौशल की प्रतिस्पर्धा हुआ करती थी।।99।। पुनः नंदीश्वर पर्व में नंदीश्वर द्वीप की स्थापना करके नंदीश्वर महार्चना वा सिद्धचक्र अर्चना की जाती थी।।100।। पश्चात् विजयीजनों को सम्मान व प्रतिष्ठा में वृद्धि करने वाला राजा के साथ-शुभ तीर्थयात्रा का अवसर प्राप्त होता था।।101।। प्रतिवर्ष के समान इस वर्ष भी विजयी प्रतिभा संपन्न श्रेष्ठ युवक व युवतियों का सम्मान किया गया एवं राजा के द्व ारा पुरस्कार भी घोषित किया गया।।102।। जिस प्रकार पिछले वर्ष यात्रा के लिए सम्मेद शिखर गए थे उसी प्रकार अब जिनवंदना के लिए हम अष्टापद जाएँगे एवं शाश्वत तीर्थक्षेत्र अयोध्या एवं अन्य तीर्थंकरों की जन्मभूमि भी विशुद्धिपूर्वक व पापक्षय के लिए जाऐंगे; इस प्रकार की घोषणा भी की गई।।103-104।। प्रतिदिन की भाँति उस दिन भी राजा अशोक जिनाभिषेक व पूजन करके द्वारप्रेक्षण करते हुए मुनिराज के पड़गाहन के लिए तत्पर हुए।।105।। तभी आकाशमार्ग से ऋद्धि संपन्न, सूर्य-चंद्रमा के समान अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करने वाले, ज्ञान का प्रसार करने वाले मुनि युगल पधारे।।106।। अहो! मुनिराज के दर्शन से भव्यों का मिथ्यात्व व अज्ञान नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय से कमल विकसित होते हैं उसी प्रकार मुनि दर्शन से भव्यों के चित्त विकसित हो जाते हैं।।107।।

1879. पडिग्गहं करेज्जसग-सहधम्मिणि-रोहिणीए सह णिवो।
मणवयणकायेसणा - सुद्धिं भणित्ता आयरेण॥108॥

1880. पवेसं करावि दूण, उच्चासणं दु भोयणसालाए।
देज्जपुणपक्खालित्तु,सिरिमुणिवर-चरणंअच्चीअ॥109॥(जुम्मं)

1881. अणंतरं पणमंतो, सत्तगुणेहि इगवीसेहि सह वा।
विहाय पणदूसणाणि , धरित्ता पंचाभूसणाणि॥110॥

1882. संजम - सज्झाय - धम्म - वड्ढगं णिद्दोसाहारं देज्ज।
अदियारंमुंचित्ता ,तहासगवर-अणुग्गहत्थं॥111॥(जुम्मं)

1883. सद्धा भत्ती तुट्ठी, खमा सत्त-मलुद्धत्तं विवेगो।
जाणेज्जा दायगस्स, सत्तविसेसगुणा समयेण॥112॥

1884. आयरेणं सुदाणं, महुरवयणेहि णिम्मलभावेहिं।
तहा अहोभावेणं, परमाणंदेण भूसणाणि॥113॥

1885. तव्विवरीय-दूसणं, सावगा चिअ णिल्लुंछिदूणं तं।
आहारं दाएज्जा, लहिदुं सम्मफलं दाणस्स॥114॥

1886. परववदेसो य तहा, सचित्तणिक्खेवो पिहाणं जाण।
मच्छरोयअदिक्कमो ,कालस्सदाणपणदियारा॥115॥

1887. सव्वरायकुडुंबेण, उच्छाहेण दायिदो आहारो।
पच्छा रायभवणम्मि ,पणच्छरिअं तस्स फलेणं॥116॥

1888. सुदुंदुभि-वादणं खे ,दाण-महो! दायगो! अहो पत्तो!।
मंदसुगंधिदपवणं, पुप्फविट्ठी रयणविट्ठी य॥117॥

1889. इत्थं देज्जा सव्वा, ते पुण्णवंता आहारदाणं।
अणेगवारं कुणीअ पणमेरु-णंदीसर-पूयं॥118॥

1890. अकिट्टिमजिणसदणाण, सव्वदोभद्दं दु इंदद्धयं च।
पंचकल्लाणपूयं ,सिद्धमहीए उच्छाहेण॥119॥(जुम्मं)

तब अपनी सहधर्मिणी रोहिणी के साथ राजा ने मुनिराज का पड़गाहन किया। मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि व आहारशुद्धि बोलकर आदरपूर्वक भोजनशाला में प्रवेश कराकर उच्चासन दिया। पुनः मुनिवर के चरणों का प्रक्षालन कर उनकी पूजन की।।108-109।। अनंतर प्रणाम करते हुए स्व-पर अनुग्रह के लिए पाँच दूषणों को छोड़कर पाँच भूषणों को धारण कर अतिचारों का त्याग कर दाता के सात व इक्कीस गुणों के साथ संयम, स्वाध्याय व धर्मवर्द्धक निर्दोष आहार मुनिराज को प्रदान किया।।110-111।। श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, क्षमा, सत्व, अलुब्धता और विवेक ये दाता के सात विशेषगुण आगम से जानने चाहिए।।112।। आदरपूर्वक दान देना, मधुर वचनों के साथ दान देना, निर्मल भावों से, अहोभाव व परमानंद से दान देना ये दाता के पाँच आभूषण जानने चाहिए।।113।। इन भूषणों के विपरीत दूषण होते हैं। दान के सम्यक् फल को प्राप्त करने के लिए श्रावकों को उन दूषणों का त्याग करना चाहिए।।114।। परव्यपदेश, सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, मात्सर्य व काल का अतिक्रम ये दान के पाँच अतिचार हैं।।115।। सर्व राजपरिवार ने उत्साहपूर्वक मुनिराज को आहार दिया। पश्चात् उसके फलस्वरूप राजभवन में पंचाश्चर्य प्रकट हुए।।116।। आकाश में दुंदुभि वादन, अहो दान! अहो दाता! अहो पात्र! (की देवों द्वारा ध्वनि), मंद-सुगंधित पवन, पुष्पवृष्टि व रत्नवृष्टि।।117।। इस प्रकार वे सभी पुण्यवान् आहार दान देते थे। अनेक बार सिद्धभूमि पर उत्साहपूर्वक पंचमेरु पूजन, नंदीश्वर पूजन, अकृत्रिम जिनमंदिरों की पूजन, सर्वतोभद्र व इंद्रध्वज पूजन किया करते थे।।118-119।।

1891. मदणहलिपदं वा सेट्ठरज्जाहिसेगं,
सुहदमहिसिमाणायारिपुत्ता सुपुत्ती।
हयगयरहजुत्तं, वाहिणिं पाउणंते,
जयबलसिरिकित्ती, पत्तदाणेण भव्वा॥120॥

1892. दयदि सुमुणिदाणं, तिव्वभत्तीइ जो सो,
सयलसुहगुणेहिं, भूसणेहिं जुदो वा।
णरसुरवरसोक्खं, पावदे भोयभूमिं,
सय सिवसुहहेदू, पत्तदाणं कमेण॥121॥

1893. रजदसुकलधोदं, तुंगमेरू व्व दाणं,
रयणमणिमयत्थं, णायछक्खंड - भूमिं।
गयहयपहुदी वा, लक्खकोडी वरं ओ,
सयलविहवदाणं, पत्तदाणं समं णो॥122॥

मुनिराजों को आहार दान देने से भव्यजीव कामदेव व बलभद्र जैसे पदों को, श्रेष्ठ राज्याभिषेक को, सुख देने वाली रानी, आज्ञाकारी पुत्र व पुत्री, हाथी-घोड़ों व रथों से युक्त सेना, विजय, बल, लक्ष्मी व कीर्ति को प्राप्त करते हैं।।120।। जो सकल शुभ गुण व भूषण ाों से युक्त जीव तीव्र भक्ति से मुनिराज को आहारदान देता है वह भोगभूमि, मनुष्य व देव के श्रेष्ठ सुखों को प्राप्त करता है। पात्रदान नियम से सदैव मोक्ष सुख का हेतु है।।121।। मेरु पर्वत के बराबर सोने-चाँदी का दान, रत्नमणिमय पदार्थों का दान, प्रसिद्ध छः खंड की भूमि का दान, लाखों-करोड़ों हाथी-घोड़ों आदि का दान व सकल वैभव का दान, श्रेष्ठ पात्रदान के समक्ष कुछ भी नहीं है।।122।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक-रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में राजा अशोक द्वारा सुव्यवस्थित राज्य संचालन का वर्णन करने वाला सोलहवाँ नंद पूर्ण हुआ।।

सत्तरसम-णंदो

1894. सगवस्सविड्ढिदिवसे, एयदा दु सग-सीहसणारूढो।
रायपासादे णिवो, रोहिणीइ सह आणंदेण॥1॥

1895. सहसापस्सिदोताइ,सिरोवरिणियपदिअसोगस्सतदा।
एगसेदकेसो तं, थक्कविदं उप्फालिदूणं॥2॥

1896. तस्स करपउमम्मि चिय, हस्संताए य महाराणीए।
तं केसं पस्सित्ता, इत्थं विचिंतीअ राओ दु॥3॥

1897. जह सहजदाए किण्ह-केसा परिवट्टेज्ज सेदवण्णे।
तहेव जोवणादो हु, बुड्ढावत्थाए सरीरं॥4॥ (तिअं)

1898. हरिद-पत्ताण पीदे, परिवट्टणं अंतकालं ताणं।
जह तह दंसावेदि य, किण्हाण सेदे जीवाणं॥5॥

1899. जह कलिगासुविअसिदं,पुप्फं होच्चा पडेदि रुक्खादो।
पुण पक्कफलं तहेव, विवागयाले पुण्णफलं पि॥6॥

1900. सरीरेगे विणट्ठे, पुण देह-पावण-मसुद्धजीवस्स।
पवट्टी होदि तह जह, णिसाए अणंतरं दिवसो॥7॥

1901. जावदु जलं सरिदाइ, जावदु रयणरासी सायरम्मि य।
पाणो देहे तावदु, करेज्ज चिय सगकज्जसिद्धिं॥8॥

1902. जो लोयम्मि विवित्तो, मरणपुव्वम्मि सो सगकल्लाणं।
करिदुं सक्कदि खयित्तु, भवकारणं सव्वकम्मं च॥9॥

1903. थेज्ज-मसंभवो जिण्ण-सहाविस्स चिय रोयमय-देहस्स।
सामग्गि-संगहणं पि, पावो तस्स पोसगस्स खलु॥10॥

1904. देहसुहं दिंता अवि, देहो णेव कया वि दु पुण्णसुही।
आउक्खीणेसोखलु,खयदिअक्क-करेहिओसाव्व॥11॥

एक बार अपने वर्षवृद्धिदिवस (जन्मदिन) के अवसर पर महाराज अशोक राजप्रासाद में महारानी रोहिणी के साथ अपने सिंहासन पर बैठे हुए थे।।1।। तभी अचानक महारानी रोहिणी की दृष्टि अपने पति महाराज अशोक के सिर पर आए एक सफेद बाल पर गयी। महारानी ने हँसते हुए वह श्वेत बाल उखाड़कर उस राजा के हस्त कमल पर रख दिया। उस केश को देखकर राजा ने इस प्रकार विचार किया; जिस प्रकार काले बाल सहजता से श्वेत वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं उसी प्रकार संसारी जीवों का शरीर यौवनावस्था से वृद्धावस्था रूप परिवर्तित हो जाता है।।2-4।।जिस प्रकार हरे पत्तों का पीत वर्ण में परिवर्तन उनके अंतकाल को दर्शाता है उसी प्रकार जीवों के काले बालों का श्वेत में परिवर्तन उनके अंतकाल को दर्शाता है।।5।। जिस प्रकार कलि, खिला हुआ पुष्प होकर पेड़ से गिर जाती है अथवा फल भी पककर वृक्ष से गिर जाता है उसी प्रकार विपाककाल में पुण्य-फल भी नष्ट हो जाता है।।6।। जिस प्रकार रात्रि के बाद दिन होता है उसी प्रकार एक शरीर के नष्ट होने पर पुनः देह का प्राप्त करना अशुद्ध जीव की प्रवृत्ति होती है।।7।। जब तक नदी में जल है, जब तक सागर में रत्नराशि है, देह में प्राण हैं तब तक अपने कार्य की सिद्धि करनी चाहिए।।8।। जो लोक में विवेकवान् है वह मरण के पूर्व संसार के कारणभूत सर्व कर्म क्षयकर अपना कल्याण करने में समर्थ होता है।।9।। जीर्ण स्वभावी, रोगमय इस शरीर की स्थिरता असंभव है। इसकी पोषण सामग्री का संग्रह करना भी पाप है।।10।। देह को सुख देते हुए भी वह देह कभी भी पूर्ण सुखी नहीं होती। वह आयु के क्षीण होने पर उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे सूर्य की किरणों से ओस की बूंद नष्ट हो जाती है।।11।।

1905. गगणम्मि इंदधणुं व, मेहोव्व चवला व इंदजालं व।
खणधंसी हु सरीरं, इंदीवरदलगदणीरं व॥12॥

1906. बहिरम्मि इमो देहो, कंतिवंतो पडिब्भासदि रयणं व।
रयणं उहयभागम्मि, कंतिवंतं णवरि देहो ण॥13॥

1907. पुध पुध कुणदि पवट्टिं, बहिअंतरेसुं जो को वि पुरिसो।
सो कहं णेव दुट्ठो, कुडिलो वक्को अहोगामी॥14॥

1908. भोयेसु कसायेसुं, पावेसुं लीणो दुट्ठो जो सो।
इमादु विरत्त-सिट्ठो, विवित्तो कल्लाणजोग्गो य॥15॥

1909. को णो जाणदि जीवो, णासवंता दु पंचिंदिय-भोया।
तह वि मोही दु पुण पुण, भुंजदि दुग्गइ-हेदु-भोया॥16॥

1910. मज्जदि मलिण-जलंणो, मलं जह मलिणभायणवत्थाणं।
मालिण्णं भोगेहिं, मणं कहं होदि तह सुद्धो॥17॥

1911. रत्तेण णो जह धुवदि, रत्तरंजिदपडो कत्थ वि कया वि।
तह भोया भुंजित्ता, सक्कदि को सिवसुहं लहिदुं॥18॥

1912. पंचिंदिय भोया खलु, पणविह-संसारकारणं णिच्चं।
जाणिय ताण सरूवं, मुमुक्खुणा उज्झिदव्वा ते॥19॥

1913. णेव भुंजंति भोया, णवरि आउ-पहुदि-पाणं ते किण्णु।
जीवा णंति णो भेयणाणरहिद-मिच्छाइट्ठीव॥20॥

1914. सरिदाहि सायरोव्व य, इंधणेण अग्गीव तिप्पदि णेव।
जीवो अणंतवारं, वर-भोया अवि भुंजिदूणं॥21॥

1915. जलमंथणेण घिदं व, तहा सिकया-पेल्लणेण तिल्लं व।
सुमोव्व बीअ-ववणेण, खे भोयेहि णो अप्पहिदं॥22॥

1916. अभव्वस्स संसारो, अंतहीणो खलु अणंत-गगणं व।
णो को वि खयिदुंखमो, अणंत-दुक्खं भोगिजणाण॥23॥

यह शरीर आकाश में इंद्रधनुष, बादल व बिजली के समान, इंद्रजाल या कमल के दल पर जलबिंदु के समान क्षणध्वंसी है।।12।। बाहर से यह शरीर रत्न के समान कांतिमान् प्रतिभासित होता है। विशेषता यह है कि रत्न दोनों ओर से कांतिमान् होते हैं किंतु देह ऐसी नहीं है।।13।। जो कोई भी पुरुष बाह्य व अंतरंग में पृथक्-पृथक् प्रवृत्ति करता है वह दुष्ट, कुटिल, वक्र व अधोगामी कैसे नहीं होता? अर्थात् होता ही है।।14।। जो भोगों, कषायों व पापों में लीन है वह दुष्ट है। इससे जो विरक्त है वह शिष्ट, विवेकी और कल्याण के योग्य है।।15।। कौन सा जीव नहीं जानता कि पंचेन्द्रिय भोग नाशवान् हैं तथापि मोही जीव पुनः पुनः दुर्गति के हेतुभूत भोगों को भोगता है।।16।। जिस प्रकार मलिन जल, मलिन बर्तन वा वस्त्र के मल को साफ नहीं कर सकता उसी प्रकार से चित्त की मलिनता भोगों से किस प्रकार शुद्ध हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।।17।। जिस प्रकार रक्तरंजित वस्तु को रक्त से कभी भी, कहीं भी धोया नहीं जा सकता उसी प्रकार भोगों को भोगकर मोक्ष सुख प्राप्त करने में कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात् कोई समर्थ नहीं हो सकता।।18।। पंचेन्द्रिय भोग नित्य ही पाँच प्रकार के संसार का कारण हैं। उनके स्वरूप को जानकर मोक्ष के इच्छुक जनों को वे भोग छोड़ देने चाहिए।।19।। जीव भोगों को नहीं भोगते अपितु वे भोग आयु आदि प्राणों को भोगते हैं; किन्तु जीव इसे ऐसे ही नहीं जानते जैसे मिथ्यादृष्टि जीव भेदज्ञान को नहीं जानते।।20।। जैसे नदियों से सागर और ईंधन से अग्नि संतुष्ट नहीं होती वैसे ही जीव अनंत बार उत्कृष्ट भोगों को भोगकर भी संतुष्ट नहीं होता।।21।। जैसे जलमंथन से घृत, बालू को पेलने से तेल और आकाश में बीज वपन करने से पुष्प प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार भोगों से आत्महित नहीं हो सकता।।22।। जिस प्रकार अनंत आकाश के समान अभव्य जीव का संसार अंतहीन होता है उसी प्रकार भोगीजनों के दुःख भी अनंत होते हैं, उनके दुःखों का क्षय करने में कोई भी समर्थ नहीं होता।।23।।

1917. सीयल-सुंदर-मणहर-सुगंधिद-सादिट्ठ-रुइगर-विसं व।
आगरिसग-पंचिंदिय-भोया दु अप्पघादगा अवि॥24॥

1918. पंचिंदिय-विसयं खलु, उज्झेज्ज सहावं जाणिअ ताणं।
करेज्ज णर-पज्जायं, धण्णं कुणंतो घोरतवं॥25॥

1919. दीवजोदिं गहेदुं, तिव्वकंखाजुद-विआउल-सिसुव्व।
अण्णाणी कुव्वंतो, पुण्ण-कज्जं जायदि भोयं॥26॥

1920. तिव्वकंखाए गहिद-अयसत्थेहि पत्तकट्ठ बालोव्व।
जाणियसहाव-मुज्झदि, भोयाणकडुग-फलंभुंजिय॥27॥

1921. भव्वुल्लो किं णेव दु, आमुहेसि विणस्सरं भोयमिमं।
पस्समोहमाहप्पं, तस्सपहावेण भमदि भवे॥28॥(जुम्मं)

1922. सग-उच्छिट्ठं भुंजदि, जह बालो साणो अत्थिं अहवा।
तह हु दिग्घसंसारी, भुंजदि भोयं आसत्तीइ॥29॥

1923. मए पंचिंदिय-सुहं, भुंजिदं बहुवारं पज्जायेसु।
किण्णु णो हं सक्केज्ज, सुद्धप्पणंतसुहं लहिदुं॥30॥

1924. णहस्सवगाहणत्तं, गदि-ठिदि-हेदुत्तं धम्मिदराणं।
यालस्स तह वट्टणं, इत्थं दव्वाण सहावोव्व॥31॥

1925. भोयाणं सहावो वि, संसार - वड्ढगो कम्म-बंधगो।
देज्जपावफलरूवं, दुक्खंदुग्गदिं दुप्पियंच॥32॥(जुम्मं)

पंचेंद्रियभोग शीतल, सुंदर, मनोहर, सुगंधित, स्वादिष्ट व रुचिकर विष के समान आकर्षक होते हैं। ये आत्मा का घात करने वाले होते हैं।।24।। पंचेन्द्रिय विषयों को उनका स्वभाव जानकर छोड़ देना चाहिए। घोर तप करते हुए नर पर्याय को धन्य करना चाहिए।।25।। जिस प्रकार बालक दीपक की ज्योति पकड़ने के लिए तीव्र आकांक्षा से युक्त व व्याकुल होता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव पुण्यकार्य करते हुए भोगों की याचना करता हैं। अर्थात् दीपक की ज्योति हाथ जलाएगी, यह न जानने वाला बालक जिस प्रकार उसे पकड़ने के लिए व्याकुल होता है उसी प्रकार ये भोग आत्मा का घात करने वाले हैं यह न जानने वाला अज्ञानी भी उन्हें पाने के लिए व्याकुल होता है।।26।। जिस प्रकार कोई बालक तीव्र आकांक्षा से ग्रहण किए गए लौह अस्त्रों से स्वयं का घात हो जाने से कष्ट प्राप्त करता है, पुनः उनका स्वभाव जानकर उन्हें छोड़ देता है उसी प्रकार हे भव्य जीव! भोगों के कटुक फल को भोगकर तुम उन नाश को प्राप्त होने वाले भोगों को क्यों नहीं छोड़ते? अहो! मोह का माहात्म्य तो देखो, उसके प्रभाव से जीव संसार में परिभ्रमण करता है।।27-28।। जिस प्रकार बालक अपने उच्छिष्ट (वमनादि) को ग्रहण करता है, श्वान अस्थि चबाकर अपने मुख से निकले रक्त को यह समझकर आनंदित हो लेता है कि यह रक्त उस अस्थि में से निकल रहा है उसी प्रकार दीर्घसंसारी आसक्तिपूर्वक भोगों को भोगता है।।29।। अहो! मैंने विभिन्न पर्यायों में बहुत बार पंचेंद्रिय सुखों को भोगा किन्तु मैं अपनी शुद्धात्मा के अनंत सुख को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सका।।30।। आकाश द्रव्य का स्वभाव अवगाहनत्व, धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व और काल द्रव्य का वर्तना है। इसी प्रकार द्रव्यों के स्वभाव के समान भोगों का स्वभाव भी संसार की वृद्धि करना और कर्मों का बंध कराना है। वे दुःख, दुर्गति व अप्रिय पाप रूप फल देते हैं।।31-32।।

1926. चिंतेदि भव-सरूवं, पुण पुण भूवदी मंदकसायेण।
भवो जालोव्व भासमि, भासीअ सुहसदणं व पुरं॥33॥

1927. मोहीणं संसारो, सग्गोव्व सुपुण्णदायगो सुहदो।
कारागारोव्व भेदविण्णाणीणं सद्दिट्ठीण॥34॥

1928. अणादीदो जीवो दु, भमदि मोहाइ-णिमित्तेण पुण पुण।
अत्थेसुं सोक्खं णो, अचेयणेसु चेयणत्तं व॥35॥

1929. मम जणगो जणणी वा, पुत्ता पुत्ती धण-धण्णं पहुदी।
हं सुंदर-सुभासगो, एरिसो मण्णदि अण्णाणी॥36॥

1930. अण्णा सव्व-पदत्था, सगप्पादो खलु सव्वदा भिण्णा।
चिंतदि सहज-भावेण, आसण्ण-भव्वुल्लोणियमा॥37॥

1931. अणादीदो इह भवे, करदि जम्मं मरण-मणंतवारं।
मरिसदि बहु-किच्छंसय, जाणेज्जा मोह-माहप्पं॥38॥

1932. भो विण्णो! मम सरिसो, किं होज्ज रंजायमाणो भवम्मि?।
ण जहत्थ सुहस्स कणं, वरं कंखसि अणंत सुहं पि॥39॥

1933. सुद्धप्पस्स सहावो, मइ लहिदव्वो सम्म-पुरिसट्ठेण।
अणंताण अक्ख-सुहं, अणूव्व अप्प सुहहुत्ते अवि॥40॥

1934. णादुं सगसरूवं ण, सक्केदि मिच्छत्तवसेण जीवो।
जह तह जम्मंध-णरो, वत्थूण विहिण्ण-वण्णंणो॥41॥

1935. मोहुदयेण स-सरूव-मजाणंतो परत्थं मण्णदि तह।
अप्पुल्लो दु पित्त-जर-पीडिदस्स दुद्ध-कडुगं जह॥42॥

इस प्रकार राजा अशोक पुनः-पुनः कषायों की मंदतापूर्वक संसार के स्वरूप का चिंतन करते हैं। वे विचार करते हैं अहो! जो संसार पहले मुझे सुख का सदन प्रतीत होता था आज वह मुझे अग्नि की ज्वाला के समान प्रतिभासित हो रहा है।।33।। मोही जीवों के लिए संसार स्वर्ग के समान सुखद व पुण्यदायक है किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवों व भेदविज्ञानियों के लिए यह संसार कारागृह के समान है।।34।। मोहादि के निमित्त से यह जीव अनादिकाल से इस संसार में पुनः-पुनः परिभ्रमण कर रहा है। जैसे अचेतन पदार्थों में चेतनत्व गुण नहीं पाया जाता उसी प्रकार इस संसार में सुख नहीं है।।35।। मैं सुंदर हूँ, अच्छा वक्ता (मधुरभाषी) हूँ, ये पिता-माँ-पुत्र-पुत्री मेरी हैं, धन-धान्यादि मेरा है; जो ऐसा मानता है वह अज्ञानी है।।36।। अन्य सभी पदार्थ अपनी आत्मा से सर्वदा भिन्न हैं आसन्न भव्य जीव नियम से सहजभाव से ऐसा चिंतन करता है।।37।। अनादिकाल से इस संसार में यह जीव अनंत बार जन्म-मरण करता है, सदैव बहुत दुःखों को सहता है, यह सब मोह का माहात्म्य जानना चाहिए।।38।। अहो ज्ञानी! मेरे समान तुम इस संसार में रंजायमान क्यों होते हो? इस संसार में तो यथार्थ सुख का कण भी नहीं है जबकि तुम अनंतसुख की वांछा करते हो।।39।। मुझे सम्यक् पुरुषार्थ से शुद्धात्मा के स्वभाव को प्राप्त करना चाहिए। आत्मसुख के सामने अनंत जीवों का इंद्रिय सुख भी अणु के समान है।।40।। मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जीव उसी प्रकार अपने स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं होता जैसे जन्म से अंधा व्यक्ति वस्तुओं के विभिन्न वर्णों को जानने में समर्थ नहीं होता।।41।। जिस प्रकार पित्त ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मिष्ट दुग्ध भी कड़वा प्रतिभासित होता है उसी प्रकार मोह के उदय से जीव अपने स्वरूप को न जानता हुआ पर को अपना मानता है।।।42।।

1936. सहसा एगभूवदी, तदा भंजदि तस्स चिंतण-धारं।
उवहारं दायंतो, पुच्छदि किं चिंतेसि? भद्दो!॥43॥

1937. किं णो णंदसि? राओ!, किं तव देहे को पीडा रोयो?।
किंअसुहवियारो?वा,अणुग्गहित्तुकहतवक्कट्ठं॥44॥(जुम्मं)

1938. मंद-मंदं हसंतो, भासदि णेव को वि पीडा चिंता।
उवदिसिदं केसेणं, परिवट्टणं अत्थ-सहावो॥45॥

1939. जलबुब्बुदोव्व देहो, विणस्सरो विचिंतेमि भो मित्तं!।
भोया रोय-कारणं, पावबंधगा भववड्ढगा॥46॥

1940. संसारो अणुऊलो, भासदि तावदु जावदु पुण्णुदयो।
पावुदये पडिऊलो, पत्तेयं जीवस्स सया हि॥47॥

1941. को जाणदि देहाउं, देहट्ठिदिं तं कुणमु कल्लाणं।
भोगुवभोग-वत्थूसु, रच्चणं मे सहावो णत्थि॥48॥

1942. रायेगेण भासिदं, ण चिंतेज्ज एरिस-मिह अवत्थाइ।
णेव वेरग्ग-समयो, तं पयं पालेज्ज करुणाइ॥49॥

1943. तदा रोहिणी भणदे, जहवि विआरो अइसेट्ठो तुज्झं।
पुणो संजमं गहेज्ज, किच्चा रज्जसंचालणं दु॥50॥

1944. णिवेदंते सगजणग-पदेसु संताणा खेदचित्तेण।
अहो पिदू! अप्पवयी, तुमं विणा अणाहोव्व वयं॥51॥

1945. रज्जं संचालिदुं ण, को वि सक्को णेउण्णेणं पिदू!।
तुमं सव्वाण भयवो, दया-खमाइ-जुत्तत्तादो॥52॥

1946. अण्ण - मित्त - रायादी णिवेदंते बद्धकरंजलीए।
भो राओ! तुमं विणा, जीवण-णिरट्ठगं अम्हाण॥53॥

1947. णीरं विणा सरिदा व्व, रयणं विणा सिंधू व्व अम्हाणं।
जीवणंकरेहि विणा,रविंव जुण्हं विणा ससीव॥54॥(जुम्मं)

तभी अचानक एक राजा उनके चिंतन की धारा तोड़ देते हैं एवं उपहार देते हुए पूछते हैं कि हे भद्र! आप क्या विचार कर रहे हैं? हे राजन्! आप प्रसन्न क्यों नहीं होते, क्या आपके शरीर में कोई पीड़ा या रोग है अथवा कोई अशुभ विचार (या चिंता) है कृपा कर आप अपना कष्ट कहिये।।43-44।। मंद मंद मुसकराते हुए राजा अशोक कहते हैं कि न तो मुझे कोई पीड़ा है और न कोई चिंता। श्वेत केश ने मुझे उपदेश दिया है कि परिवर्तन प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है।।45।। अहो मित्र! मैं चिंतन कर रहा हूँ कि यह देह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है। भोग रोग का कारण हैं, पाप का बंध व संसार की वृद्धि कराने वाले हैं।।46।। जब तक पुण्य का उदय है तब तक प्रत्येक जीव को यह संसार अनुकूल प्रतिभासित होता है और जब तक पाप का उदय है तब तक यह सदा ही प्रतिकूल प्रतिभासित होता है।।47।। भोग-उपभोग की वस्तुओं में रंजायमान होना मेरा स्वभाव नहीं है। देह आयु वा देह की स्थिति को कौन जानता है अतः अब मुझे अपना कल्याण करना चाहिए।।48।। तब राजा ने कहा–हे महाराज! अभी इस अवस्था में आपको इस प्रकार का चिंतन नहीं करना चाहिए। यह वैराग्य का समय नहीं है अतः करुणापूर्वक प्रजा का पालन कीजिए।।49।। तभी रोहिणी कहती है कि यद्यपि आपका विचार अतिश्रेष्ठ है किंतु राज्य संचालन कर पुनः संयम ग्रहण करना।।50।। तभी उनके पुत्र खेद चित्त से अपने पिता के चरणों में निवेदन करते हैं अहो पिता श्री! हम अल्पवयी हैं, आपके बिना हम अनाथ के समान हो जाएँगे।।51।। हे पिता श्री! निपुणता से राज्य का संचालन करने में अभी कोई भी समर्थ नहीं है। दया, क्षमा आदि से युक्त होने से आप सभी के लिए भगवान् के समान हैं।।52।। अन्य मित्र राजा आदि हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं हे राजन्! जल के बिना नदी, रत्न के बिना रत्नाकर, किरणों के बिना सूर्य और ज्योत्सना के बिना चंद्रमा के समान आपके बिना हमारा जीवन निरर्थक है।।53-54।।

1948. ठिदीए विणा मेरू, सीयलत्तं विणा जह णीरं खलु।
गंधेण विणा पुप्फं, महुरिमाए विणा इक्खू य॥55॥

1949. णिग्घत्तं विणा घिदं, णयणं विणा मुहं च जोदिं तं।
पउमेहि विणा सरो य, परक्कमेणं विणा सीहो॥56॥

1950. विहवेण विणा इंदो, अणंतचउक्कं विणा सव्वण्हू।
चक्केण विणा चक्की, संजमेण विणा सिवमग्गो॥57॥

1951. सम्मत्तेणं विणा दु, सण्णाणं तं विणा भेयणाणं।
तवं विणा अहक्खयो, सावगो विणा दाण-पूयं॥58॥

1952. तह लोए अम्हाणं, ठिदी तुमं विणा भो महारायो।
करुणासायर-देवो, अवहेडेज्जइमंवियारं॥59॥(पंचगं)

1953. भोणिवो! पस्ससुतत्थ, विहग-सावा चुणणेमिदु-चंचूइ।
विहीणसत्तीए अवि, पयासरदो सगजीवणस्स॥60॥

1954. णियुवायं कुणंति सयमेव परामस्सादीणं सव्वा।
जीवा आवसियं णो, किं चिंतिदेण रज्जादीण॥61॥

1955. पुव्वकम्मोदयेणं, लहदि अणुऊल-पडिऊल-णिमित्तं।
संपइ पुरिसट्ठेणं, सुहं दुहं हाणिं लाहं च॥62॥

1956. सव्ववत्तं सुणिय बहिदस्सं पस्सिय विरागं चिंतित्तु।
संबोहीअ सग-सहं, अप्पजणा इमेहि सद्देहि॥63॥

1957. ववहारजगे सव्वा, सगजणा भासंते इट्ठरूवा।
पुण्णोदयेणं तत्थ, सुहं संति-मणुभवदि जीवो॥64॥

1958. पावोदयम्मि सव्वा, अरीव कट्ठप्पदायगा तदा य।
मरणंपिपियंभासदि, इह लोएसगजणादोपुण॥65॥(तिअं)

1959. देह-सुंदरो सुहदो, भासदि पुण्णोदये इट्ठरूवो।
पावोदयम्मि सो चिय, दुहदो अणिट्ठरूवो होदि॥66॥

स्थिति के बिना मेरु, शीतलता के बिना जल, गंध के बिना पुष्प, मधुरता के बिना इक्षु दंड, स्निग्धता के बिना घी, नयनों के बिना मुख, ज्योति के बिना नयन, कमलों के बिना सरोवर, पराक्रम के बिना सिंह, वैभव के बिना इंद्र, अनंत चतुष्टय के बिना सर्वज्ञ, चक्र के बिना चक्रवर्ती, संयम के बिना मोक्षमार्ग, सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान के बिना भेदविज्ञान, तप के बिना पापों का क्षय एवं दान व पूजा के बिना श्रावक के समान; आपके बिना लोक में हमारी स्थिति है। हे महाराज! हे करुणा सागर देव! इस विचार को छोड़ दो।।55-59।। हे राजन्! वहाँ देखो, पक्षी के बच्चे शक्ति से हीन होने पर भी अपने जीवन के लिए अपनी कोमल चोंच से दाना चुनने में प्रयासरत हैं।।60।। सभी जीव स्वयं ही अपना उपाय कर लेते हैं। उनके लिए सलाह आदि की कोई आवश्यकता नहीं। तब राज्य आदि की चिंता करने से क्या लाभ?।।61।। पूर्व कर्म के उदय से जीव अनुकूल व प्रतिकूल निमित्त प्राप्त करता है एवं वर्तमान में पुरुषार्थ से सुख, दु:ख, हानि, लाभ को प्राप्त करता है।।62।। इस प्रकार सर्व वार्ताओं को सुनकर व बाह्य दृश्यों को देख वैराग्य का चिंतन कर राजा अशोक ने अपनी सभा व आत्मीयजनों को इन शब्दों से संबोधित किया–व्यवहार जगत् में सभी आत्मीयजन इष्ट रूप प्रतिभासित होते हैं। पुण्य के उदय से जीव सुख-शांति का अनुभव करता है तथा पाप के उदय में सभी जन शत्रु के समान कष्टदायक प्रतिभासित होते हैं। उस पाप के उदय में इस लोक में स्वजनों से भी अधिक मृत्यु प्रिय लगती है।।63-65।। पुण्य के उदय में शरीर सुंदर, सुखद व इष्टरूप प्रतिभासित होता है और पाप के उदय में वह ही शरीर दु:खद व अनिष्टरूप होता है।।66।।

1960. भोया भुजंगसरिसा, णिच्छयेणं णाणी मुणंति सया।
मूढो जीवो सुहदा, सुहिदयारी सस्सदा किण्णु॥67॥

1961. मिच्छत्तेणं जीवो, अणादीदु परिभमेदि संसारे।
जम्म-मरणं कुणंतो, लहदि बहुदुहं कम्मफलेण॥68॥

1962. भासिदो मोक्खमग्गो, अप्पहिदत्थरूवो जिणवरेहिं।
सो मग्गो बेविहो दु, ववहार-णिच्छय-भेयादो॥69॥

1963. णिच्छयमोक्खमग्गो य, गहिज्जेदि दु सयलमहव्वदीहिं।
ववहाररयणत्तयं, गहंति ते तं गहिदुं किण्णु॥70॥

1964. समणोवासग-धम्मा-वेक्खाइ दुविहो ववहारधम्मो।
थूलाहचागरूवा, ससत्तसीला सावग-वदा॥71॥

1965. उवासय-धम्मो खमो, होदुं मोक्खकारणं परोक्खेण।
पच्चक्खेणं दु मोक्ख-कारणं समण-धम्मो तहा॥72॥

1966. ण पालिदो मए सयल-पाव-चागरूवो य समणधम्मो।
अणादीदु तं लोए, परिभमेमि दुहं भुंजंतो॥73॥

1967. अज्जं पुण्णुदयेणं, रयणत्तय-गहण-जोग्गावसरो य।
लहिदोमइतंअहुणा, सग-कल्लाणंचकरिस्सामि॥74॥

1968. इह मम कुलम्मि पुव्वे, जणग-पिदामहाइ-पुव्वजेहिं च।
गहिय णिग्गंथदिक्खं, पाविदो सस्सदप्प-विहवो॥75॥

1969. तुम्हे वि धम्ममग्गं, दुरुहेज्जा दु सगसत्तीए।
धम्मो खलु सासयसुह-हेदू सया सव्वभव्वाण॥76॥

1970. रज्जं संचालंतो, जदि होज्ज अणुइद-कज्जं मए तो।
लहिदं किच्छं कट्ठं, णिम्मलचित्तेण विणयेणं॥77॥

1971. खामेमिलहुभावेण, विणाखमाइचित्त-वियडीणखयदि।
खमंतुमे धारित्ता, वच्छलभावं मेत्तिभावं॥78॥(जुम्मं)

ज्ञानीजन भोगों को निश्चय से सदा सर्प के समान मानते हैं किन्तु मूर्ख जीव भोगों को सुखद, हितकारी और शाश्वत मानते हैं।।67।। मिथ्यात्व के वशीभूत हो जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कर्म के फलस्वरूप जन्म-मरण करते हुए जीव बहुत दु:खों को प्राप्त करता है।।68।। जिनवरों के द्वारा आत्महितार्थ रूप मोक्षमार्ग कहा गया है। वह मार्ग व्यवहार व निश्चय के भेद से दो प्रकार का है।।69।। सकल महाव्रतियों के द्वारा निश्चय-मोक्षमार्ग ग्रहण किया जाता है किन्तु उस निश्चय-मोक्षमार्ग को ग्रहण करने के लिए वे व्यवहार रत्नत्रय ग्रहण करते हैं।।70।। श्रमण धर्म और श्रावक धर्म की अपेक्षा से व्यवहार धर्म दो प्रकार का होता है। सप्त-शील सहित एवं स्थूल पाप के त्याग रूप श्रावक व्रत होते हैं।।71।। उपासक या श्रावकधर्म परोक्ष रूप से मोक्ष का कारण होने में समर्थ है तथा श्रमणधर्म प्रत्यक्ष से मोक्ष का कारण है।।72।। अहो! मैंने सकल पाप के त्याग रूप श्रमणधर्म का पालन नहीं किया अतएव अनादिकाल से दु:ख भोगते हुए लोक में परिभ्रमण कर रहा हूँ।।73।। आज पुण्य के उदय से मैंने रत्नत्रय के ग्रहण करने योग्य अवसर को प्राप्त किया है। अब मैं अपना कल्याण करूंगा।।74।। इस मेरे कुल में पूर्व में पिता, दादा आदि पूर्वजों ने निर्ग्रन्थ दीक्षा को ग्रहण कर आत्मवैभव को प्राप्त किया।।75।। अहो! आपको भी अपनी शक्ति के अनुसार धर्म मार्ग पर आरूढ़ होना चाहिए। सभी भव्यजीवों के लिए धर्म शाश्वत सुख का हेतु है।।76।। राज्य का संचालन करते हुए यदि मुझसे कोई अनुचित कार्य हुआ हो, मेरे कारण किसी ने कष्ट व दु:ख प्राप्त किया हो तो निर्मल चित्त से विनयपूर्वक लघुभाव से मैं क्षमायाचना करता हूँ; क्योंकि बिना क्षमा के चित्त की विकृति (मनोविकार) नष्ट नहीं होती। अत: आप सभी वात्सल्य व मैत्री भाव धारण कर मुझे क्षमा करें।।77-78।।

1972. मरहेमि वि सव्वाणं, तुम्हेहि जहवि पालिदा णिवाणा।
तुम्ह कत्तव्वणिट्ठा, तह वि चित्तविअप्पं खयिदुं॥79॥

1973. संबोहदि सगपुत्ता, कत्तव्वं पालंतो पाउणंति।
पुण्णेणं उहयसुहं, पुण्णं विणा कज्जसिद्धी ण॥80॥

1974. सुसक्किदिं सब्भदं च, कुलादीण मज्जादं साहिमाणं।
रक्खेज्ज चिय पालेज्ज, पयं पुत्तोव्व वच्छलेणं॥81॥

1975. पयाए उण्णदीए, रज्जुण्णदी ताए जं रायस्स।
पयाइ विणा रायस्स, ठिदी संभवो णेव कयावि॥82॥

1976. तारिगाहि विणा ससी, मिअंगेणं विणा य सव्वरी जह।
पउमेहिं विणा सरो, जलासयेणं विणा गामो॥83॥

1977. तह राय-मंति-किलाहि, तहा कोस-देस-सेणा-मित्तेहि।
इमेहि सत्तंगेहिं, विणा णेव सोहदे रज्जं॥84॥(जुम्मं)

1978. भव-सरीर-भोयादो, विरज्जिय धरेज्ज दियंबर-दिक्खं।
सगकल्लाणाय पुणो, कुलमज्जादाणुसारेणं॥85॥

1979. पिदु-वयणाणि सुणिच्चा, सव्वपुत्तेहि णिवेदिदं पुज्जो!।
भोयरोयमयो दुक्खमयो जदि असार-संसारो॥86॥

1980. किं देज्जा रज्जमिदं, अम्हाणं संचालेदुं हु तदा।
करिदुमप्पकल्लाणं, तए सह वयं भावणा अवि॥87॥(जुम्मं)

1981. हे पढमगुरू-जणगो!, देज्ज सिवपहे वड्ढिदुमासीसं।
णिय-सत्त-जेट्ठ-सुदाण, कहदि पस्सित्ता वेरग्गं॥88॥

1982. भो पुत्त-लोयपालो, रज्जं णो कंखंति अग्गजा तव।
वेरग्गपुण्णत्तादु, तम्हा संगच्छेज्ज रज्जं॥89॥(जुम्मं)

1983. चरियमोहुदयेण, सगसामिं णिरुंभिदुं करीअ जदणं।
पसरीअ समायारो, देसे सुक्कवणे अग्गीव॥90॥

यद्यपि आप सभी ने राजा की आज्ञा का पालन किया, आप कर्त्तव्यनिष्ठ हैं तथापि आपके चित्त के विकल्प की शान्ति के लिए मैं आप सभी को क्षमा करता हूँ।।79।। राजा अशोक अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए पुनः अपने पुत्रों को संबोधित करते हैं कि जीव पुण्य से उभय (लौकिक व पारमार्थिक) सुख प्राप्त करता है। पुण्य के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती।।80।। अहो पुत्र! संस्कृति, सभ्यता, कुल आदि की मर्यादा व स्वाभिमान की सदैव रक्षा करना। प्रजा का वात्सल्यपूर्वक पुत्रवत् पालन करना।।81।। प्रजा की उन्नति से राज्य की उन्नति और राज्य की उन्नति से राजा की उन्नति होती है। प्रजा के बिना राजा की स्थिति कभी भी संभव नहीं है।।82।। जिस प्रकार तारिकाओं के बिना चंद्रमा, चंद्रमा के बिना रात्रि, कमलों के बिना सरोवर और जलाशय के बिना गाँव सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार राजा, मंत्री, किला, कोष, देश, सेना व मित्र इन सात अंगों के बिना राज्य सुशोभित नहीं होता।।83-84।। अहो! पुनः संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर कुलमर्यादा के अनुसार अपने कल्याण के लिए दिगंबर दीक्षा को धारण करना।।85।। अपने पिता के वचन सुनकर सभी पुत्रों ने निवेदन किया कि हे पूज्य! यदि भोग रोगमय हैं, दुःखमय हैं, यदि संसार असार है तो आप संचालन के लिए यह राज्य हमें क्यों दे रहे हैं? आपके साथ आत्मकल्याण करने की हमारी भी भावना है।।86-87।। हे प्रथम गुरु पिता श्री! हमें शिवपथ पर बढ़ने का आशीष प्रदान करें। पुनः अपने सात ज्येष्ठ पुत्रों के सम्यक् वैराग्य को देखकर राजा अशोक कहने लगे हे पुत्र लोकपाल! तुम्हारे बड़े भाई वैराग्य से पूरित होने के कारण राज्य को नहीं चाहते अतः तुम राज्य को स्वीकार करो।।88-89।। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तब सभी ने अपने स्वामी को रोकने का प्रयास किया। महाराज अशोक के राज्य त्याग का समाचार शुष्क वन में अग्नि के समान समस्त देश में फैल गया।।90।।

1984. मोहेण रज्ज-सहाइ, परिदेवंता आकंदंता तह।
सव्व-पयाजणा तदा, आगच्छीअ चिय रोदंता॥91॥

1985. अहो भयवदो! राओ!, तुमं विणा अणाहो व्व होज्ज वयं।
तुज्झ छत्तछायाए, हि णिवसेदुं इच्छाम पहू!॥92॥

1986. पवाहिदस्सुंपस्सिदु-मसोग-महाराय-विजोग-समये।
अक्को विणो समत्थो, पच्छिमे गच्छिदुं तप्परो॥93॥

1987. भावि-मुणि-दंसणाय हु, आगच्छिदुं विआउलो मिअंगो।
रुक्खादो पडंताणि, सुमपत्ताणि ताण अस्सुं व॥94॥

1988. अण्णजलं आमुहिदं, सोगाउल-हय-गयाइ-पसूहिं पि।
कयाइ जणा पसण्णा, कयाइ दुही वि आउल-मणा॥95॥

1989. कयाइं तच्चणाणी, अप्पसंसारी पसण्णा दुही वि।
तिदिय-मिस्सट्ठाणं व, तदा राय-विरागुदयादो॥96॥

1990. वेरग्गिआ हरिसिदा, मुदिद-चित्ता आणंदिदा होज्जा।
किण्णु मोही रायी य, दिट्ठि गोयरा णिगाम-दुही॥97॥

भुजंग प्रयात छंद

1991. विणिक्कट्ठ वत्थुं च मुंचेदि पाणी,
सहावादु वत्थुं सुसेट्ठं लहेदुं।
सुतोसाणुभूदी य सोक्खस्स णिच्चं,
भवं एअ-मुज्झित्तु दिक्खं गहेदु॥98॥

1992. तिलोए णियप्पस्स संपत्ति-सेट्ठा,
विरज्जित्तु संसारभोयादु तम्हा।
सुआसण्ण-भव्वो य दिक्खं गहित्ता,
सया तप्परो होदि सुद्धप्प-झाणे॥99॥

तब मोह के वशीभूत सभी प्रजाजन विलाप करते, क्रंदन करते व रोते हुए राजसभा में आए।।91।। हे भगवन्! हे राजन्! आपके बिना हम अनाथ हो जाएँगे। हे प्रभु! हम आपकी ही छत्रछाया में रहना चाहते हैं।।92।। महाराज अशोक के वियोग के समय सूर्य भी प्रजाजनों, परिजनों व पुरजनों के अश्रु देखने में समर्थ नहीं था अत: वह भी पश्चिम की ओर जाने को तत्पर हुआ।।93।। उस समय वृक्ष से गिरते हुए पुष्प व पत्ते ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उनके आँसू ही गिर रहे हों। भावी मुनिराज के दर्शन हेतु आने के लिए तब चंद्र भी व्याकुल हो रहा था।।94।। शोकाकुल अश्व व हाथियों आदि पशुओं ने भी अन्न-जल छोड़ दिया था। कितने लोग महाराज के इस निर्णय से प्रसन्न थे तो कितने ही दु:खी थे और कितनों के मन आकुल-व्याकुल हो गए थे।।95।। जिस प्रकार तृतीय गुणस्थान सम्यक्मिथ्यात्व मिश्र रूप होता है, उस गुणस्थानवर्ती के परिणाम मिश्र रूप होते हैं उसी प्रकार राग वा विराग दोनों की मिश्र अवस्था रूप उदय से उस समय कितने ही तत्त्वज्ञानी, अल्पसंसारी प्रसन्न भी थे और दु:खी भी थे।।96।। वैरागी जन हर्षित, प्रसन्नचित्त व आनंदित हो रहे थे किन्तु मोही-रागी जीव अत्यंत दु:खी दिखाई दे रहे थे।।97।। संसारी प्राणी श्रेष्ठ वस्तु को प्राप्त करने के लिए स्वभाव से ही निकृष्ट वस्तु को स्वत: छोड देता है। इसमें उसे नित्य संतोष व सुख की अनुभूति होती है। इसी प्रकार एक वैरागी को दीक्षा ग्रहण हेतु संसार को छोड़कर संतोष व सुख की अनुभूति होती है।।98।। निज आत्मा का वैभव व संपत्ति तीनों लोकों में श्रेष्ठ है इसलिए ही आसन्नभव्य जीव संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर सदैव शुद्धात्म ध्यान में तत्पर होता है।।99।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में राजा अशोक के वैराग्य का वर्णन करने वाला सत्रहवाँ नंद पूर्ण हुआ।

अट्ठारसम-णंदो

1993. राय-असोगेणं सह, अण्णा वि गच्छीअ गहिदुं दिक्खं।
कुरुजंगलदेसस्स हु, गयणायपुर - णिअडारामं॥1॥

1994. पढम-बाल-बंभयारि-वासुपुज्ज-बारसम-तित्थयरस्स।
राजीअ समवसरणं, तत्थ उच्छाह-विरागेहिं॥2॥

1995. दूरादो पस्सित्ता, जिणधम्मसहं समवसरण-महवा।
भत्ति-रायेणसव्वा, हरिसिदामंदकसायेणं॥3॥(जुम्मं)

1996. चउहत्थबाहल्लजुद - इंदणीलमणीए समवसरणं।
अणुवम-अगाध-सुरयण-पव्वयोव्वयआगरिसिगंहु॥4॥

1997. विंसदिसहस्ससुरयण-खइद-सोवाण-मारुहिदुं सक्का।
सव्व-आबालवुड्ढा, पसु-पक्खी अंतोमुहुत्ते॥5॥

1998. चउदिसासु चउगोउर - दाराइसुंदरा रयणणिम्मिदा।
तत्थुहयपस्सभागे, पडि णिही अट्ठोत्तरसया हु॥6॥

1999. चउसाला पणवेदी, अट्ठभूमीओ जिणसमवसरणे।
अच्चंत-विहव-जुत्ता, जिणधम्मसहा मणोहरा हु॥7॥

2000. चउमाणत्थंभा चउ - दिसासु माणं खयेदुं समत्था।
तत्थ अंत - सिरि - मंडव - महीइ राइदो तित्थयरो॥8॥

2001. तिय - रयणमइ - पीढुवरि, सीहासणे वासुपुज्जो देवो।
बाल-अक्कोव्व-रत्तिम-वण्ण-संजुत्तोआरज्झो॥9॥

2002. रायअसोगेण तत्थ सुवंदिदो सिरिवासुपुज्जसामी।
चउघादिकम्मरहिदो, अद्धणारीसरो जिणिंदो॥10॥

2003. तंब-वण्णी भव्वाण, णाणमत्तंडोव्व वासुपुज्जो य।
अक्कोव्व अवहारगो, सया मिच्छत्तयंधयारं॥11॥

राजा अशोक के साथ सात पुत्र व अन्य राजा आदि भी दीक्षा ग्रहण करने के लिए कुरुजांगल देश की हस्तिनागपुर नगरी के निकट उपवन में गए।।1।। वहाँ प्रथम बालब्रह्मचारी बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान् का समवसरण विराजित था। उत्साहपूर्वक, वैराग्यभाव से युक्त सभी जन भक्ति के अनुराग व मंदकषाय से जिनधर्मसभा व समवसरण को दूर से ही देखकर अति हर्षित हुए।।2-3।। चार हाथ बाहल्य युक्त इंद्रनीलमणि पर स्थित आकर्षक समवसरण ऐसा लग रहा था मानो अनुपम अगाध रत्नों का पर्वत ही हो।।4।। आबाल-वृद्ध, पशु-पक्षी इत्यादि सभी रत्न खचित बीस हजार सीढ़ियों को अंतर्मुहूर्त में चढ़ने में समर्थ थे।।5।।चार हाथ बाहल्य युक्त इंद्रनीलमणि पर स्थित आकर्षक समवसरण ऐसा लग रहा था मानो अनुपम अगाध रत्नों का पर्वत ही हो।।4।। आबाल-वृद्ध, पशु-पक्षी इत्यादि सभी रत्न खचित बीस हजार सीढ़ियों को अंतर्मुहूर्त में चढ़ने में समर्थ थे।।5।। चारों दिशाओं में चार गोपुर द्वार थे; जो रत्ननिर्मित व बहुत सुंदर थे। वहाँ दोनों पार्श्व भाग में नवनिधि थीं और प्रत्येक निधि 108-108 थीं।।6।। प्रभु के समवसरण में चार कोट, पाँच वेदियाँ व आठ भूमियाँ थीं। वह जिनेंद्रप्रभु की धर्मसभा अत्यंत वैभव से युक्त मनोहरा थी।।7।। चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ थे जो मान का क्षय करने में समर्थ थे। वहाँ अंतिम श्रीमंडप भूमि में श्रीतीर्थंकरदेव राजित थे।।8।। वहाँ तीन रत्नमयी पीठ पर सिंहासन पर बाल सूर्य के समान लाल वर्ण से युक्त आराध्य देव श्रीवासुपूज्य भगवान् विराजमान थे।।9।। वहाँ राजा अशोक ने चार घातिया कर्मों से रहित, अर्द्धनारीश्वर जिनेंद्र श्री वासुपूज्य स्वामी की वंदना की।।10।। ज्ञान सूर्य के समान ताम्र वर्ण वाले श्री वासुपूज्य भगवान् सदैव भव्यों के मिथ्यात्व रूपी अंधकार को हरण करने वाले हैं।।11।।

2004. अहोणाणदिवायरो!,सण्णाण-करंपसरेसिचित्तम्मि।
अक्को ताव-कारगो,भवसंतावणासगो णवरि॥12॥

2005. मूले सीयल-सूरो, वरं उण्ह-पहा होदि णियमादो।
तावह-हारगो जिणो,सीयलो उहय-पयारेणं॥13॥

2006. रयणत्तय-सीयलत्त-महोरत्तिभेयेण विणा णाहो।
णिसाइमिअंगोदेदि,णिच्चंसीयल-जुण्हंकिण्णु॥14॥

2007. तुज्झ णाम-मेत्तेणं, मिहिलाणरेसो होज्ज सुरपुज्जो।
कुणदि सुभावेहि थुदिं, वंदणीयो सुरासुरेहिं॥15॥

2008. तव पहाणो सिस्सो हु, बहुइड्ढिधारगो चउणाणजुदो।
जुगचरणकमलभमरो, मंदरो य गणहरो पढमो॥16॥

2009. सेट्ठधम्मधारगा य, गणेसण्णा, सेट्ठधम्ममुत्ती वि।
णमंति तुमं तं अंह वि, पणमामि पप्पोदुं धम्मं॥17॥

2010. वसुहाइ सुपुज्जं, वसुपुज्जसुदं वासुपुज्जं सुवंदे।
सहाव-पगासणाए, लहिदुं संपुण्ण धम्मफलं॥18॥

2011. अहो पढमबालजदिं, धम्मप्पवट्टगं सिरितित्थयरं।
सयलप्पगुणं लहिदुं, णमंसामि सयलपरमप्पं॥19॥

2012. सगभालम्मितवचरण-रय-मण्णसामण्णकेवलीधरिय।
सुद्धा मुणियालम्मि दु, पारसेणं अयसपिंडोव्व॥20॥

2013. गदरायं गददोसं, णमामि सुद्धगुणा लहिदुं पुण पुण।
सव्वकम्मक्खयेदुं, जिणगुणरायेण सुभत्तीइ॥21॥

2014. विमलणाणसरिदाए,णाणंफुडदे तवदिव्वज्झुणिणा।
गणेसा व मराला य, आसण्णभवी अवगाहंति॥22॥

2015. तित्थयर-गिरीदो चउसंझासु पडिदा भव्वुत्थाणाय।
दिव्वज्झुणी दु गंगा, खालंता पावमलं वहदि॥23॥

हे ज्ञान दिवाकर! आप चित्त में सम्यग्ज्ञान रूपी रश्मियों का प्रसार करते हो। अहो! सूर्य ताप कारक है किन्तु विशेषता यह है कि आप संसार ताप को नष्ट करने वाले हैं।।12।। हे प्रभु! सूर्य मूल में शीतल होता है किन्तु उसकी प्रभा नियम से उष्ण होती है। हे जिनेन्द्र देव! आप पाप ताप का हरण करने वाले हैं और दोनों प्रकार से ही शीतल हैं।।13।। चंद्रमा नित्य रात्रि में शीतल चाँदनी देता है किन्तु हे नाथ! आप दिन व रात्रि के भेद के बिना निरंतर रत्नत्रय की शीतलता प्रदान करते हो।।14।। हे नाथ! आपके नाम मात्र से मिथिला नरेश पद्मरथ देवों के द्वारा पूज्यता को प्राप्त हुआ। जो शुभ भावों से जिन प्रभु की स्तुति करता है वह सुर व असुरों के द्वारा वंदनीय होता है।।15।। हे प्रभु! आपके प्रमुख शिष्य प्रथम गणधर मंदर जो बहुत ऋद्धियों के धारक हैं, चार (मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय) ज्ञान से युक्त हैं वे आपके युगल चरण कमल के भ्रमर हैं।।16।। श्रेष्ठ धर्म के धारक व श्रेष्ठ धर्ममूर्ति अन्य गणधर भी आपको प्रणाम करते हैं अतः धर्म की प्राप्ति के लिए मैं भी आपको प्रणाम करता हूँ।।17।। वसुधा पर पूज्य, वसुपूज्य के पुत्र, श्री वासुपूज्य भगवान् को अपने स्वभाव के प्रकटीकरण व संपूर्ण धर्मफल की प्राप्ति के लिए वंदन करता हूँ।।18।। अहो प्रथम बालयति, धर्मप्रवर्तक, श्री तीर्थंकरदेव, सकल परमात्मा को संपूर्ण आत्मगुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।।19।। मुनि काल में अन्य सामान्य केवली भी आपके चरण रज को अपने भाल पर धारण कर उसी प्रकार शुद्ध हो गए जिस प्रकार पारस मणि से लोहे का पिंड (स्वर्ण) शुद्ध हो जाता है।।20।। वीतरागी व वीतद्वेषी जिनेन्द्रप्रभु को उनके गुणों के अनुराग से सर्व कर्मों के क्षय व शुद्ध गुणों की प्राप्ति के लिए पुनः-पुनः भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।21।। आपकी दिव्यध्वनि रूपी निर्मल ज्ञान की सरिता में विशद ज्ञान प्रकट होता है जिसमें गणधर रूपी हंस व आसन्न भव्य जीव अवगाहन करते हैं।।22।। तीर्थंकर रूपी पर्वत से पतित, भव्यजीवों के उत्थान के लिए, उनके पाप मलों को प्रक्षालित करती हुई दिव्यध्वनि रूपी गंगा चारों संध्याकालों में प्रवाहित होती है।।23।।

2016. जिणवयंपरमोसही, जम्म-जरा-मरण-वाहि-णासगंच।
आसण्णभवी पिबंति, पीदीइ भवोवहिं तरिदुं।।24।।

2017. लोए विज्जंत - अण्ण - मिच्छातित्थं संसारवड्ढगं।
सिआवाय-जुत्त-धम्म-तित्थेणकल्लाणंकुणंति।।25।।

2018. जे के वि दंसंति तं, सुद्धगुणपुंजं णिम्मल-भावेहिं।
लहंति णरसुरविहूदि - मइरं बहुसुपुण्णरासिं च।।26।।

2019. तुज्झं दिव्वज्झुणी हु, अणक्खरी अणेगंतधम्मजुदो।
पडिदिणे चउसंझासु, णिस्सरदि अइसयपुण्णेणं।।27।।

2020. चउतीस-अदिसय-जुदो, वसुपाडिहेरेहि खइयलद्धीहि।
संपण्णो तं सक्को, दादुं चिय खयियदाणाइं।।28।।

2021. हे तिलोयणाहो! तव, धम्मसहाए णो जम्मं मरणं।
णो रोयो णो णिद्दा, णेव सोगादी णेव दुहं।।29।।

2022. णेव तव समवसरणे, इट्ठविओगो अणिट्ठसंजोगो।
वियलंगामुच्छिदाण, णेववियलिंदियाअसण्णी।।30।।

2023. णो कया वि आहारो, णेव णिहारो ण कूर-परिणामा।
भय-दुगुंछासोग-रदि-कुभावाखयंतिदंसणेण।।31।।

2024. अइसयपुण्णजुदं अट्ठारस-दोस-रहिदं जम्ममुक्कं।
सव्वदोसक्खयेदुं, णमंसामि वासुपुज्ज-जिणं।।32।।

2025. तव वंदणेण खयंति, णिधत्तिणिकाइदकम्मं सव्वं पि।
सामण्ण-पाव-कम्मं, किंण तदा जिणिंद भत्तीइ।।33।।

2026. खंडिज्जेदि णायोव्व, गिरी जदि पवणेण पलययालस्स।
तोसुक्कपत्ताणिणो, रयकणंकिंउड्ढीज्जतेण।।34।।(जुम्मं)

2027. जिणभत्तीए भव्वो, सक्को बंधिदुं तित्थयरकम्मं।
दंसणविसुद्धि-आइं, भाविदूणविसुद्धचित्तेण।।35।।

अहो! जिनवचन ही परम औषधि है जो जन्म-जरा-मृत्यु रूपी व्याधियों का नाश करने वाली है संसार रूपी सागर से पार होने के लिए आसन्न भव्य जीव प्रीतिपूर्वक उसका पान करते हैं।।24।। लोक में विद्यमान अन्य मिथ्यातीर्थ नित्य ही संसार की वृद्धि करने वाले हैं; स्याद्वाद युक्त धर्मतीर्थ से ही जीव अपना कल्याण कर सकते हैं।।25।। जो कोई भी भव्य जीव निर्मल भावों से, आप, शुद्ध गुणों के पुंज का दर्शन करते हैं वे शीघ्र ही नर व सुरों के ऐश्वर्य व बहुपुण्यराशि को प्राप्त करते हैं।।26।। आपकी दिव्यध्वनि अनक्षरी व अनेकांत धर्म से युक्त है। प्रतिदिन चारों संध्याकालों में वा जीव के अतिशय पुण्य से वह दिव्यध्वनि निःसृत होती है।।27।। हे प्रभु! आप चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं, अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त हैं, क्षायिक लब्धियों से संपन्न हैं अतः आप क्षायिकदान देने में समर्थ हैं।।28।। हे त्रिलोकी नाथ! आपकी धर्मसभा में जन्म-मरण नहीं होता, रोग, निद्रा, दुःख वा शोक आदि नहीं होते।।29।। आपके समवसरण में इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग नहीं होता। वहाँ विकलांग, मूर्च्छित, विकलेन्द्रिय अर्थात् दो, तीन वा चार इंद्रिय एवं असंज्ञी जीव नहीं होते।।30।। वहाँ आहार, निहार व क्रूर परिणाम नहीं होते। आपके दर्शन से भय, जुगुप्सा, शोक, रति व कुभाव नष्ट हो जाते हैं।।31।। अतिशय पुण्य से युक्त, अट्ठारह दोषों से रहित, जन्म से मुक्त श्रीवासुपूज्य जिनेंद्र को सर्व दोषों के क्षय के लिए नमस्कार करता हूँ।।32।। हे प्रभु! आपकी वंदना से जब निधत्ति-निकाचित आदि सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं तब जिनेंद्र भक्ति से सामान्य कर्म नष्ट क्यों नहीं होते? अरे! प्रलय काल की पवन से जब हाथी के समान पर्वत भी खंड-खंड हो जाता है तो क्या उससे सूखे पत्ते या धूलि के कण नहीं उड़ेंगे? अवश्य ही उड़ेंगे।।33-34।। भव्य जीव विशुद्धचित्तपूर्वक जिनभक्ति से दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं को भाकर तीर्थंकर कर्म का बंध करने में समर्थ होता है।।35।।

2028. तव भत्तीए पावदि, मादंगो वि सुरपदं णच्छरिअं।
किं दीवपयासो णो, खयदि गेहस्स अंधयारं।।36।।

2029. तव भत्ति - दंसणेणं, तिरिया वि अणंतरं लहंति सिवं।
अवकस्सणंसहजेण,णिरयाउ-पहुदि-अहकम्माणि।।37।।

2030. सिदपक्खमिअंगेणं, वड्ढदि सायरजलं सहावेण।
जह तह तव भत्तीए,सुहपइडीण ठिदिअणुभागा।।38।।

2031. सगभवभयं खयेदुं, वसुकम्मं सुद्धप्पगुणं लहिदुं।
वसुयामेकुणमि भत्ति-मिमंभवणासगंणियमेण।।39।।

2032. णियसत्तभवं सक्का, पस्सिदुं भवी भामंडले तुज्झ।
अट्ठपाडिहेराइं, कारणं अट्ठमपुढवीए।।40।।

2033. कंखंति सगप्पसिद्धि - परमविहूदिं जे सहजभावेण।
परमपुज्जचरणेसुं, तव पणामं कुव्वंते ते।।41।।

2034. सुसक्खीइ उज्झिदाणि,वत्थाभूसणाणि वासुपुज्जस्स।
असोगेण पंचमुट्ठि - केसलुंचणं करिदं तत्थ।।42।।

2035. जहाजाद - दियंबरो, होही तेणं सह अण्णराया वि।
रोहिणि-आइ-णारीहि,लहिदादिक्खासुमदि-गणीइ।।43।।

2036. धरिदं अहिंसा सच्च-मचोरियं बंभचेरं असंगं।
महव्वदं विवेगेण, अणंतसंसारं खयेदुं।।44।।

2037. इरियं भासमेसणं, आदाण-णिक्खेवणं उस्सग्गं।
पंचसमिदी पालीअ,असुह-पवट्टिं णिराकरिदुं।।45।।

2038. पंचिंदियं जयेदुं, पदिण्णा गहिदा चिय सडावसियं।
सत्तविसेसगुणा तह, धरिदा तेण अप्पसुद्धीइ।।46।।

2039. बावीस-परिसहं बेदहतवं जयंतो कुव्वंतो सो।
पालीअ उत्तरगुणा, तदा लहीअ बहुइड्ढीओ।।47।।

हे प्रभु! आपकी भक्ति से चांडाल भी देव पद को प्राप्त करता है इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्या दीपक का प्रकाश घर के अंधकार को नष्ट नहीं करता? करता ही है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।।36।। हे परमेश्वर! आपके भक्तिपूर्वक दर्शन करने से नरकायु आदि पाप कर्मों का सहज ही अपकर्षण होता है, तिर्यंच जीव भी अनंतर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।।37।। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष के चंद्रमा से सागर का जल स्वभाव से वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार आपकी भक्ति से शुभ-पुण्य प्रकृतियों का स्थिति व अनुभाग वृद्धि को प्राप्त होता है।।38।। अपने संसार व अष्ट कर्मों के क्षय के लिए एवं शुद्ध आत्म- गुणों की प्राप्ति के लिए मैं आठों याम जिनभक्ति करता हूँ। ये जिनभक्ति नियम से संसार का नाश करने वाली है।।39।। हे जिनदेव! भव्य जीव आपके भामंडल में अपने सात भव देखने में समर्थ होते हैं। आपके सन्निकट में विद्यमान अष्टप्रातिहार्य अष्टम पृथ्वी का ही कारण हैं।।40।। जो भव्य जीव स्वात्मसिद्धि रूप परम वैभव की आकांक्षा करते हैं वे सहज भाव से आप श्री वासुपूज्य जिनेंद्र के परम पूज्य चरणों में नमस्कार करते हैं।।41।। पुनः वहाँ राजा अशोक ने श्रीवासुपूज्य भगवान् की शुभ साक्षी में समस्त वस्त्राभूषणों का परित्याग किया एवं पंचमुष्टि केशलोंच किया।।42।। उनके साथ अन्य राजागण भी यथाजात दिगंबर मुनि हुए एवं रोहिणी आदि नारियों ने भी सुमति नामक गणिनी आर्यिका से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की।।43।। अनंत संसार के क्षय के लिए विवेकपूर्वक अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप महाव्रत धारण किए।।44।। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालन अशुभ प्रवृत्ति के निराकरण के लिए किया।।45।। पंचेंद्रियों को जीतने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। आत्मविशुद्धि पूर्वक उन अशोक मुनिराज ने छः आवश्यक व सात विशेष गुण धारण किए।।46।। अशोक मुनिराज बाईस परीषहों को जीतते हुए, बारह तपों को करते हुए, उत्तरगुणों का पालन कर रहे थे; तब उन्होंने बहुत सी ऋद्धियों को प्राप्त किया।।47।।

2040. चउणाणधारगं तित्थयर-समवसरणे गणहर-देवं।
पणमामि सुभत्तीए, असोगं चउकम्मक्खयिदुं।।48।।

2041. तित्थयर-सुकेवलिणा, सह अणेगगामणयरेसुकरिदो।
मंगलविहारो तेण, धम्म-झाणे पलीमाणेण।।49।।

2042. अणसणं ऊणोदरं, रस-चागं विट्टिपरिसंखाणं च।
विवित्त-सेज्जासणंच, णाणाविह-कायकिलेसंदु।।50।।

2043. बहिर-तवं अंतरं पि, पायच्छित्तं विणयं तह करीअ।
वेज्जावच्चंसज्झायं, विउस्सग्गंसुहंझाणंच।।51।।(जुम्मं)

2044. जहवि लोए विज्जंत - जीवाइ - छद्दव्वेसु सहावदो।
मुत्तिगा मुणेदव्वा, पोग्गला तह असुद्ध-जीवा।।52।।

2045. अणाइणिहणो सुद्धो, धम्माधम्मा कालो आयासो।
तहेव मे अप्पा अवि, सत्तीइ अज्जं वि अणुभवमि।।53।।

2046. सगपुरिसट्ठ बलेणं, सुहझाणेण खयिय घादि-कम्माणि।
पाउणिस्सामि हु सुद्ध-सहावं सगअप्पस्स हंदि।।54।।

2047. जावदु जीवो रच्चदि, मुज्झदि दुस्सदि वा परदव्वेसुं।
तावदु बंधदि चदुविह-सुहासुहकम्माणि णियमेण।।55।।

2048. पइडी पदेस-बंधो जोगवसादो हवेदि जीवाणं।
ठिदी अणुभाग - बंधो, जीवाण कसायभावादो।।56।।

2049. तह तह अणुभाग-ठिदी, जह जह पवड्ढदे कसाओ।
अजोग-जिण विवज्जिदा, सेसा बंधगा पडिसमये।।57।।

2050. मिच्छत्तवसेण भमदि, अणादीदु दुहपूरिद-संसारे।
अविणाभावि-रूवेण, तेण सह अणंताणुबंधी।।58।।

2051. पण-महव्वदं समिदिं, गुत्तिं पालंतो जयिय अक्खाणि।
बेदहतवं च किच्चा, अविवागि-णिज्जरं करेज्जा।।59।।

श्री वासुपूज्य भगवान् के समवशरण में जो चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान) के धारी गणधर हुए उन श्री अशोक गणधरदेव को चार कर्मों (जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी व क्षेत्रविपाकी) के क्षय के लिए भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।48।। उन गणधरदेव ने धर्मध्यान में लीन होते हुए श्री तीर्थंकर केवली के साथ अनेक गाँव, नगरों में मंगल विहार किया।।49।। वे अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग, वृत्ति-परिसंख्यान, विविक्तशय्यासन व नाना प्रकार के कायक्लेश ये बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व शुभध्यान ये अंतरंग तप किया करते थे।।50-51।। (वे मुनिराज इस प्रकार तत्त्वचिंतन किया करते थे अहो!) यद्यपि लोक में जीवादि छः द्रव्य विद्यमान हैं उनमें पुद्गल द्रव्य तथा अशुद्ध जीव स्वभावतः मूर्तिक जानने चाहिए।।52।। धर्म, अधर्म, काल व आकाश द्रव्य अनादिकाल से शुद्ध हैं और अनंतकाल तक शुद्ध रहेंगे उसी प्रकार मेरी आत्मा आज भी शक्ति से शुद्ध है, ऐसा मैं अनुभव करता हूँ।।53।। अपने पुरुषार्थ के बल से, शुभध्यान से घातियाकर्मों का क्षय कर मैं अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव को निश्चय से प्राप्त करूंगा।।54।। जब तक जीव परद्रव्यों में रंजायमान होता है, मोहित होता है व उनसे द्वेष करता है तब तक वह नियम से शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करता है।।55।। जीवों के प्रकृति व प्रदेश बंध योग के वशीभूत होता है तथा स्थिति व अनुभाग बंध कषाय भावों से होता है।।56।। जैसे-जैसे कषाय वृद्धिंगत होती हैं वैसे-वैसे कर्मों का अनुभाग व स्थिति भी वृद्धिंगत होती है। अयोग केवली बंध से वर्जित होते हैं एवं शेष जीव प्रतिसमय कर्म का बंध करते हैं।।57।। मिथ्यात्व के वश होकर जीव अनादिकाल से इस दुःखपूरित संसार में परिभ्रमण कर रहा है। उस मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी कषाय भी अविनाभावी रूप से होती है।।58।। अब पंच महाव्रत, पंच समिति व तीन गुप्तियों का पालन करते हुए इंद्रियों को जीतकर तथा बारह प्रकार के तप कर अविपाकी निर्जरा करनी चाहिए।।59।।

2052. विज्जंताणंतत्था, सहावो वि अणंतरूवो ताणं।
लोए मोक्खं लहिदुं, पओजणभूद-सत्त-तच्चं।।60।।

2053. तिक्काले तियलोए, जीवो उत्तमो सव्वतच्चेसुं।
दव्वेसु वरो जीवो, पदत्थेसु अत्थिकायेसुं।।61।।

2054. सुद्धगुणपज्जाय-जुद-दव्वो हं सय सुद्ध-सहावादो।
सिद्धोव्व मे सहावो, लहेज्ज तं दव्वदिट्ठीए।।62।।

2055. पोग्गलदव्वो णेयो, भिण्णो सव्वदा जीव-जादीदो।
जीवलक्खण - चेयणा, चेयणाइ दंसणं णाणं।।63।।

2056. लोए पोग्गला होंति, संजुदा फास-रस-गंध-वण्णेहि।
रागादु देसादु पुण, पुण पोग्गल-वग्गणा गहदे।।64।।

2057. करिदं सहस्सवारं, एरिसं चिंतणं मुणिवरेणं दु।
सुभावेहि अणिच्चाइ-बारसाणुवेक्खाण पुण पुण।।65।।

2058 जहायाले उण्हम्मि, गिरिसिहरम्मि आदावणं जोगं।
करीअ धम्मझाणेण, सीयलो सगप्प-मणुभवीअ।।66।।

2059. सीदयालम्मि जोगी, तडम्मि सायर-सरिदा-सरादीणं।
झाएज्जा सुद्धप्पं, चिंतीअ सगगुणं सिद्धोव्व।।67।।

2060. णाणग्गिं पज्जलित्तु, अप्पं सोहेज्ज तच्चचिंतणेण।
णिव्विअप्प-झाणेण वि, संकमीअ असुहा सुहेसुं।।68।।

2061. रणसूरोव्व धारिदं, कवयं अणुवेक्खाणं मुणिवरेण।
पंचमहव्वद-सरेहि, हणिदं पणअघं विसुद्धीइ।।69।।

लोक में अनंत पदार्थ विद्यमान हैं और उनके स्वभाव भी अनंत रूप हैं। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रयोजनभूत सात तत्त्व होते हैं।।60।। तीनों काल व तीनों लोक में जीवतत्त्व ही सर्व तत्त्वों में उत्तम होता है। सभी द्रव्यों, सभी पदार्थों व सभी अस्तिकायों में जीव ही उत्तम होता है।।61।। शुद्ध स्वभाव से मैं सदैव शुद्ध गुण-पर्याय से युक्त द्रव्य हूँ। द्रव्यदृष्टि से सिद्धों के समान ही मेरा स्वभाव है। मुझे उस शुद्ध द्रव्य को प्राप्त करना चाहिए।।62।। पुद्गल द्रव्य जीव की जाति से सदैव भिन्न जानना चाहिए। जीव का लक्षण चेतना है और चेतना का लक्षण दर्शन व ज्ञान है।।63।। लोक में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से युक्त पुद्गल द्रव्य होते हैं। जीव राग या द्वेष से पुनः-पुनः पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है।।64।। मुनिराज ने इस प्रकार हजारों बार शुभ भावों से अनित्य आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का पुनः पुनः चिंतन किया।।65।। मुनिराज यथासमय ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर आतापन योग किया करते थे किंतु विशेषता यह है कि वे धर्मध्यान से शीतल थे एवं अपनी आत्मा का अनुभव किया करते थे।।66।। शीतकाल में वे योगीराज सागर, नदी, जलाशय आदि के तट पर शुद्धात्मा का ध्यान किया करते थे, सिद्धों का चिंतन किया करते थे।।67।। तत्त्वचिंतन के बल से ज्ञान की अग्नि प्रज्ज्वलित कर आत्मा का शोधन करते थे। कभी निर्विकल्प ध्यान से अशुभ प्रकृतियाँ शुभ में संक्रमित किया करते थे।।68।। जिस प्रकार संग्राम में पराक्रमी योद्धा युद्ध हेतु कवच धारण करता है उसी प्रकार उन अशोक मुनिराज ने विशुद्धिपूर्वक अनुप्रेक्षाओं का कवच धारण किया था, पाँच महाव्रत रूपी बाणों से पाँच पापों का हनन किया था।।69।।

पथ्यावक्त्र छंद

2062. सुत्ते वत्थुम्मि रज्जुम्मि, वंसे मालाइ जत्थ वा।
गंठी तत्थ कठोरत्तं, बाहा मुत्तीइ होज्ज सा॥70॥

2063. अंतगंठिं पि मुंचेदि, बहिगंठिं ण केवलं।
णिग्गंथोअप्पमुत्तीए,तंसक्कोकरिदुंहिदं॥71॥(जुम्मं)

वंशस्थ छंद

2064. मिदत्थणत्थाण हवेज्ज कारणं,
सुलोयवालो भुवणम्मि णो वरं।
सुसेट्ठ-णिग्गंथ-मुणी इगो जगे,
सुरक्खिदो तेण विणा हु को वि णो॥72॥

2065. अकारणं सेट्ठसुही दियंबरो,
जगम्मि जीवा सकारणं वरं।
ससत्थसिद्धीइ रिऊ ण ते खमा,
वरं सुजोगी सिविणे कया वि णो॥73॥

धागे, वस्त्र, रस्सी, बांस व माला में जहाँ-जहाँ गाँठ होती है वहाँ-वहाँ कठोरता होती है और कठोरता से मुक्ति में बाधा होती है। अतः निर्ग्रन्थ मुनिराज आत्ममुक्ति के लिए केवल बाह्य ग्रंथियों को ही नहीं छोड़ते अपितु अंतरंग ग्रंथियाँ भी तज देते हैं तभी तो वे मुनिराज सबका हित करने में तत्पर होते हैं।।70-71।। लोक में कहे जाने वाले लोकपाल कदाचित् सीमित अर्थ व अनर्थ का कारण भी हो सकते हैं किन्तु संसार में एक दिगंबर मुनिराज ही श्रेष्ठ लोकपाल हैं; उनका आश्रय लिए बिना कोई भी आत्मा सुरक्षित नहीं है।।72।। दिगंबर संत प्रत्येक प्राणी के अकारण बंधु हैं। संसार में अन्य जीव सकारण बंधु होते हैं। यद्यपि संसारी प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध होने पर शत्रु भी हो सकते हैं किन्तु वे योगी स्वप्न में भी कभी किसी के शत्रु नहीं होते।।73।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में राजा अशोक की दीक्षा और तत्त्वचिंतन का वर्णन करने वाला अट्ठारहवाँ नंद पूर्ण हुआ।

एगूणवीसइम-णंदो

2066. एयदा रुक्खमूले, करीअ सुद्धप्पज्झाणं जोगी।
विसुद्धीइ आरुहीअ, उवसमसेढिं सज्झाणेण॥1॥

2067. अजसकित्ति-अरदि-सोग-असादादीण किच्चा परिणमेदि।
बंधपरावत्तिसहस्सं अधपवत्तकरणेहिं च॥2॥

2068. पुव्वोव्वण ठिदिघादो, णणुभागघादो ण गुणसंकमणा।
पडिसमयं पवड्ढेदि, खलु अणंतगुण-विसुद्धीए॥3॥

2069. अपुव्वकरणस्स पढम-समए ठिदिखंडग-पारंभंतो।
पलिदोवमस्स, संखेज्जदि भागं जहण्णेण गहदि॥4॥

2070. ठिदिखंडगं हु जोगी, उवसंतदंसणमोहणीओ सो।
उक्कस्सेणं च णवरि, सायरोवमपुधत्त-मेत्तं॥5॥(जुम्मं)

2071. असुह-कम्माण-मणंत-भागो अणुभाग-खंडय-पमाणं।
अपुव्वकरण-पढमम्मि, ठिदिसंतकम्मं ठिदिबंधो॥6॥

2072. अंतकोडाकोडी य, वरं अपुव्वकरणद्धादो तहा।
अणियट्टिकरणद्धादु, विसेसाहिया दु गुणसेढी॥7॥(जुम्मं)

2073. उदयावलियबाहिरे, आउग - वज्जिदसेसकम्माणं च।
गुणसेडी णिक्खित्ता, अपुव्वकरणपढमसमयम्मि॥8॥

2074. विदियसमयम्मि ते ठिद-अणुभागखंडआ तह ठिदिबंधा।
णवरि पढमसमयम्मि हु, हंदि ओकड्डिददव्वादो॥9॥(जुम्मं)

2075. असंखेज्जगुणं दव्व-मोकड्डिय गलिदसेसगुणसेढिं।
उदयावलियबाहिरट्ठिदिप्पहुडि कुव्वेदि णियमा॥10॥

2076. इत्थ-मंतोमुहुत्तं, गंतूण अणुभागखंडगपढमो।
खयदि उवसामगं तं, णमंसामि तिव्वभत्तीए॥11॥

एक बार वे योगीराज वृक्षमूल में शुद्धात्मध्यान कर रहे थे। तब सद्ध्यान के बल से विशुद्धिपूर्वक उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए।।1।। सप्तम गुणस्थान में स्थित वे उपशामक श्री अशोक महा-मुनिराज असाता, अरति, शोक व अयश:कीर्ति आदि प्रकृतियों की सहस्रों बार बन्धपरावृत्तियों को करके अर्थात् अप्रमत्त से प्रमत्त और प्रमत्त से अप्रमत्त गुणस्थान में जाकर, कषायों के उपशमाने के लिए अध:प्रवृत्तकरण परिणामों से परिणमता है।।2।। यहाँ पूर्व के समान स्थितिघात नहीं है, न अनुभाग घात है और न ही गुणसंक्रमण। यहाँ अनंतगुणी विशुद्धि से प्रतिसमय वह योगी बढ़ता रहता है।।3।। अपूर्वकरण के प्रथम समय में वह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि योगी स्थितिकाण्डक को प्रारंभ करते हुए जघन्य से पल्योपम के संख्यातवें भाग और उत्कर्ष से सागरोपम पृथक्त्व मात्र स्थितिकाण्डक को ग्रहण करते हैं।।4-5।। अशुभ कर्मों के अनुभाग कांडक का प्रमाण अनंत भाग होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में स्थितिसत्व और स्थितिबंध अंत:कोड़ाकोड़ी मात्र है। किन्तु गुणश्रेणी, अपूर्वकरण काल से और अनिवृत्तिकरण काल से विशेष अधिक है।।6-7।। अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम समय में आयु को छोड़ शेष कर्मों की गुणश्रेणी उदयावली से बाह्य में निक्षिप्त है। अपूर्वकरण के द्वि तीय समय में स्थितिकांडक, अनुभाग कांडक और स्थितिबंध वे ही हैं।।8-9।। विशेषता यह है कि प्रथम समय में अपकृष्ट द्रव्य से असंख्यात गुणे द्रव्य का अपकर्षण कर उदयावलि से बाह्य स्थिति से लेकर गलित शेष गुणश्रेणी को नियम से करता है।।10।। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त जाकर प्रथम अनुभाग कांडक नष्ट होता है। अहो! उन उपशामक योगीराज को मैं तीव्रभक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।।11।।

2077. अपुव्वकरणट्ठाणे, अणुभागखंडगसहस्स - गदेसुं।
पढमोहु ठिदिखंडयो, ठिदिबंध-अणुभागखंडगो॥12॥

2078. जुगवं णिट्ठिदा तदो, अण्णट्ठिदिबंधो ठिदिखंडयो य।
अण्णणुभागखंडयो, आढत्तोविहाणेणिमेण॥13॥(जुम्मं)

2079. ठिदिखंडयपुधत्तम्मि, गदम्मि बंध-वोच्छेदो हवेज्जा।
णिद्दा-पयलाणं चिय, ठाण-सत्तखंडेसु पढमे॥14॥

2080. अंतोमुहुत्ते गदे, परभविग-णामकम्म-पइडीणं दु।
होदि बंधवोच्छेदो, पंच - सत्तभागे गंतूण॥15॥

2081. णामकम्माण जाणं, पइडीणं परभवसंबंधीए।
सुह-देवगदीए सह, बंधो होदि परभविगा ता॥16॥

2082. जहण्णेणुक्कस्सेण, सत्तवीसा तीसा ता कमेणं।
देवगदी पंचिंदिय-जादी समचउरसं तहेव॥17॥

2083. पसत्थ-विहायोगदी, तहा तस-वण्ण-अगुरुलहु-चउक्कं।
थिर-सुह-सुहग-सुस्सरादेय-णिम्माण-तित्थयरा य॥18॥

2084. ओरालिय - विवज्जिदा, चउदेहा देवगच्चाणुपुव्वी।
वेगुव्विय-आहारग-अंगोवंगाणिखलुतीसा॥19॥(तिअं)

2085. अपुव्वकरणस्स-चरिम-समयम्मि ठिदि-अणुभाग-खंडयो दु।
ठिदिबंधो य णिट्ठिदा, समगं तह बंधवोच्छेदो॥20॥

2086. तत्थहस्स-रदि-दुगुंछ-भयाण छकम्माणुदयवोच्छेदो।
उत्त-चउक्केणंसह, अविअरदि-सोग-पइडीणंच॥21॥(जुम्मं)

अपूर्वकरण गुणस्थान में अनुभाग कांडक सहस्रों के बीतने पर प्रथम स्थितिकांडक, प्रथम स्थितिबंध और एक अन्य अनुभाग कांडक, ये एक साथ ही समाप्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् अनन्तर समय में अन्य स्थितिबंध, अन्य स्थितिकांडक और अन्य अनुभागकांडक का प्रारंभ हुआ। (परंतु गुणश्रेणी अपूर्वकरण काल, अनिवृत्तिकरण काल और सूक्ष्मसांपरायिक काल से विशेष अधिक होकर जो पूर्व में की थी वही यहाँ भी है। विशेषता केवल यह है कि वह यहाँ से गलित शेष है।।।12-13।। इस विधान के अनुसार आदि से लेकर स्थितिकांडक पृथक्त्व के व्यतीत होने पर निद्रा व प्रचला की बंधव्युच्छित्ति होती है। अर्थात् अपूर्वकरण काल के सात खंड करके प्रथम खंड में निद्रा व प्रचला की बंधव्युच्छित्ति होती है।।14।। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त बीतने पर परभविक नामकर्मों की बंधव्युच्छित्ति होती है। अर्थात् अपूर्वकरण के सात भागों में से पाँच भाग बीत जाने पर परभविक नामकर्मों की व्युच्छित्ति होती है।।15।। नामकर्म की जिन प्रकृतियों का परभवसम्बन्धी देवगति के साथ बंध होता है उन्हें परभविक नामकर्म कहते हैं।।16।। ये प्रकृतियाँ जघन्य से सत्ताईस व उत्कृष्ट से तीस हैं। देवगति, पंचेंद्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिक को छोड़कर शेष चार शरीर, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक व आहारक अंगोपांग, प्रशस्त विहायोगति, त्रसादि चार, वर्णादि चार व अगुरुलघु आदि चार, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर ये 30 परभविक नामकर्म प्रकृतियाँ हैं।।17-19।।

विशेष (काल का अल्पबहुत्व)-जिस अपूर्वकरण काल में निद्रा-प्रचला प्रकृतियाँ बंध से व्युच्छिन्न होती हैं, वह काल स्तोक है। इससे परभविक नामकर्मों की व्युच्छित्ति का काल पाँच गुणा है। इससे अपूर्वकरणकाल दो बटे सात भाग अधिक है। अपूर्वकरणकाल के अंतिम समय में स्थितिकांडक, अनुभागकांडक और स्थितिबंध ये एक साथ समाप्त होते हैं और उसी समय में हास्य, रति, भय व जुगुप्सा, इन चार कर्मों की बंध व्युच्छित्ति होती है और वहाँ ही उक्त चार (हास्य, रति, जुगुप्सा व भय) कर्मों के साथ अरति व शोक इन छः कर्मों की उदय व्युच्छिति भी होती है।।20-21।।

2087. पढमसमयअणियट्टी, जादो पुणो उवसामगो जोगी।
पढमम्मिट्ठिदिखंडयो,पल्लस्ससंखेज्जदिभागो।।22।।

2088. अपुव्वट्ठिदी बंधो, पलिदोवमस्स संखेज्ज-भागेण।
हीणो अणुभाग-खंडगो, सेसस्स अणंत-भागा।।23।।

2089. पुण गुणसेणी सेसे, सेसे असंखेज्जगुणिदसेणीइ।
तिण्णिकरण-वोच्छिण्णा,अप्पसत्थ-पइडीणतदाहि।।24।।

2090. उवसामणाकरणंच,णिधत्तिकरणंणिकाचणाकरणं।
आउ-वज्जिद-सेसाण,ठिदिसंतकम्मंठिदिबंधो।।25।।

2091. अंतोकोडाकोडी, अंतोकोडीए लक्खपुधत्तं।
ठिदिखंडयसहस्सेसु,गदेसुसंखेज्जभाग-गदा।।26।।(तिअं)

2092. अणियट्टीअद्धाए, पुण संखेज्जभागेसुं गदेसुं।
असण्णीव ठिदिबंधो, ठिदिबंधपुधत्ते गदे पुण।।27।।

2093. चउरिंदियोव्व ट्ठिदी, बंधो ठिदिबंधपुधत्ते गदे य।
तिअक्खट्ठिदि-बंधेण,समगोट्ठिदिबंधोहवेदिदु।।28।।(जुम्मं)

2094. पुण ठिदिबंधपुधत्ते, गदे बेइंदियोव्व ठिदिबंधो दु।
ठिदिबंधपुधत्त-गदे,एइंदिय-ठिदिबंधोव्वचिय।।29।।

अपूर्वकरणकाल के अंतिम समय में स्थितिकांडक, अनुभागकांडक और स्थितिबंध ये एक साथ समाप्त होते हैं और उसी समय में हास्य, रति, भय व जुगुप्सा, इन चार कर्मों की बंध व्युच्छित्ति होती है और वहाँ ही उक्त चार (हास्य, रति, जुगुप्सा व भय) कर्मों के साथ अरति व शोक इन छः कर्मों की उदय व्युच्छिति भी होती है।।20-21।। इसके पश्चात् वे उपशामक योगी प्रथम समय अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती हुए। अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में स्थितिकांडक पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण है।।22।। अपूर्व अर्थात् नवीन स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन होता है। अनुभागकांडक शेष के अनंत बहुभाग मात्र है।।23।। पुनः असंख्यातगुण ी श्रेणी रूप से शेष शेष में गुणश्रेणी होती है। उसी समय अप्रशस्त प्रकृतियों के उपशामनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण ये तीन करण व्युच्छिन्न होते हैं। आयु को छोड़कर शेष कर्मों का स्थितिसत्त्व अंतःकोड़ाकोड़ी प्रमाण और स्थितिबंध अंतःकोड़ाकोड़ी के भीतर लक्षपृथक्त्वमात्र होता है। पश्चात् स्थितिकाण्डक सहस्रों के व्यतीत होने पर अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यात बहुभाग चले जाते हैं।।24-26।। पुनः अनिवृत्तिकरणकाल के संख्यात बहुभागों के बीत जाने पर असंज्ञी के स्थितिबंध के समान स्थितिबंध होता है। पुनः स्थितिबंध पृथक्त्व बीत जाने पर चतुरिंद्रिय के स्थितिबंध के समान स्थितिबंध होता है। पुनः स्थितिबंध पृथक्त्व के बीत जाने पर त्रीन्द्रिय के स्थितिबंध के समान स्थिति बंध होता है।।27-28।। पुनः स्थितिबंध पृथक्त्व के व्यतीत होने पर दो इंद्रिय के स्थितिबंध के समान स्थितिबंध होता है। पुनः स्थितिबंध पृथक्त्व के व्यतीत होने पर एकेन्द्रिय के स्थितिबंध के सदृश स्थिति बंध होता है।।29।।

2095. पुण ठिदिबंधपुधत्ते, गदे णामगोदकम्म-पइडीणं।
पलिदोवम-ठिदि-बंधो,तदाहुणाणावरणिज्जस्स॥30॥

2096. दंसणावरणिज्जस्स, ठिदी वेयणिज्जंतरायाणं दु।
दिवड्ढपलिदोवमोय,बेपलिदोवमोदुमोहस्स॥31॥(जुम्मं)

2097. पलिदोवमट्ठिदिगादु,णाम-गोदाणठिदिबंध-समत्ते।
ठिदिबंधादु जमण्णं, बंधदि संखेज्जगुणहीणो॥32॥

2098. सेसाणं ठिदिबंधो, पुव्वठिदिबंधादु पलिदोवमस्स।
संखेज्जभागहीणो,एत्तोपहुडि-णाम-गोदाण॥33॥

2099. पुण्णम्मिठिदिबंधम्मि,संखेज्जगुणहीणो अण्णबंधो।
सेसाणं जाव णेव, पलिदोवमो खलु ठिदिबंधो॥34॥

2100. ताव ठिदिबंधपुण्णे,णो अण्णो ठिदिबंधो हवेदि सो।
पलिदोवमस्सहीणो,हंदि संखेज्जदिभागेणं॥35॥(तिअं)

2101. णाण-दंसणावरणी-वेयणीय-विग्घाणठिदिग-बंधो।
पलिदोवमो गदेसुं, ठिदिबंधसहस्सेसुं तहा॥36॥

2102. मोहणिज्जस्सतिभाग-अहिय-पलिदोवमोठिदि-बंधोपुण।
ताणंठिदिबंधोपुव्वादोसंखेज्जगुणहीणो॥37॥(जुम्मं)

2103. मोहस्स य ठिदिबंधो, पल्लस्स य संखेज्जभागहीणो।
ठिदिबंधपुधत्त-गदे,तस्सविपलिदोवमोठिदिगो॥38॥

2104. आउ-वज्जिदाणं पुण, सेसाणं कम्माण ठिदी बंधो।
णेयोपलिदोवमस्स,संखेज्जदिभागमेत्तंखलु॥39॥(जुम्मं)

2105. उवरि गच्छंतस्स संखेज्ज - ठिदिबंध - सहस्साइं कट्टु।
बज्झमाणपइडीणं,पलिद-असंखेज्जदि-भागोहु॥40॥

पुनः स्थितिबंध पृथक्त्व के व्यतीत होने पर नाम व गोत्र कर्म प्रकृतियों का पल्योपम स्थिति वाला बंध होता है। उस समय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय कर्मों का डेढ़ पल्योपम स्थिति वाला और मोहनीय का दो पल्योपम स्थिति वाला बंध होता है।।30-31।। इस स्थिति बंध के समाप्त होने पर नाम-गोत्रों के पल्योपम स्थिति वाले बंध से जो अन्य स्थिति बंध बंधेगा वह स्थिति बंध संख्यातगुणा हीन है।।32।। शेष कर्मों का स्थितिबंध पूर्व स्थितिबंध से पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन है। यहाँ से लेकर नाम-गोत्र के स्थितिबंध के पूर्ण होने पर संख्यात गुणाहीन अन्य स्थिति बंध होता है। शेष कर्मों का जब तक पल्योपम स्थिति वाला बंध नहीं प्राप्त होता तब तक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर जो अन्य स्थितिबंध है वह पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन है।।33-35।। इस प्रकार स्थितिबंध सहस्रों के बीतने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय इनका पल्योपम स्थिति वाला बंध होता है व मोहनीय का त्रिभाग अधिक पल्योपमस्थिति वाला बंध होता है। तत्पश्चात् उन ज्ञानावरणादि चारों प्रकृतियों का भी जो अन्य स्थिति बंध है वह पूर्व स्थिति बंध से संख्यातगुणा हीन है।।36-37।। मोहनीय का स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन है। पश्चात् स्थितिबंध पृथक्त्व के व्यतीत होने पर उस मोहनीय का भी पल्योपम स्थिति वाला बंध होने लगता है। तदनन्तर आयु को छोड़कर शेष कर्मों का अन्य स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र होता है।।38-39।। इस अल्पबहुत्व विधि से संख्यात स्थितिबंध सहस्रों को करके ऊपर जाने वाले जीव के बध्यमान प्रकृतियों का स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र ही रहता है।।40।।

2106. उदीरणा होज्ज तदा, असंखेज्जसमयपबद्धाणं खलु।
पुण संखेज्जठिदि - बंध - सहस्सेसु गदेसुं हवेदि।।41।।

2107. अणुभागो बंधेणं, देसघादी मणपज्जयकम्मस्स।
दाणंतरायस्स पुण, संखेज्जठिदिबंध - गदेसुं।।42।।

2108. ओहिणाण - दंसणावरणिज्ज - लाहंतरयाणं पुणो य।
पुण संखेज्जठिदिबंध - गदेसुं होदि देसघादी।।43।।

2109. सुदणाणावरणिज्जस्स य अचक्खुदंसणावरणिज्जस्स।
अणुभागो बंधेणं, देसघादी भोयविग्घस्स।।44।।(चउक्कं)

2110. चक्खुदंसणावरणिज्जस्स अणुभागो होदि बंधेणं।
देसघादी गदेसुं, संखेज्जठिदि-बंधेसुं पुण।।45।।

2111. संखेज्जठिदि-बंधेसु, गदेसुं मदिणाणावरणिज्जस्स।
बंधेणणुभागो उवभोयविग्घस्स देसघादी।।46।।

2112. संखेज्जठिदिबंधेसु, गदेसु वीरियविग्घस्सणुभागो।
बंधेण देसघादी, मोहे ठिदी बंधो थोगो।।47।।

2113. णाणा-दंसणावरण-विग्घेसु असंखेज्जगुणिदो ठिदी।
बंधो णामगोदेसु, वेयणीये विसेसाहियो।।48।।

2114. देसघादिकरणादो, संखेज्ज-ठिदिबंधसहस्स-गदेसु।
बारसकसाय-णवणोकसायाण अंतरकरणं च।।49।।

2115. पत्तुदयसंजलणस्स, उदयपत्तवेदस्स पढम-ठिदीउ।
अंतोमुहुत्तं ठविय, अंतरकरणं चिय कुव्वेदि।।50।।

तभी असंख्यात समयप्रबद्धों की उदीरणा भी होती है। पुनः संख्यात स्थितिबंधसहस्रों के व्यतीत होने पर मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानांतराय का अनुभाग बंध से देशघाती होता है। तत्पश्चात् संख्यातस्थितिबंधों के बीतने पर अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण और लाभांतराय का, इनका अनुभाग बंध से देशघाति हो जाता है। पुनः संख्यात स्थितिबंधों के बीतने पर श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगांतराय, इनका अनुभाग बंध से देशघाती हो जाता है।।41-44।। तत्पश्चात् पुनः संख्यात स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर चक्षुदर्शनावरणीय का अनुभाग बंध से देशघाति हो जाता है।।45।। पश्चात् पुनः संख्यात स्थितिबंधों के बीतने पर मतिज्ञानावरणीय और उपभोगांतराय का अनुभाग बंध से देशघाती हो जाता है।।46।। संख्यात स्थितिबंधों के बीतने पर वीर्यांतराय का अनुभाग बंध से देशघाती हो जाता है। (सर्व अक्षपक व सर्व अनुपशामक इन कर्मों के सर्वघाती अनुभाग को बांधते हैं, इन कर्मों के बंध से देशघातित्व को प्राप्त होने पर) मोहनीय में स्थितिबंध स्तोक होता है।।47।। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय में स्थितिबंध असंख्यातगुणा होता है। नाम व गोत्र में स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है। वेदनीय में स्थितिबंध विशेष अधिक होता है।।48।। इसके पश्चात् देशघाती करण से संख्यात स्थिति बंधसहस्रों के बीतने पर बारह कषाय और नव नोकषायों का अंतरकरण करता है।।49।। (अन्य कर्म का अंतरकरण नहीं है) जो संज्वलन उदय को प्राप्त है और जो वेद उदय को प्राप्त है इन (संज्वलन चतुष्क में से उदय प्राप्त कोई एक और वेदत्रय में से उदय प्राप्त कोई एक) दोनों कर्मों की प्रथम स्थितियों को अंतर्मुहूर्त मात्र स्थापित कर अंतरकरण करता है।।50।।

2116. सेसेयारसकसाय - अट्ठणोकसायाण - मुदयावलिं।
विहाय कुणदि अंतरं, उवरि अंतरं समट्ठिदी य॥51॥

2117. हेट्ठा दु विसमट्ठिदी, अंतरमुक्कीरिदुमाढत्ते चिय।
अण्णो-ठिदिबंधोठिदि-अणुभाग-खंडयाढत्तोय॥52॥(जुम्मं)

2118. गदेसु खंडयणुभाग-सहस्सेसु अणुभागखंडयण्णो।
सो ठिदिखंडअ-बंधो, अंतरुक्कीरद्धा समगं॥53॥

2119. विसेसेण कमेणं अंतरमुक्कीरमाण - मुक्किण्णं।
अत्तकहिदसत्थेहिं, जाणेज्ज सण्णाणविड्ढीइ॥54॥

(अंतर के लिए इन दोनों कर्मों की स्थितियाँ प्रथम स्थितियों से संख्यातगुणी ग्रहण की जाती हैं।) शेष ग्यारह कषाय और आठ नोकषायों की उदयावली को छोड़कर अंतर करता है। अंतर से ऊपर के उदय व अनुदय रूप सब कषायों के निषेक सदृश हैं परंतु अंतर के नीचे उदय व अनुदय रूप प्रकृतियों के निषेक प्रथम स्थिति के विषम होने से परस्पर में समान नहीं है। उक्त निषेकों को उत्कीर्ण करने के लिए अंतर के प्रारंभ होने पर अन्य स्थितिबंध, अन्य स्थिति कांडक और अन्य ही अनुभाग कांडक का प्रारंभ होता है।।51-52।। अनुभागकांडक सहस्रों के बीतने पर अन्य अनुभाग कांडक तथा वही स्थिति कांडक, वही स्थितिबंध और अंतर का उत्कीरण काल ये एक साथ पूर्णता को प्राप्त होते हैं।।53।। विशेष क्रम से उत्कीर्ण किया जाने वाला अंतर उत्कीर्ण हो जाता है। उस क्रम को आप्त कथित शास्त्रों के द्वारा सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिए जानना चाहिए।।54।।

2120. पुण्णाणि पुण मोहणिज्जस्स आणुपुव्वीसंकमो तहा।
लोहस्स दु असंकमो, मोहेगट्ठाणीअ - बंधो॥55॥

2121. णउंसयवेदस्स चिय, हवेज्ज पढम-समय-उवसामगो।
छ-आवलियासुगदासु, उदीरणा यमोहणिज्जस्स॥56॥

2122. एगट्ठाणीयुदओ, संखेज्जवस्सट्ठिदीओ बंधो।
इमाणि सत्तकरणाणि, होज्जंतरकदपढमसमए॥57॥(तिअं)

2123. गदेसुं संखेज्ज - ठिदिबंध - सहस्सेसु णउंसय - वेदो।
उवसंतो अणंतरं, थीवेदस्स उवसामगो दु॥58॥

विशेष-अंतर को करने वाले जो कर्मांश बंधते हैं और उदय में रहते हैं उन कर्मों की अंतर स्थितियों को उत्कीर्ण करता हुआ उन स्थितियों के प्रदेशाग्र को बंध प्रकृतियों की प्रथम स्थिति में भी देता है और द्वितीय स्थिति में भी देता है। जो कर्मांश न बंधते हैं और न उदय को ही प्राप्त होते हैं उनके उत्कीर्ण किये जाने वाले प्रदेशाग्र को स्वस्थान में नहीं देता। वर्द्धमान प्रकृतियों की उत्कीर्ण नहीं की जाने वाली स्थितियों में देता है। जो कर्मांश नहीं बंधते हैं किन्तु उदय में आते हैं उसके उत्कीर्ण होने वाले प्रदेशाग्र अपनी प्रथम स्थिति में देता है तथा बंधने वाली और उत्कीर्ण नहीं होने वाली स्थितियों में भी देता है। जो कर्मांश बंधते हैं किन्तु उदय को प्राप्त नहीं होते हैं उनके उत्कीर्ण किए जाने वाले प्रदेशाग्र को बध्यमान प्रकृतियों की उत्कीर्ण न की जाने वाली स्थितियों में देता है। इस क्रम से उत्कीर्ण किया जाने वाला अंतर उत्कीर्ण हो गया। तभी मोहनीय का आनुपूर्वी संक्रमण, लोभ का असंक्रमण एवं मोहनीय का एकस्थानीय (लता समान) बंध, नपुंसकवेद का प्रथम समयवर्ती उपशामक छः आवलियों के व्यतीत होने पर उदीरणा, मोहनीय का एकस्थानीय (लता स्थान) उदय, मोहनीय का संख्यात वर्ष मात्र स्थिति वाला बंध ये सात करण अंतर कर चुकने के पश्चात् प्रथम समय में होते हैं।।55-57।। संख्यात स्थितिबंधसहस्रों के व्यतीत होने पर (उपशम को प्राप्त कराया जाने वाला) नपुंसक वेद उपशांत हो जाता है। इसके उपशांत होने के अनंतर स्त्रीवेद का उपशामक होता है।।58।।

2124. पुरिसवेदोदयेणं, उवसमसेडियारोहणादु तदा।
अपुव्वट्ठिदिखंडओ,अपुव्वअणुभागखंडओय॥59॥

2125. अपुव्वंतठिदिबंधो, पत्थिदो ठिदिबंधसहस्स - गदेसु।
थीवेदस्सुवसामण - अद्धा - संखेज्जभाग - गदे॥60॥

2126. णाण - दंसणावरणंतरायाण संखेज्जवस्स-बंधो।
तदा तिमूलपइडीण, पुण्णणाणदंसणं विहाय॥61॥

2127. सेसुत्तरपइडीणं, एगट्ठाणिय - अणुभागबंधो दु।
पुणसंखेज्जगुणहीण-बंधोअण्णोयहवेदिखलु॥62॥(चउक्कं)

2128. गदेसुं संखेज्जठिदिबंधसहस्सेसुं इत्थी वेदो।
उवसंतो णमंसामि, तं उवसामगं भत्तीए॥63॥

2129. थीवेदे उवसंते, उवसामगो सत्तणोकसायाण।
तदेव ठिदिखंडअण्ण-णुभाग-खंडओ ठिदिबंधो॥64॥

2130. गदेसुं संखेज्जठिदिबंध - सहस्सेसुवसामगयाले।
गदे णाम-गोदवेदणिज्जाणं संखेज्जवासो॥65॥

2131. गदेसुं कमेणं ठिदि - बंधसहस्सेसुं खलु उवसंता।
सत्तणोकसाया हं, पणमामि भावविसुद्धीए॥66॥

क्योंकि पुरुषवेद के उदय से उपशम श्रेणी का आरोहण हुआ था। उसी समय अपूर्व स्थितिकांडक, अपूर्व अनुभाग कांडक और अपूर्व अंतिम स्थिति बंध प्रारंभ होता है। (स्त्रीवेद को गुणश्रेणी से उपशमाना है) इस प्रकार स्थितिबंधसहस्रों के व्यतीत होने पर स्त्रीवेद के उपशामन काल का संख्यातवाँ भाग बीतने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का संख्यात वर्ष की स्थिति वाला बंध होता है। तभी तीन मूल प्रकृतियों की पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञानावरण व केवलदर्शनावरण को छोड़कर शेष उत्तर प्रकृतियों का एकस्थानिक अनुभागबंध होने लगता है। (जहाँ से लेकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का संख्यात वर्ष की स्थिति वाला बंध है उसके पूर्ण होने पर) जो अन्य बंध होता है वह संख्यातगुणा हीन होता है।।59-62।।

अल्प-बहुत्व विशेष : मोहनीय का स्थिति बंध सबसे स्तोक है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इनका स्थितिबंध संख्यात गुना है। नाम-गोत्र का स्थिति बंध असंख्यात गुणा है। वेदनीय का स्थितिबंध विशेष अधिक है। पुनः संख्यात स्थितिबंधसहस्रों के बीतने पर स्त्रीवेद उपशांत हो जाता है। उन उपशामक मुनिराज को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।63।। स्त्रीवेद के उपशांत होने पर अनंतर काल में सात नोकषायों का उपशामक होता है। उसी समय में अन्य स्थितिखंड कांडक और अन्य ही अनुभाग कांडक ग्रहण किया जाता है तथा अन्य ही स्थितिबंध बंधता है।।64।। इस प्रकार संख्यात स्थितिबंध सहस्रों के बीतने पर जब सात नोकषायों के उपशामक का काल बीत जाता है तब नाम, गोत्र व वेदनीय इन कर्मों का संख्यात वर्ष की स्थिति वाला बंध होने लगता है।।65।। क्रम से स्थितिबंधसहस्रों के बीतने पर उपशांत की जाने वाली सात नोकषायें उपशांत हो जाती हैं। उन उपशामक मुनिवर को भावों की विशुद्धिपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ।।66।।

2132. णवरि पुरिस-वेदस्सदु, समऊणबेआवलि-समयबद्धा।
अणुवसंता य तदा हि, पुरिसस्स सोलसवस्साइं॥67॥

2133. संजलण-चउक्काणं, ठिदि-बंधो बत्तीस-वस्साइं च।
सेसाणं कम्माणं, संखेज्जवाससहस्साइं॥68॥(जुम्मं)

2134. पुरिसस्स पढमठिदीइ, दो-आवलिसेसे पडिआगालो।
आगालो वोच्छिण्णो, पदेसग्गं णेव संछुहदि॥69॥

2135. पुरिसवेदम्मि अंतरकदादो चिय छण्णोकसायाणं।
कोहसंजलणम्मि पुण, आणुपुव्वीसंकमत्तादु॥70॥(जुम्मं)

2136. पढमसमय-अवेदस्स, बेसमऊणदो आवलियबद्धा।
अणुवसंता दु ताणं, पदेसग्गं उवसमेदि चिय॥71॥

2137. असंखेज्जगुणाए य, सेडीइ परपइडीइ संकमदे।
पढमसमयअवेदस्स, संजलाणाण ठिदी बंधो॥72॥

2138. अंतोमुहुत्तूण - बत्तीस - वस्साइं सेसकम्माणं।
ठिदि बंधोहवेदि तह, संखेज्जवाससहस्साइं॥73॥(तिअं)

2139. पढमसमयअवेदी हु, उवसामदि अपच्चक्खाण-कोहं।
पच्चक्खाण-संजलण-कोहं हेट्ठाणिय-पढम-ठिदी॥74॥

2140. पत्तेयं ठिदिबंधे, पुण्णे संजलाण विसेसहीणो।
ठिदिबंधो य सेसाण, बंधो संखेज्जगुणहीणो॥75॥

2141. आवलि-पच्चावलीइ, सेसे संजलणकोहस्समित्थं।
विदिय-ठिदीदु आगाल-पच्चागालोय वोच्छिण्णो॥76॥

2142. विदियावलियादो चिय, उदीरणा पुण कोहसंजलणस्स।
तम्मि समयेग-सेसे, तस्स जहण्णट्ठिदीए खलु॥77॥

विशेषता यह है कि पुरुषवेद के एक समय कम दो आवली मात्र समयप्रबद्ध अभी अनुपशांत हैं। उस समय में पुरुषवेद का स्थितिबंध सोलहवर्ष, संज्वलन चतुष्क का बत्तीस वर्ष और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्ष सहस्र मात्र है।।67-68।। पुरुषवेद की प्रथम स्थिति में जब दो आवली शेष रह जाती हैं तब आगाल-प्रत्यागाल का व्युच्छेद हो जाता है। अंतरकरण समाप्ति समय से लेकर हास्यादि छः नोकषायों के प्रदेशाग्र को पुरुषवेद में स्थापित नहीं करता है किन्तु आनुपूर्वीसंक्रमण होने से संज्वलन क्रोध में स्थापित करता है।।69-70।। जो प्रथम समय अपगतवेद वाला है उसके (पुरुषवेद के) दो समय कम दो अवलिमात्र समयप्रबद्ध जो अनुपशांत हैं उनके प्रदेशाग्र को असंख्यात गुणी श्रेणी द्वारा उपशांत करता है। पुनः (अधःप्रवृत्त संक्रमण के द्वारा) परप्रकृति (संज्वलन क्रोध) में संक्रमण करता है। (प्रथम समय अपगतवेदी द्वारा संक्रमण कराया जाने वाला प्रदेशाग्र बहुत है। अनंतर काल में विशेष हीन है, यह विशेष हीन कम पूर्ण उपशांत होने तक जानना चाहिए। एक समयप्रबद्ध का अधिकार करके यह क्रम कहा गया है), प्रथम समयवर्ती अपगतवेदी के संज्वलन चतुष्क का स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त कम बत्तीस वर्ष और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्ष सहस्र मात्र होता है। 71-73।। प्रथम समयवर्ती अपगतवेदी, अप्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान क्रोध और संज्वलन क्रोध को उपशमाता है। वही अधःस्थानिक प्रथमस्थिति है।।74।। प्रत्येक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर संज्वलन चतुष्क का अन्य स्थितिबंध विशेष हीन होता है। शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यातगुणाहीन होता है।।75।। इस प्रकार इस क्रम से जब संज्वलन क्रोध की आवली या प्रत्यावली ही शेष रहती है तब द्वितीय स्थिति से आगाल-प्रत्यागालों की व्युच्छित्ती हो जाती है।।76।। तब द्वितीय आवली (प्रत्यावली) से ही उदीरणा होती है। उस प्रत्यावली में एक समय शेष रहने पर उस संज्वलनक्रोध की जघन्य स्थिति की उदीरणा होती है।।77।।

2143. अहुणा संजलण-चउक्काण ठिदिबंधो चत्तारि-मासा।
सेसाणं कम्माणं, संखेज्जवाससहस्साइं॥78॥

2144. संजलण-कोहस्स दोसमऊणदो-आवलियबद्धं खलु।
मोत्तूणं तिविहकोह-पएसा उवसंता तदा हि॥79॥

2145. दुविह कोहो संछुहदि, कोहसंजलणे संजलणकोहस्स।
पढमट्ठिदीए तिण्णि-आवलियाओ सेसाओ त्ति॥80॥

2146. समयूणति-आवलिया, सेसासु उत्तदुविहकोहो।
णेव संजलणकोहे, संछुब्भदि माणसंजलणे॥81॥

2147. समयूणावलियाए, सेसाइ संजलणकोहस्स हवदि।
पढमट्ठिदीए बंध-उदय-वोच्छिण्णो तदा तस्स॥82॥

2148. तिविह-माणुवसामगो, तस्स मुणिस्स संजलणत्तयाणं।
अंतोमुहुत्तूण-चउ-मासा ट्ठिदी बंधो तदा दु॥83॥

2149. सेस-कम्माण संखेज्जाणि वस्ससहस्साणि ठिदिबंधो।
माणस्स पढमठिदीइ, समयूणतिआवलिसेसासु॥84॥

2150. बेविहो माणो णेव, संछुब्भदि संजलणमाणे किण्णु।
संजलणमायाए दु, पडिआवलियाइ सेसाए॥85॥

2151. वोच्छिण्णो आगालो, पडिआगालो य पडिआवलियाइ।
समयेग-सेसे माण-संजलणस्स चिय मोत्तूणं॥86॥

2152. समऊणदोआवलिय-मेत्त-बद्धा सेसतिविहमाणस्स।
संतकम्ममुवसंतं, तदा तियसंजलणाणं तह॥87॥

2153. दुमासट्ठिदिअ-बंधो, संखेज्जाइं वाससहस्साइं।
सेसाणं तदो मायमोकड्डिय पढमठिदिं कुणदि॥88॥

2154. तिविहमायुवसामगो, तस्स अंतोमुहुत्तूण दु-मासा।
माया-लोहाण ठिदी बंधो सेसाणं पुव्वोव्व॥89॥(छट्ठ)

इस समय चार संज्वलन कषायों का स्थितिबंध चार माह और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्ष सहस्र मात्र होता है।।78।। (प्रत्यावली उदयावली में प्रवेश करती हुई प्रविष्ट हो चुकी) तभी दो समय कम दो आवलीमात्र संज्वलन क्रोध के समयप्रबद्धों को छोड़कर उपशांत किए जाने वाले तीन प्रकार के क्रोध के प्रदेश उपशांत हो चुकते हैं।79।। संज्वलन कोध की प्रथम स्थिति में तीन आवलियों के शेष रहने तक दो प्रकार के (अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान) क्रोध को संज्वलन क्रोध में स्थापित करता है।।80।। एक समय कम तीन आवलियों के शेष रहने पर उक्त दोनों प्रकार के क्रोध को संज्वलन क्रोध में स्थापित नहीं करता किन्तु संज्वलन मान में स्थापित करता है।।81।। संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक समय कम आवलि मात्र शेष रहने पर उस संज्वलन क्रोध का बंध व उदय व्युच्छिन्न हो जाता है।।82।। तभी से वह तीन प्रकार के मान का उपशामक होता है। उस समय उन मुनिराज के संज्वलनत्रिक का स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त कम चार माह प्रमाण होता है।।83।। तथा शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यातसहस्रवर्ष प्रमाण होता है। संज्वलन मान की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलि शेष रहने पर दो प्रकार के (अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान) मान को संज्वलन मान में नहीं स्थापित करता है किन्तु संज्वलन माया में स्थापित करता है। प्रत्यावलि के शेष रहने पर आगाल व प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। प्रत्यावली में एक समय शेष रहने पर संज्वलन मान की एक समय कम दो आवलि मात्र समयप्रबद्धों को छोड़कर शेष तीन प्रकार के मान का सत्व उपशम को प्राप्त हो चुकता है। तभी संज्वलन मान, माया और लोभ का दो मास प्रमाण स्थितिवाला बंध होता है। शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष सहस्र मात्र होता है। तत्पश्चात् माया का अपकर्षण कर संज्वलन माया की प्रथम स्थिति को करता है। तब से तीन प्रकार की माया का उपशामक होता है। संज्वलन माया व लोभ का स्थिति बंध अंतर्मुहूर्त कम दो मास प्रमाण होता है। शेष कर्मों का स्थितिबंध पूर्व के समान अर्थात् संख्यात वर्ष सहस्र मात्र होता है।।84-89।।

2155. सेसाण ठिदिखंडयो पलिदोवमस्स संखेज्जदिभागो।
थिउक्कसंकमेण, समयूणुदयावलिमाणसंतं।।90।।

2156. विपच्चिहिदि जिम्हुदये, दुसमयूण-दुआवलि-समयबद्धा।
अणुवसंता माणस्स, गुणसेणीए दु उवसंता।।91।।(जुम्मं)

2157. संकमिद - पदेसग्गं, मायाइ विसेसहीण - सेणीए।
संकमदे ठिदि-खंडय-सहस्स-बहूणि गदाणि तदो।।92।।

2158. जिम्हस्स पढमठिदीइ, समयूणतियआवलिय-सेसासुं।
बेविहमाया लोहे, संजलणम्मि संछुहेदि चिय।।93।।(जुम्मं)

2159. पडिआवलिय-सेसाइ, आगाल-पडिआगाल-वोच्छिण्णो।
समयाहियावलिय - सेसाइ सेसतिविहमायाए।।94।।

2160. चरिमसमयुवसामगो, समयूण-बेआवलि-समयबंधे।
मोत्तूण तदो माया-लोहाणं ठिदी मासेगो।।95।।

2161. सेसाण संखेज्ज-वस्साणि, बंधो उदयो य वोच्छिण्णो।
जिम्हस्स पढमठिदीइ, इगसमयूणावली लोहे।।96।।

2162. विपच्चिहिदि चिय थिउक्कसंकमेण तदा ओकड्डिदूणं।
संजलणलोहं तस्स, पढमट्ठिदिं कुव्वदि जोगी।।97।।(चउक्कं)

2163. लोहवेदगद्धाइ दु-तिभाग - पढमट्ठिदीए लोहस्स।
लोहस्स य ठिदिबंधो, अंतोमुहुत्तूणो मासो।।98।।

2164. सेसाण पुव्वोव्व अध, संखेज्जठिदिबंध-सहस्स-गदेसु।
लोहस्स पढमठिदीइ, अद्धयालंगदंणियमेण।।99।।(जुम्मं)

2165. तस्स चरिमसमए ठिदिबंधो दिवसपुधत्तं हु लोहस्स।
सेसाणं कम्माणं, ठिदी वस्ससहस्सपुधत्तं।।100।।

शेष कर्मों का स्थितिकांडक पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र होता है। एक समय कम उदयावली मात्र में जो मान का सत्व है वह स्तिबुक संक्रमण द्वारा माया के उदय में विपाक को प्राप्त होगा। मान के दो समय कम दो आवली प्रमाण जो समयप्रबद्ध अनुपशांत हैं वे भी गुणश्रेणी द्वारा उपशांत हो जाते हैं।।90-91।। जो प्रदेशाग्र माया में संक्रमण करता है वह प्रत्येक समय में विशेष हीन श्रेणी के द्वारा संक्रमण करता है। (यह प्ररूपणा माया के प्रथम समय उपशामक की है)। यहाँ से बहुत स्थितिकांडकसहस्र व्यतीत होते हैं। तब माया की प्रथम स्थिति में एक समय कम हीन आवलियों के शेष रहने पर दो प्रकार की माया (अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान) को (संज्वलन माया में न स्थापित कर) संज्वलन लोभ में स्थापित करता है।।92-93।। प्रत्यावली के शेष रहने पर आगाल व प्रत्यागाल व्युच्छिन्न हो जाते हैं। एक समय अधिक आवलि के शेष रहने पर एक समय कम दो आवली प्रमाण समयप्रबद्ध को छोड़कर शेष तीन प्रकार की माया का अंतिम समयवर्ती उपशामक होता है। उस समय संज्वलन माया व लोभ का स्थितिबंध एक मास और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात (सहस्र) वर्ष मात्र होता है। तब उसी समय बंध व उदय व्युच्छिन्न होते हैं। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में जो एक समय कम आवली शेष रही वह स्तिवुक संक्रमण द्वारा लोभ में विपाक को प्राप्त होगी। उसी समय संज्वलन लोभ का अपकर्षण कर योगी लोभ की प्रथम स्थिति को करता है।।94-97।। यहाँ से लेकर लोभ वेद काल के दो त्रिभाग प्रमाण लोभ की प्रथम स्थिति हो जाती है। उस समय संज्वलन लोभ का स्थिति बंध अंतर्मुहूर्त कम एक मास प्रमाण होता है। शेष कर्मों का स्थितबंध पूर्व के समान संख्यात (सहस्र) वर्ष मात्र होता है। तत्पश्चात् संख्यात स्थितिबंध सहस्रों के बीतने पर लोभ की प्रथम स्थिति का आधा काल समाप्त हो जाता है।।98-99।। तब उस आधे काल के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का स्थितिबंध दिवसपृथक्त्व प्रमाण होता है। शेष कर्मों का स्थितिबंध वर्ष सहस्रपृथक्त्व मात्र होता है।।100।।

2166. से विदियतियभागस्स, पढमसमए दु जहण्णफद्दस्स।
हेट्ठदो अणुभागकिट्टी लोह-अणुभागसंतस्स॥101॥

2167. पमाणं एगफद्दय-वग्गणाणमणंतभागो ताणं।
बहुकिट्टीउकदाउदु, पढमसमयम्मि अणंतरं च॥102॥

2168. असंखेज्जगुणहीणा, अपुव्वकिट्टी दु विदिय-तिभागस्स।
जावचरिमसमओत्तिहु, असंखेज्जगुणहीणा जाण॥103॥(जुम्मं)

2169. इमो विदियतिभागो दु, किट्टीकरणद्धा ताए गदेसु।
संखेज्जेसु भागेसु, लोहस्स अंतोमुहुत्तो दु॥104॥

2170. ठिदीबंधो य तिण्हं, कम्माणं दिवसपुधत्तं मेत्तं।
किट्टिकरणद्धाए दु-चरिम-ठिदिबंधो जाव ताव॥105॥

2171. ठिदी बंधो संखेज्ज-वस्ससहस्साणि णाम-गोदाणं।
वेयणिज्जस्स य किट्टिकरणद्धाए पुण लोहस्स॥106॥

2172. चरिमो अंतमुहुत्तो, णाण-दंसणावरणीय-विग्घाण।
अहोरत्तस्संतो य, णाम-गोद- वेदणीयाणं॥107॥

2173. बेवस्साणमंतो दु, ताइ समयूण तिआवलि-सेसेसु।
दुविह-लोहोसंकमदि, णेवलोहसंजलणम्मि खलु॥108॥

2174. सट्ठाणे उवसंतो, आवलि - पडिआवलीए सेसाइ।
वोच्छिण्णो आगालो, पडिआगालो णियमेणं च॥109॥

2175. पडिआवलीए एगसमये सेसे संजलणलोहस्स।
हवेज्जाणिच्छयेणं, जहण्णियट्ठिदि-उदीरणा दु॥110॥

2176. समऊणदो-आवलिय-समयपबद्धा लोहसंजलणस्स।
अणुवसंता सव्वाउ, किट्टीउचिय अणुवसंताउ॥111॥

2177. दुविह -लोह - उवसंतो, चरिमसमयबादरसंपराइगो।
अणिविट्टीकरणं वा, पुण दसमगुणट्ठाणवट्टी॥112॥

अनंतर काल में द्वितीय त्रिभाग के प्रथम समय में संज्वलन लोभ के अनुभाग सत्त्व के जघन्य स्पर्धक के नीचे अनुभाग कृष्टियों को करता है।।101।। उन अनुभाग कृष्टियों का प्रमाण एक स्पर्धक की वर्गणाओं का अनंतवाँ भाग है। प्रथम समय में बहुत अनुभाग कृष्टियाँ की जाती हैं। अनंतर अपूर्व कृष्टियाँ असंख्यातगुणी हीन हैं। इस प्रकार द्वितीय त्रिभाग के चरिम (अंतिम) समय तक असंख्यातगुणा हीन होती जाती है।।102-103।। यह द्वितीय त्रिभाग कृष्टिकरण काल है। उस कृष्टिकरण काल के संख्यात भागों के बीत जाने पर संज्वलन लोभ का अंतर्मुहूर्त स्थिति वाला बंध होता है। तीन कर्मों का स्थितिबंध दिवस पृथक्त्व मात्र होता है। जब तक कृष्टिकरण काल में द्विचरम स्थितिबंध होता है तब तक नाम, गोत्र व वेदनीय का स्थिति बंध संख्यात वर्ष सहस्र होता है। कृष्टिकरण काल में संज्वलन लोभ का अंतिम स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त मात्र होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का स्थिति बंध कुछ कम अहोरात्र प्रमाण होता है। नाम, गोत्र व वेदनीय का स्थितिबंध कुछ कम दो वर्ष प्रमाण होता है। उस कृष्टिकरण काल में एक समय कम तीन आवलियाँ शेष रहने पर दो प्रकार का लोभ संज्वलन लोभ में संक्रमण नहीं करता बल्कि स्वस्थान में ही उपशांत हो जाता है। कृष्टिकरण काल में आवली और प्रत्यावली के शेष रहने पर आगाल व प्रत्यागाल नियम से व्युच्छिन्न हो जाते हैं।।104-109।। प्रत्यावली में एक समय शेष रहने पर संज्वलन लोभ की जघन्य स्थिति की उदीरणा होती है।।110।। उस समय में एक समय कम दो आवली मात्र संज्वलन लोभ के समयप्रबद्ध अनुपशांत हैं और सब ही कृष्टियाँ अनुपशांत हैं।।111।। दो प्रकार का सब ही लोभ उपशांत हो जाता है। यह ही अंतिम समयवर्ती बादर सांपरायिक या अनिवृत्तिकरण है। पुनः वह दशम गुणस्थानवर्ती (सूक्ष्मसांपरायिक) हो जाता है।।112।।

2178. अण्णपढमठिदी कदा, पढमसमयसुहुमसंपराइएण।
दुभागो थोवूणओ, पढमिमा ताइ पढमठिदीइ॥113॥

2179. किदाअपुव्वकिट्टीय,अपढम-अचरिम-समयेसुउदिण्णा।
सव्वा पढमसमयम्मि, सुहुमसंपराइगं णमामि॥114॥

2180. पढमसमयम्मिकिद-किट्टीणउवरिम-असंखेज्जदि-भागं।
चरिमेजहण्णप्पहुडि-असंखेज्जदि-भागंविहाय॥115॥

2181. सेसाओ सव्वाओ, किट्टीओ चिय उदिण्णाओ तदा।
सव्वाणपदेसग्गं,उवसामेदिगुणसेडीए॥116॥(जुम्मं)

2182. उवसामदि सेणीइ, दुआवलि-समयबद्धा दुसमऊणा।
फद्दिद-उदयावलिया, थिउक्क-संकमेण किट्टीसु॥117॥

2183. विपच्चिहिदियविदियम्मि,उदिण्णकिट्टीणंअग्गग्गादो।
असंखेज्जदिभागंदु, मुंचदि तह गणेस-असोगो॥118॥

2184. हेट्ठदी अपुव्वमसंखेज्जदिभाग - माकुंदेदि इत्थं।
जावचरिमसमयसुहुम-संपराइओत्तिणियमेणं॥119॥(तिअं)

2185. तस्स दु णाण-दंसणावरणिज्जंतरायाण ठिदिबंधो।
अंतोमुहुत्तो णाम-गोदाणं सोलसमुहुत्ता॥120॥

2186. चउवीस- मुहुत्ता ठिदि- बंधो अणंतरं वेदणीयस्स।
सव्वंमोहणिज्जंदु,उवसंत-मुवसंतकसाओ॥121॥(जुम्मं)

2187. अंतोमुहुत्तुवसंत - वीदरायं सिरि - गणहरं देवं।
तस्स गुणाणुरायेण, भत्तीए परियंदामि तं॥122॥

उस प्रथम समयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक के द्वारा अन्य प्रथम स्थिति की जाती है। उस प्रथम स्थिति के दो भाग से कुछ कम यह सूक्ष्मसांपरायिक की प्रथम स्थिति होती है।।113।। पहले उन सूक्ष्मसांपरायिक मुनिराज को नमस्कार करता हूँ। पुनः प्रथम समय व अंतिम समय को छोड़कर शेष समयों में जो अपूर्वकृष्टियाँ की हैं वे सब प्रथम समय में उदीर्ण हो जाती हैं।।114।। जो कृष्टियाँ प्रथम समय में की गई हैं उनके उपरिम असंख्यातवें भाग को छोड़कर और जो कृष्टियाँ अंतिम समय में की गई हैं उनके जघन्य से लेकर असंख्यातवें भाग को छोड़कर शेष सब कृष्टियाँ उदीर्ण हो जाती हैं उसी समय सब कृष्टियों के प्रदेशाग्र को असंख्यात गुणित श्रेणी से उपशांत करता है।।115-116।। गुणश्रेणी में जो दो समय कम दो आवली मात्र समयप्रबद्ध थे उन्हें भी उपशम करता है। बादर सांपरायिक के ारा स्पर्धकगत उदयावली कृष्टियों में परिणत होकर स्तिबुक संक्रमण के द्वारा परिपाक को प्राप्त है। द्वितीय समय में उदीर्ण कृष्टियों में से उपरिम कृष्टि से लेकर अधस्तन असंख्यातवें भाग को छोड़ता है। अर्थात् उतनी कृष्टियाँ उदय को प्राप्त नहीं होती है। तथा अधस्तन अनुदय प्राप्त कृष्टियों के असंख्यातवें भाग मात्र अपूर्व कृष्टियों को ग्रहण करता है अर्थात् उतनी कृष्टियाँ उदय को प्राप्त होती हैं। इस प्रकार वे अशोक गणधर चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक होने तक करते हैं।।117-119।। उन चरिमसमयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का अंतर्मुहूर्त स्थिति वाला बंध होता है। नाम व गोत्र का स्थितिबंध सोलह मुहूर्त प्रमाण होता है। वेदनीय का स्थितिबंध चौबीस मुहूर्त मात्र होता है। अनंतर काल में सब मोहनीय कर्म उपशांत हो जाता है। (तब से लेकर अंतर्मुहूर्त तक उपशांत कषाय वीतराग रहते हैं।)।।120-121।। अंतर्मुहूर्त के लिए उन उपशांत कषाय वीतराग श्री गणधर देव को उनके गुणों के अनुराग से मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।122।।

2188. भूवियारहीण - सुप्पसण्ण - सुब्भ - आणणं,
अप्पजाणुओवसंत - मोह - णेत्तणिच्छलं।
अप्पवित्त - णिम्मलं अणुद्धयामयाममं,
सुक्कझाणकारगं णमामि राय-उज्झिदं॥123॥

2189. संपरायहीण-मुत्तमं जिणं दियंबर,
सुप्पसंतरूव - धीरमुत्ति - देव - मुज्जलं।
सुक्कलेस्सजुत्तणेजणोज्ज - दंत - मुत्तरं,
आणुकंपिदं णमामि भूधरोव्व णिच्चलं॥124॥

जिनकी भृकुटी विकार रहित, मुख प्रसन्न व शुभ्र था, जो उस समय अपनी आत्मा को जान रहे थे, मोह का जिन्होंने उपशम कर दिया था, जिनके नेत्र निश्छल थे, जो प्रवृत्तियों से रहित, निर्मल, विनयी, सर्व विकार रहित, ममत्व से हीन थे, जो शुक्लध्यान मे लीन थे और जो राग से विमुक्त थे उन अशोक मुनिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।।123।। जो कषायों से हीन, श्रेष्ठ व दिगंबर थे, जो देव प्रशांत रूप, धैर्य की मूर्ति व उज्ज्वल थे, जो शुक्ललेश्या से युक्त, निष्कंप, अनवद्य, जितेन्द्रिय, प्रशस्त, दयालु व पर्वत के समान निश्चल थे उन जिन अर्थात् गणधर देव को मैं नमस्कार करता हूँ।।124।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में श्री अशोक गणधर के ''उपशम श्रेणी पर आरोहण'' का वर्णन करने वाला उन्नीसवाँ नंद पूर्ण हुआ।

वीसम-णंदो

2190. कालक्खयादो पडदि, सुहुमसंपराइम्मि हु जोगी सो।
तिविहलोहमोकट्टदि, अणुवसंता तिविहालोहा।।1।।

2191. ठिदिबंधो तिघादीण, अंतोमुहुत्तो णाम-गोदाणं।
बत्तीसमुहुत्ता तह, वेदणिज्जस्सडदालीसा।।2।।

2192. अप्पसत्थकम्माणं, अणंतगुणो चिय अणुभागबंधो।
तहा पसत्थकम्माण, अणंतगुणहीणो दु अहवा।।3।।

2193. इह सुहुमसंपराइय - कालम्मि विसेसाहियवड्ढीए।
किट्टीणं उदयो पुण, वेदगद्धाए गदाए दु।।4।।

2194. सो गणहरो दु जादो, पढमसमयबादर - संपराइओ।
तदाहिमोहणीयस्स,अणाणुपुव्विसंकमोहोदि।।5।।(जुम्मं)

2195. दुविहलोहो संछुहदि, संजलणलोहे य किट्टी णट्ठा।
तस्स ठिदिबंधो लोह - संजलणस्संतोमुहुत्तो
।।6।।2196. देसूण - दु अहोरत्ती, तिघादीणं तहा णामगोदाण।
देसूण - चउवस्साणि,वेदणिज्जस्स वि ठिदिबंधो।।7।।

2197. एदम्हि ठिदिबंधम्मि, पुण्णे वेदणीय-णाम-गोदाण।
ठिदीबंधो संखेज्ज-वाससहस्साणि तिघादीण।।8।।

2198. अहोरत्तिपुधत्तिओ, लोहस्स पुव्वबंधादो अहियो।
लोहवेदगद्धाए, विदिय - तिभागस्स गंतूणं।।9।।

2199. संखेज्जदिभागं खलु, मोहणिज्जस्स मुहुत्तपुधत्तिओ।
णामतिगाणसंखेज्ज-वस्स-सहस्साणिठिदिबंधो।।10।।(तिअं)

2200. अहोरत्तिपुधत्तादु, तिघादीण वस्स - सहस्सपुधत्तं।
ठिदिबंध - सहस्स - गदेसु लोहवेदगद्धा पुण्णा।।11।।

अनन्तर काल क्षय होने से वे योगी नीचे गिरने लगते हैं। (योगी सर्वप्रथम सूक्ष्मसांपरायिक गुणस्थान में गिरता है क्योंकि उसे छोड़कर अन्य गुणस्थान में जाने का अभाव है।) वह तीन प्रकार के लोभ का अपकर्षण करता है। तब पुनः वह तीन प्रकार का लोभ उपशांत हो जाता है।।1।। उस समय तीन घातिया कर्मों का बंध अंतर्मुहूर्त स्थिति वाला, नाम-गोत्र कर्मों का स्थितिबंध बत्तीस मुहूर्त और वेदनीय का स्थितिबंध अड़तालीस मुहूर्त प्रमाण होता है।।2।। तब अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग बंध अनंत गुणा और प्रशस्त कर्मों का अनंतगुणा हीन होता है।।3।। इस सूक्ष्मसांपराय के काल में विशेषाधिक वृद्धि से कृष्टियों का उदय होता है। कृष्टियों के वेदक काल के बीतने पर वे गणधर प्रथम समयवर्ती बादर सांपरायिक हो जाते हैं तब ही मोहनीय कर्म का आनुपूर्वी रहित संक्रमण होता है।।4-5।। उसी समय दो प्रकार के लोभ को संज्वलन लोभ में स्थापित करता है। सभी कृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं। (विशेष ये है कि जो कृष्टियाँ उदयावली के भीतर हैं वे स्तिबुक संक्रमण के द्वारा स्पर्धकों में विपाक को प्राप्त होती हैं) उस प्रथमसमयवर्ती सूक्ष्मसांपरायिक के संज्वलन लोभ का स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त होता है।।6।।तीन घातिया कर्मों का स्थितिबंध देशोन दो अहोरात्र मात्र होता है। वेदनीय नाम व गोत्र कर्मों का स्थितिबंध देशोन चार वर्ष प्रमाण होता है।।7।। इस स्थितिबंध के पूर्ण होने पर जो वेदनीय, नाम व गोत्रकर्मों का अन्य स्थितिबंध है वह संख्यात हजार वर्ष प्रमाण होता है। तीन घातिया कर्मों का स्थितिबंध अहोरात्र पृथक्त्व प्रमाण होता है। संज्वलन लोभ का स्थितिबंध पूर्वबंध से अधिक होता है। लोभवेदककाल के द्वितीय त्रिभाग के संख्यातवें भाग जाकर मोहनीय का स्थितिबंध मुहूर्त पृथक्त्व तथा नाम, गोत्र व वेदनीय का स्थितिबंध संख्यात वर्ष सहस्र मात्र होता है।।8-10।। तीन घातिया कर्मों का स्थितिबंध अहोरात्र पृथक्त्व से वर्ष सहस्र पृथक्त्व मात्र होता है। इस प्रकार स्थितिबंध सहस्रों के बीतने पर लोभ वेदक काल पूर्ण होता है।।11।।

2201. तिविहमायमोकट्टिय, मायाइ उदयादिगुणसेडि-कदा।
आवलियबाहिरा गुण-सेडी कदा दुविह-मायाइ॥12॥

2202. जिम्हवेदगस्स तिविह-लोहो दुविहा-माया संकमदे।
संजलणमायाए य, तिविह-माया दुविह-लोहो य॥13॥

2203. तहा संजलणलोहे, दुसंजलणाण दुमास-ठिदि बंधो।
पढमसमयमायाए, वेदगस्स तहा सेसाणं॥14॥

2204. संखेज्जाइं च वस्स-सहस्साणि पुण पुण्णे ठिदिबंधो।
मोहणिज्ज-वज्ज-सेस-कम्माणंदुसंखेज्जगुणो॥15॥(तिअं)

2205. गदेसु संखेज्जट्ठिदि-बंधसहस्सेसु गदेसु जादो हु।
चरिमसमयस्स माया-वेदगो हीणविसुद्धीए॥16॥

2206. दुसंजलणाणबंधो, चिय अंतोमुहुत्तूण-चउ-मासा।
सेसाणंठिदिबंधो, संखेज्जवस्ससहस्साइं॥17॥(जुम्मं)

2207. तिविहमाणमोकट्टिय, उदयाइ-गुण-सेडिं कुणेदि तदा।
संजलणमाणस्स खलु, दुविहमाणस्स दु गुणसेडिं॥18॥

2208. आवलियाबाहिरम्मि, तिविहाणं लोह-माण-मायाणं।
गुणसेडीणिक्खेवो, हवेदि णवविह-कसायाणं॥19॥(जुम्मं)

2209. संकमदे पढम-समय-माणवेदगस्स णवविह-कसाओ।
तियसंजलणाणं चउ-मासा पुव्वोव्व सेसाणं॥20॥

2210. तिविहकोहमोकट्टिय, कोहस्सुदयाइगुणसेडिं कुणदि।
दुविह-कोहस्सावलिय-बाहिरम्मिगुणसेडिं करदि॥21॥

2211. बारसविह-कसायस्स, होदि पढमसमयकोहवेदगस्स।
संकमोयठिदि-बंधो, चउ-संजलणाणट्ठ-मासा॥22॥

2212. सेसाणं च पुव्वोव्व, संखेज्ज-ठिदिबंध-सहस्सगदेसु।
मोहस्स दु चरिमसमय-चउव्विहबंधगो जादो य॥23॥

अनंतर तीन प्रकार की माया का अपकर्षण कर संज्वलन माया की उदयादि गुणश्रेणी की गयी एवं शेष दो प्रकार की माया की उदयावली बाह्य गुणश्रेणी की गयी।।12।। प्रथम समय माया वेदक के तीन प्रकार का लोभ और दो प्रकार की माया संज्वलनमाया में संक्रमण करती है तथा तीन प्रकार की माया व दो प्रकार का लोभ संज्वलनलोभ में संक्रमण करता है। प्रथम समय माया वेदक के दो संज्वलनों का दो मास प्रमाण स्थिति वाला बंध होता है। शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्षसहस्र मात्र होता है। पुनः प्रत्येक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर मोहनीय को छोड़कर शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात गुणा होता है (मोहनीय का स्थितिबंध विशेष अधिक होता है)।।13-15।। इस प्रकार संख्यात स्थितिबंधसहस्रों के बीतने पर अंतिमसमयवर्ती माया वेदक होता है। तब विशुद्धि की हीनता से दो संज्वलनों का स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त कम चार मास और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्षसहस्र मात्र होता है।।16-17।। पश्चात् तीन प्रकार के मान का अपकर्षण कर संज्वलन मान की उदयादि गुणश्रेणी करता है। दो प्रकार मान की आवलि के बाह्य गुण श्रेणी करता है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन इन तीनों के लोभ, माया व मान इन नौ प्रकार की कषायों का गुणश्रेणी निक्षेप होता है।।18-19।। प्रथम समय मानवेदक की नौ प्रकार की भी कषाय संक्रमण करती है। तब तीन संज्वलनों का स्थितिबंध चार मास प्रमाण तथा शेष कर्मों का स्थिति बंध पूर्व के समान अर्थात् संख्यात वर्षसहस्र मात्र होता है।।20।। अनंतर तीन प्रकार के क्रोध का अपकर्षण करके संज्वलन क्रोध की उदयादि गुणश्रेणी करता है तथा दो प्रकार (अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान) क्रोध की उदयावली के बाहर गुणश्रेणी करता है।।21।। प्रथम समय क्रोध वेदक के बारह प्रकार की ही कषाय का संक्रमण होता है। उस समय चार संज्वलनों का स्थिति बंध पूर्ण आठ मासप्रमाण होता है।।22।। शेष कर्मों का स्थितिबंध पूर्व के समान अर्थात् संख्यातवर्षसहस्र मात्र होता है। इस क्रम से संख्यात स्थितिबंध सहस्रों के बीत जाने पर मोहनीय के चतुर्विध बंध का अंतिम समय प्राप्त होता है।।23।।

2213. तदा मोहस्स बंधो, अंतोमुहुत्तूण - चउसट्ठी वस्साइं।
ठिदिबंधो सेसाणं, संखेज्जवस्ससहस्साइं॥24॥

2214. पच्छा पुरिसवेदस्स, बंधगो तदा हि सत्तकम्माणं।
पदेसग्गमणुवसंत - मोकड्डिय सत्तकम्मंसे॥25॥

2215. पुरिसवेदस्स कुव्वदि, उदयाइ - गुणसेडिं तम्मि समये।
उदयावलि-बहिरे गुण-सेडिं दु छक्कम्मंसाणं॥26॥(जुम्मं)

2216. बत्तीस-वस्सा पुरिस-वेदस्स ठिदिबंधो संजलणाण।
चउसट्ठी वस्सा तह, सेसाण कम्माण पुव्वोव्व॥27॥

2217. पुरिसवेदणुवसंते, थी - उवसंतस्स संखेज्जभागेसु।
गदेसु णामतिगाणं, असंखेज्जवस्सठिदिबंधो॥28॥

2218. ठिदिबंधसहस्सेसुं, गदेसु थीवेदं अणुवसामेदि।
थीवेद-मोकड्डित्तु, गुणसेडि-मुदयावलि-बहिरे॥29॥

2219. थीवेद - अणुवसंते, संढुवसंतस्ससंखेज्जभागेसु।
गदेसुं णाणावरण - तिगाण असंखेज्जवस्साणि॥30॥

2220. तदा समयिगे चउविह - णाणावरणिज्जं पणंतरायं।
तिदंसणावरणिज्जं, बंधेणं च दुट्ठाणियाणि॥31॥

2221. संखेज्जबंधसहस्स - गदेसु णउंसगं अणुवसामेदि।
तमोकड्डियणिक्खिवदि, उदयावलिबहिरे सेडीइ॥32॥

(मोहनीय का स्थितिबंध विशेष अधिक होता है।) उस समय मोहनीय का स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त कम चौंसठ वर्ष प्रमाण होता है तथा शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्षसहस्र मात्र होता है।।24।। पश्चात् अनंतर काल में पुरुष वेद का बंधक हो जाता है। तभी सात कर्मों का प्रदेशाग्र (प्रशस्त उपशामना से रहित होकर) सब अनुपशांत हो जाता है। उसी समय में सात कर्मांशों का अपकर्षण करके पुरुषवेद की उदयादि गुणश्रेणी को करता है। छः कर्मांशों की उदयावली के बाहिर गुणश्रेणी करता है।।25-26।। पुरुषवेद का स्थितिबंध बत्तीस वर्ष, संज्वलनों का स्थिति बंध चौंसठ वर्ष तथा शेष कर्मों का स्थितिबंध पूर्व के समान अर्थात् संख्यात वर्षसहस्र मात्र होता है।।27।। पुरुषवेद के अनुपशांत होने पर स्त्रीवेद के उपशांत काल के संख्यात बहुभागों के बीत जाने पर नाम, गोत्र व वेदनीय का असंख्यात वर्ष मात्र स्थितिबंध होता है।।28।। यहाँ से स्थितिबंध सहस्रों के बीतने पर स्त्रीवेद को एक समय में अनुपशांत करता है। उसी समय में स्त्रीवेद का अपकर्षण करके उदयावली के बाहिर गुणश्रेणी करता है।।29।। स्त्रीवेद के अनुपशांत होने पर जब तक नपुंसकवेद उपशांत है, तब तक इस काल के संख्यात बहुभागों के बीतने पर ज्ञानावरण त्रिक अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय का बंध असंख्यात वर्षप्रमाण स्थिति वाला हो जाता है।।30।। उसी समय ही एक समय में चार प्रकार का ज्ञानावरणीय, तीन प्रकार का दर्शनावरणीय और पाँच अंतराय, ये बंध से दो स्थान (लता और दारू) वाले हो जाते हैं।।31।। पश्चात् संख्यात स्थिति बंध सहस्रों के बीत जाने पर नपुंसकवेद को अनुपशांत करता है उसी समय उस नपुंसकवेद का अपकर्षण करके उदयावली के बाह्य गुणश्रेणी में निक्षेपण करता है।।32।।

2222. णउंसय-अणुवसंते, अंतरकदपढमसमयं ण लहेदि।
जाव ताव दु संखेज्ज-भाग-गदेसु मोहणिज्जस्स॥33॥

2223. असंखेज्जवस्साइं ठिदिबंधो दुट्ठाणिय-बंधुदया।
पडिडमाण-जोगिस्सदु, छआवलियासुंगदासुंच॥34॥

2224. उदीरणाइ णणियमो, उदीरिज्जदि आवलियदिक्कंतं।
अणियट्टिप्पहुडितस्स, ओयरंतस्स चियमोहस्स॥35॥

2225. अणाणुपुव्विसंकमो, लोहस्स वि संकमो हवेदि तदा।
मोहम्मिदु असंखेज्ज-वस्स-ठिदिबंधे तिघादीण॥36॥

2226. असंखेज्जगुणिदो तह, णामगोदाणं पि वेयणिज्जस्स।
विसेसाहिया ठिदिगो - बंधो एदेणं कमेणं॥37॥

2227. गद-संखेज्जठिदि-बंध-सहस्सेसुं अणुभागो बंधेण।
वीरियंतराइयं च, जादं सव्वघादी पच्छा॥38॥

2228. मदिणाणावरणिज्जं, सव्वघादी ठिदिबंधपुधत्तेण।
परिभोगंतरायंपि, पुणचक्खुदंसणंविइत्थं॥39॥(सत्तगं)

2229. सुदणाणावरणिज्जं, अचक्खुदंसणावरणिज्जं पुणो।
भोगंतराइयं ठिदिबंधपुधत्तेणं दु तहेव॥40॥

2230. ओहीणाणदंसणा-वरणिज्जं च लाहंतराइयं दु।
सव्वघादीणि पुण मणपज्जवणाणावरणिज्जं च॥41॥

2231. दाणंतराइयं अणुभागो बंधेणं सव्वघादीणि।
ठिदिबंधपुधत्तेणं, पुण ठिदिबंधसहस्स-गदेसु॥42॥

2232. उदीरणा पडिहम्मदि, असंखेज्जाण समयपबद्धाणं।
उदीरणा असंखेज्ज-लोगभागो समयबद्धस्स॥43॥ (चउक्कं)

(यह गुणश्रेणी निक्षेप इतर कर्मों के गुणश्रेणी निक्षेप के सदृश होता है।) नपुंसकवेद के अनुपशांत होने पर जब तक अंतर करने के प्रथम समय को प्राप्त नहीं करता तब तक इस काल के संख्यात बहुभागों के बीत जाने पर मोहनीय का स्थितिबंध असंख्यातवर्ष प्रमाण होता है। उसी समय मोहनीय का बंध व उदय द्विस्थानीय (लता व दारू) रूप हो जाता है। श्रेणी से उतरने वाले योगी के छः आवलियों के बीत जाने पर उदीरणा हो ऐसा नियम नहीं है किन्तु बंधावली के व्यतीत होने पर उदीरणा होने लगती है। अनिवृत्तिकरण के काल से प्रारंभ कर उन उतरने वाले योगी के मोहनीय का आनुपूर्वी रहित संक्रमण होता है. लोभ का भी संक्रमण होने लगता है। जब मोहनीय का असंख्यात वर्ष स्थिति वाला बंध होता है तब तीन घातिया कर्मों का स्थितिबंध असंख्यात गुणा, नाम व गोत्र का स्थितिबंध असंख्यातगुणा तथा वेदनीय का स्थितिबंध विशेष अधिक होता है। इस क्रम से संख्यात स्थितिबंध सहस्रों के बीत जाने पर वीर्यांतराय अनुभाग बंध से सर्वघाती हो जाता है। पश्चात् स्थितिबंध पृथक्त्व से मतिज्ञानावरण और परिभोगांतराय भी सर्वघाती हो जाते हैं। पुनः स्थितिबंध पृथक्त्व से चक्षुदर्शनावरणीय भी सर्वघाती हो जाता है।।33-39।। तत्पश्चात् स्थितिबंधपृथक्त्व से श्रुतज्ञानावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और भोगांतराय से ये उसी प्रकार सर्वघाती हो जाते हैं। पुनः स्थितिबंधपृथक्त्व से अवधिज्ञानावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और लाभांतराय भी सर्वघाती हो जाते हैं। पश्चात् स्थितिबंध पृथक्त्व से मनःपर्ययज्ञानावरणीय और दानांतराय भी अनुभाग बंध से सर्वघाती हो जाते हैं। पश्चात् स्थितिबंध सहस्रों के बीत जाने पर असंख्यात समयप्रबद्धों की उदीरणा नष्ट हो जाती है और समयप्रबद्ध के असंख्यात लोक मात्र भागहार रूप अर्थात् एक समयप्रबद्ध के असंख्यातवें भाग मात्र उदीरणा होती है।।40-43।।

2233. मोहस्स ठिदिबंधो, थोगो घादीण असंखेज्जगुणो।
णामगोदाण वि वेदणिज्जस्स विसेसाहियो तह।।44।।

2234. गदेसुं संखेज्ज ठिदिबंधसहस्सेसु एक्कसराहेण।
मोहस्स थोवो णाम-गोदाणं असंखेज्जगुणो।।45।।

2235. तुल्लो विसेसाहिओ, णाणदंसणावरणंतरायाण।
वेदणिज्जस्स विसेस-अहियो ठिदीबंधो इत्थं।।46।।

2236. गदेसुं संखेज्जठिदि-बंधसहस्सेसु एक्कसराहेण।
मोहस्स थोवो णाम-गोदाणं असंखेज्जगुणा।।47।।

2237. तुल्लो विसेसाहिओ,अण्ण-चदु-कम्माणंठिदीबंधो।
इत्थं संखेज्जट्ठिदि - बंधसहस्साइं गदाइं।।48।।

2238. एक्कसराहेण अण्ण-ठिदिबंधो थोवो णाम-गोदाण।
मोहस्स विसेसहिओ चउण्हं तुल्ल-विसेसहियो।।49।।(पंचगं)

2239. इमेण कमेण बहूणि, गदाइं ठिदिबंधसहस्साइं च।
एक्कसराहेण अण्ण-ठिदि थोवो णाम-गोदाणं।।50।।

2240. तुल्लो विसेसाहिओ, ठिदिबंधो दु चउण्हं कम्माणं।
मोहणिज्जकम्मस्सय,विसेसाहिओहु ठिदिबंधो।।51।।(जुम्मं)

2241. असंखेज्जवस्सट्ठिदि-बंधो जत्तो पाए तह तत्तो।
ठिदिबंध-पुण्णे अण्ण-असंखेज्ज-गुणिदुं बंधेदि।।52।।

2242. इत्थं सत्त-कम्माण,असंखेज्जदि-भागिगादु पल्लस्स।
ठिदिबंधो दु पल्लस्स, संखेज्जदि भागिगो जादो।।53।

तब मोहनीय का स्थितिबंध स्तोक, घातिया कर्मों का स्थितिबंध असंख्यातगुणा, नाम व गोत्र कर्मों का स्थितिबंध असंख्यात गुणा और वेदनीय का स्थितिबंध विशेषाधिक होता है।।44।। इस क्रम से स्थितिबंधसहस्रों के बीत जाने पर पश्चात् एक साथ मोहनीय का स्थितिबंध स्तोक, नाम व गोत्र कर्मों का स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों कर्मों का स्थितिबंध तुल्य विशेष अधिक होता है। वेदनीय का स्थितिबंध विशेष अधिक होता है। इस प्रकार संख्यात स्थिति बंधसहस्रों के व्यतीत होने पर एक साथ मोहनीय का स्थितिबंध स्तोक, नाम व गोत्र कर्मों का स्थितिबंध असंख्यातगुणा तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों का स्थितिबंध तुल्य विशेषाधिक होता है। इस प्रकार संख्यात स्थिति बंधसहस्रों के बीतने पर अन्य स्थितिबंध एक साथ नाम व गोत्र का स्तोक, मोहनीय का विशेष अधिक एवं ज्ञानावरणादि चार का तुल्य विशेषाधिक होता है।।45-49।। इस क्रम से बहुत स्थितिबंधसहस्रों के बीतने पर अन्य स्थिति बंध एक साथ नाम व गोत्र कर्मों का स्तोक, चार कर्मों का स्थितिबंध तुल्य विशेषाधिक और मोहनीय का स्थितिबंध विशेषाधिक होता है।।50-51।। जहाँ से लेकर असंख्यात वर्ष मात्र स्थिति बंध होता है वहाँ से लेकर प्रत्येक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर अन्य असंख्यात गुणे स्थितिबंध को बांधता है।।52।। इस प्रकार सातों कर्मों का पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिबंध से एक साथ पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबंध होने लगता है।।53।।

2243. तादु ठिदिबंध - पुण्णे, अण्णसंखेज्जगुणं ठिदिबंधंय।
बंधदि संखेज्जट्ठिदि - बंधसहस्साणं दु इत्थं॥54॥

2244. संखेज्जदिभागो खलु, पलिदोवमस्स अपुव्वविड्ढी तह॥
ताधे चउकम्माणं, ठिदिबंधस्स विड्ढी हवेदि॥55॥

2245. सादिरेगेणूणयं, चदुभागेणं तह पलिदोवमं दु।
संखेज्जदिभागूणं, पल्लद्धं णामगोदाणं॥56॥(तिअं)

2246. जाधे विड्ढी ताधे, मोहस्स पल्लं च चउकम्माणं।
चदुभागूणंपल्लं, णामगोदाणं पल्लद्धं॥57॥

2247. ठिदिबंधे पुण्णे पुण, पलिदोवमस्स तहा संवड्ढेदि।
संखेज्जदिभागेणं, ठिदिबंधसहस्सेसु गदेसु॥58॥

2248. सेसणियट्टिकरणस्स, तहा सव्वापुव्वकरणद्धंतं।
पलिदोवमस्स संखेज्जदि भागपरिवड्ढीए पुण॥59॥

2249. ठिदिबंधो एइंदिय - ठिदिबंध - समओ हंदि संजादो।
दोण्णितिण्णिचउरिंदिय-असण्णीणठिदिबंधसमओ॥60॥(चउक्कं)

2250. ठिदिबंधसहस्सेसुं गदेसुं चरिमसमयअणियट्टिस्स।
पुण सायरोवमलक्ख - पुधत्तमंतोकोडीए दु॥61॥

2251. अपुव्वकरण-पविट्ठो, अप्पसत्थ-उवसामणाकरणंच।
उग्घाडिदाणिणिधत्ति-णिकाचणा-करणंचतदाहि॥62॥

2252. णवविह - मोहबंधगो, तदा उदीरगो हु संघादयस्स।
हस्स-रदि-अरदि-सोगाणमेक्कदरस्सहुजोगीसो॥63॥

2253. भय-दुगुंछाण वि सिया, मुणी अपुव्वकरणद्धाए गदे।
संखेज्जदिभागे पुण, बंधगो परभवियणामाण॥64॥

वहाँ से प्रत्येक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर अन्य संख्यात गुणे स्थितिबंध को बांधता है इस प्रकार संख्यात स्थितिबंधसहस्रों अपूर्व वृद्धि पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र होती है। उस समय में चार कर्मों की स्थितिबंध के साधिक चतुर्थभाग से ही पल्योपम मात्र वृद्धि होती है। उसी समय नाम व गोत्र कर्मों की स्थितिबंध वृद्धि संख्यातवें भाग से हीन अर्द्ध पल्योपम मात्र होती है।।54-56।। जब यह वृद्धि होती है तब मोहनीय का जो स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण, चार कर्मों का जो स्थितिबंध चतुर्थ भाग से हीन पल्योपम प्रमाण और नाम व गोत्र का जो स्थिति बंध अर्द्ध पल्योपम मात्र होता है उससे लेकर प्रत्येक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र वृद्धि होती है। जितना शेष अनिवृत्तिकरण और अपूर्वकरण ाकाल है उतने काल तक इस पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र वृद्धि से स्थितिबंध सहस्रों के बीत जाने पर अन्य स्थितिबंध एकेन्द्रिय के स्थितिबंध के समान हो जाता है। पुनः इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी इनके स्थितिबंध के समान स्थितिबंध हो जाता है।।57-60।। पुनः स्थितिबंध सहस्रों के व्यतीत होने पर अंतसमयवर्ती अनिवृत्तिकरण होता है। उसके स्थितिबंध कोटि के भीतर सागरोपम लक्षपृथक्त्व मात्र होता है। (अर्थात् मोहनीय का लक्षपृथक्त्व-सागरों के 4/7, ज्ञानावरणादि चार कर्मों का उक्त 3/7 और नाम व गोत्र कर्मों का उक्त 2/7 मात्र स्थितिबंध होता है।)।।61।। उसके अनंतर अपूर्वकरण में प्रविष्ट होता है। उसी समय अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनकरण प्रकट हो जाते हैं।।62।। उसी समय नौ प्रकार के मोहनीय का बंधक होता है। उसी समय हास्य, रति, अरति व शोक इनमें से किसी एक संघात का वह योगी उदीरक होता है।।63।। कदाचित् भय व जुगुप्सा का उदीरक होता है। पश्चात् अपूर्वकरण काल का संख्यातवाँ भाग बीतने पर तब परभविक नामकर्म अर्थात् देवगति आदि 30 या 27 प्रकृतियों का बंधक वह मुनि हो जाते हैं।।64।।

2254. ठिदिबंधसहस्सेहिं, गदेहि ताए संखेज्ज-भागेसु।
गदेसु णिद्दं पयलं, बंधदि पुण जादो गणेसो॥65॥

2255. गदेसुं संखेज्जठिदिबंधसहस्सेसु चरिमसमयो पुण।
अपुव्वकरणोजोगी,पढमसमय-अधापवत्तोय॥66॥(जुम्मं)

2256. पुण तस्स पढमसमये, पुव्वादो गुणसेडिणिक्खेवादु।
संखेज्जगुणो अण्णो, हवेदि गुणसेडिणिक्खेवो॥67॥

2257. णिक्खेवोओयरंत-सुहुमकसाय-पढमसमयप्पहुदि हु।
सेसे सेसे तदा हि, चरिमसमय - अपुव्वकरणादु॥68॥

2258. पढमसमयधापवत्त - करणे णिक्खेव - अंतमुहुत्तिओ।
तत्तियो तत्तियो खलु, अंतोमुहुत्त - पज्जंतं च॥69॥

2259. सिया वड्ढेदि य सिया, हायेदि तह सिया अवट्ठायेदि।
तेणं परं पुण पढम - समय - अधापवत्तकरणम्मि॥70॥

2260. गुणसंकम-वोच्छिण्णो, अधापवत्तसंकमो सव्वाणं।
णवरिणेयोविज्झाद-संकमोताणविज्झादोहि॥71॥(जुम्मं)

2261. उवसामगस्स हु पढम-समय-अपुव्वकरणप्पहुडिजोगी।
पतंतस्सचरिम-समय-अपुव्वकरणेत्तिचिययालं॥72॥

2262. एत्तो संखेज्जगुणं, पडिणियत्तो य अधापवत्तेणं।
उवसमसम्मत्तद्धं,पालेदि इत्थंमुणिरायो॥73॥(जुम्मं)

2263. मुणी उवसमसेणीइ, पडिदो णिव्वाणं पावदि तादो।
अण्णादु भवादो वा,सादी जहक्खाद-चरियस्स॥74॥

2264. पस्स मोहमाहप्पं, उवसम-सेणीए पडिदो मुणी वि।
अद्धपोग्गलपरावट्टणयालंतं भमेज्ज भवे॥75॥

2265. दया-थीइ अवऊढो, सच्चाणुरदो अचोरिय-तप्परो।
बंभचरियासंगेसु, लीणो भावणा विचिंतीअ॥76॥

तत्पश्चात् स्थितिबंधसहस्रों के बीतने से उस अपूर्वकरणकाल के संख्यात बहु भाग व्यतीत होने पर निद्रा व प्रचला प्रकृतियों को बांधता है। पुनः वे गणधर संख्यात स्थितिबंध सहस्रों के व्यतीत होने पर अपूर्वकरण के अंत समय को प्राप्त होते हैं। अनंतर समय में वे अशोक योगीराज प्रथमसमयवर्ती अधःप्रवृत्तकरण हो गए।।65-66।। तब उस अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में अन्य गुणश्रेणी निक्षेप पूर्व गुणश्रेणी निक्षेप से संख्यातगुणा होता है।।67।। उतरते हुए सूक्ष्मसांपरायी के प्रथम समय से लेकर अपूर्वकरण के अंतिम समय तक शेष-शेष में निक्षेप होता है।।68।। अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जो अंतर्मुहूर्तमात्र निक्षेप है, वह अंतर्मुहूर्त तक उतना-उतना ही रहता है।।69।। उसके आगे कदाचित् बढ़ता है, कदाचित् हानि को प्राप्त होता है और कदाचित् अवस्थित रहता है। अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में गुणसंक्रमण व्युच्छिन्न हो जाता है और सब कर्मों का अधःप्रवृत्त-संक्रमण होता है। किन्तु विशेषता यह है कि जिनका विध्यात संक्रमण होता है उनका विध्यात संक्रमण ही रहता है।।70-71।। उपशामक की श्रेणी चढ़ते समय अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर उतरते हुए अपूर्वकरण के अंतिम समय तक जो काल है उससे संख्यात गुणे काल तक कषायोपशामना से लौटते हुए मुनिराज अधःप्रवृत्तकरण के साथ इस प्रकार द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को पालते हैं।।72-73।। उपशम श्रेणी से पतित हुए यथाख्यात चरित्र के आस्वादी मुनिवर उस भव से या अन्य भव से निर्वाण प्राप्त करते हैं।।74।। अहो! मोह का माहात्म्य तो देखो उपशम श्रेणी से पतित मुनिराज अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक भी संसार में परिभ्रमण कर सकते हैं।।75।। दया रूपी स्त्री से आलिंगित, सत्य में अनुरक्त, अचौर्य व्रत में तत्पर, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह में लीन वे मुनिवर इनकी (पाँच महाव्रतों की) भावना का चिंतन किया करते थे।।76।।

2266. जह रयणेसुं वइरं, णगेसु सुमेरू खीरो सिंधूसु।
गुत्तीसु मणो तरूसु, चंदणं च खमा धम्मेसुं॥77॥

2267. तवेसु वेज्जावच्चं णरेसुं चक्की सुरेसुं वज्जी।
तित्थेसुं सम्मेदो, भूमीसुं ईसिपब्भारा॥78॥

2268. पदवीसुं तित्थयरो, भासासु पागदो गंगा णदीसु।
कम्मेसु मोहणिज्जं, पवज्जा कल्लाणगेसुं च॥79॥

2269. साहूसुं णिग्गंथो, णाणेसु केवलं लवणं रसेसु।
बारससहासुंमुणी, जह तह वदेसुंअहिंसादु॥80॥(चउक्कं)

2270. मणवयगुत्तीइरियादाणणिक्खेवण-समिदी भणिदा।
दिण-पयासे भोयणं, पणभावणा वद-विसुद्धीइ॥81॥

2271. सुगुरुवयणं चित्तं दु, सोहेदु य वइस्साणरो धादुं।
खारो वत्थं जह तह, पणभावणा अहिंसावदं॥82॥

2272. कोह-लोह-भय-चागो, हस्स-विसज्जणंतह मुणेदव्वा।
सुत्ताणुगं वयणं च, पंचभावणा सच्चवदस्स॥83॥

2273. सुण्णागार - विमोइद - आवासो परोपरोधाकरणं।
भिक्खासुद्धी सधम्म - अविसंवादो वदभावणा॥84॥

2274. पालिदुंणिरदिक्कमं, सीलवदं पण-भावणा भणिदाय।
रायकहासवणस्स, मणोहरंगणिरिक्खणस्स थीणं॥85॥

2275. पुव्वभोयाण - सिमरण - गरिट्ठिट्ठरसचागो सदेहस्स।
सक्कार-चागोपंच-भावणा बंभचरियवदस्स॥86॥(जुम्मं)

2276. लोयम्मिदु विज्जमाण-अणंता चिय पोग्गलिया पयत्था।
भासेज्ज मोहि-जीवा, इट्ठणिट्ठरूवा दु सव्वा॥87॥

2277. णिद्दोसं अपरिग्गह-वदं पालेदुं परपयत्थेसुं।
ण दु रायं ण दु दोसं, करेज्ज भावणा असंगस्स॥88॥

जैसे रत्नों में हीरा, पर्वतों में सुदर्शन, समुद्रों में क्षीर समुद्र, गुप्तियों में मनोगुप्ति, वृक्षों में चंदन वृक्ष, धर्मों में क्षमा, तपों में वैय्यावृत्ति, मनुष्यों में चक्रवर्ती, देवों में सौधर्मेन्द्र, तीर्थों में सम्मेदशिखर, भूमियों में ईषत्प्राग्भार, पदों में तीर्थंकर, भाषाओं में प्राकृत, नदियों में गंगा, कर्मों में मोहनीय, कल्याणकों में तप कल्याणक, साधुओं में निर्ग्रन्थ, ज्ञानों में केवलज्ञान, रसों में नमक, बारह सभाओं में मुनि श्रेष्ठ होते हैं उसी प्रकार व्रतों में अहिंसा होती है।।77-80।। मनोगुप्ति (मन को भले प्रकार रोकना), वचनगुप्ति (वचन को भले प्रकार रोकना), ईर्यासमिति (चार हाथ आगे की जमीन देखकर चलना), आदान-निक्षेपण समिति (सावधानीपूर्वक उठाना-रखना), दिन (सूर्य) के प्रकाश में भोजन करना ये अहिंसाव्रत की विशुद्धि की पाँच भावनाएँ हैं।।81।। जिस प्रकार सुगुरु के वचन चित्त को शुद्ध करते हैं, अग्नि धातु को और क्षार वस्त्र को शुद्ध करता है उसी प्रकार पंच भावनाएँ अहिंसा व्रत को शुद्ध करती हैं।।82।। क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय त्याग, हास्य त्याग एवं शास्त्रों के अनुसार वचन बोलना ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।।83।। शून्यागारावास (निर्जन स्थान में रहना), विमोचितावास (दूसरों के द्वारा त्यागे स्थान में निवास करना), परोपरोधाकरण (दूसरों को अपने ठहरे हुए स्थान पर आने से नहीं रोकना), भिक्षाशुद्धि एवं सधर्म अविसंवाद (साधर्मी के साथ विसंवाद नहीं करना) ये अचौर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।।84।। शीलव्रत के निरतिक्रम पालन हेतु पाँच भावनाएँ कही गयी हैं। स्त्रीराग, कथाश्रवण का त्याग, स्त्री के मनोहर अंगों का निरीक्षण का त्याग, पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ इष्ट रसों का त्याग, अपने शरीर के संस्कार का त्याग, ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।।85-86।। लोक में अनंत पौद्गलिक पदार्थ विद्यमान हैं। वे सभी पदार्थ मोही जीवों को इष्ट व अनिष्ट रूप प्रतिभासित होते हैं।।87।। अपरिग्रह व्रत के निर्दोष पालन के लिए पर पदार्थों से न तो राग करना चाहिए और न ही द्वेष करना चाहिए। ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।।88।।

2278. धीरो य खमाजुत्तो, सुझाणजोगम्मि तप्परो सददं।
परिसहेसुं अच्चुदो, भावणाहिं वदं पालीअ॥89॥

2279. वदपालणम्मि णिउणो, अहण्णिसं अप्पचिंतणे लीणो।
जिणकप्पो दु असोगो, मुणी एक्को साहणारदो॥90॥

2280. सण्णाण-धीर-बलेहि, संजमसिद्धीए तवं कुव्वीअ।
सहिदो दु गणहरो सो, हंदि अच्चंतविसुद्धीए॥91॥

2281. तवेण अक्खणिरोहो, अक्खणिरोहेण होज्ज मणसुद्धी।
चित्तसुद्धी पहाणं, कारणं सुपसत्थझाणस्स॥92॥

2282. अक्ख-णिग्गहेण विणा, को सक्को संजमी दमी होदुं।
तवस्स मुक्ख-कारणं, इंदिय-णिग्गहो णादव्वो॥93॥

2283. अक्ख-णिग्गहेण विणा, असंभवो तह इच्छा-णिरोहो दु।
विरागेण विणा जमो, संजमेण विणा सिवमग्गो॥94॥

2284. चंदेण विणा जुण्हा, अणलेणं विणा उण्हत्तं हु जह।
मेहेण विणा विट्ठी, चेयणाए विणा जीवो य॥95॥(जुम्मं)

2285. पालीअ सडावसियं, पडिदिवसं णियपावणिविट्ठीए।
अट्टं रुद्दं वज्जिदुं, धम्मसुक्केसु पविसेदुं च॥96॥

2286. गुत्ति-समिदि-अणुवेक्खा-परीसहजय-चरियाणि णियमादो॥
संवर-कारणं जाण, चिरकालंतं चिअ धारीअ॥97॥

2287. तदो झाण-जोग्गेसुं, खेत्तेसु-मेगंत-मणोहरेसुं।
राय-दोस-रहिदेसुं, णिवसीअ सज्झाणस्स मुणी॥98॥

2288. जत्थ णेव अइ-उण्हो, णेव अइ-सीदो दु साहारणा य।
सुपसंत-णिज्जण-वण्ण-पदेस-गुहादी सुजोग्गादु॥99॥

2289. जदा ण अइ-उण्हत्तं, ण अइ-सीयलत्तं णो णूणत्तं।
आणपाणवाउस्सय, सव्वसुहदा सुजोग्गयालं॥100॥(जुम्मं)

इस प्रकार वे धीर, क्षमा से युक्त, ध्यान योग में तत्पर एवं परीषहों में च्युत न होने वाले मुनिराज निरंतर भावनाओं के द्वारा व्रतों का पालन किया करते थे।।89।। व्रत पालन करने में निपुण, निरंतर आत्मचिंतन में लीन वे जिनकल्पी अशोक मुनिराज अकेले ही साधना में रत थे।।90।। सम्यग्ज्ञान, धैर्य व बल से सहित वे गणधर अत्यंत विशुद्धिपूर्वक संयम की सिद्धि के लिए तप किया करते थे।।91।। तप से इंद्रियों का निरोध होता है, इंद्रियों के निरोध से मन की शुद्धि होती है और प्रशस्त ध्यान के लिए चित्त की शुद्धि ही प्रधान कारण है।।92।। इंद्रियों के निग्रह के बिना कौन संयमी व दमी होने में समर्थ होता है। तप का मुख्य कारण इंद्रिय निग्रह जानना चाहिए।।93।। इंद्रिय निग्रह के बिना इच्छाओं का निरोध असंभव है। वैराग्य के बिना संयम और संयम के बिना मोक्षमार्ग उसी प्रकार संभव नहीं है, जिस प्रकार चंद्र के बिना चांदनी, अग्नि के बिना ऊष्णता, मेघ के बिना वृष्टि और चेतना के बिना जीव संभव नहीं है।।94-95।। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के त्याग के लिए एवं धर्मध्यान व शुक्लध्यान में प्रवेश के लिए तथा अपने पापों की निवृत्ति के लिए प्रतिदिन छः आवश्यकों का पालन करना चाहिए।।96।। गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र नियम से संवर के कारण जानने चाहिए। उन्होंने दीर्घकाल तक इन्हें धारण किया।।97।। सद्ध्यान के लिए वे मुनिराज एकांत, मनोहर, राग-द्वेष से रहित, ध्यान के योग्य क्षेत्रों में निवास करते थे।।98।। जिन क्षेत्रों में न अधिक गर्मी न अधिक सर्दी हो, साधारण मनुष्य जहाँ आ-जा सकते हैं ऐसे प्रशांत, निर्जन, वन्य प्रदेश, गुफा आदि सुयोग्य क्षेत्र होते हैं। जब न अधिक उष्णता, न अधिक शीतलता, न प्राणवायु की न्यूनता हो, सबको सुख देने वाला ध्यान के योग्य काल है।।99-100।।

2290. चउसंझा-यालेसुं, चित्तपणिही सहजो सज्झाणस्स।
अण्णसमए दुद्धरा, तम्हा सदुवजोगं करेज्ज॥101॥

2291. तिव्वमिच्छाइट्ठीण, मज्झे तिव्वरायदोसजुत्ताण।
जणसमूहस्स य कहं, संभवो चिय सगप्पझाणं॥102॥

2292. तिव्वकसायजुदाणं, अहभोयासत्ताणं मज्झे वा।
अट्ट रुद्दज्झाणीण, विलावाइ - बाहुल्ल - देसे॥103॥

2293. अइ-हरिस-भय-जुगुप्सा-जुद्दाण असीम-रदि-अरदि-लीणाण।
मज्झम्मिचित्त-पणिही, अइदुल्लहाहुसज्झाणम्मि॥104॥(जुम्मं)

2294. सुहधम्म-सुक्कज्झाण-जुत्ता समत्तभावेण चिट्ठंति।
विम्हरंति जम्मजादवइरी वि वइरं जत्थ तत्थ॥105॥

2295. छुहादीदो उप्पण्ण-संकिलेसहाणीइ समत्थत्था।
सज्झाणस्स सुजोग्गा, भासिदा हु जिणवरिंदेहिं॥106॥

2296. णाण-वेरग्ग-समत्त-धीर-दया-खमा-मद्दव-पसंता।
इच्चाइ-भाव-जोग्गा, अप्पज्झाणस्स सिद्धीए॥107॥

2297. असुह-दव्व-खेत्त-याल-भावं विहाय विसेसेण गहेज्ज।
पुरिसट्ठेण णिमित्तं, सुहं सव्वं सुप्पारंभे॥108॥

2298. अज्झप्पतच्चविदो हु, अणुऊल-दव्वखेत्तयालभावा।
सो सेवी अझाणस्स, अदिसय-अप्पविसुद्धीए दु॥109॥

चारों संध्याकालों में सद्ध्यान के लिए चित्त की एकाग्रता सहज होती है। अन्य समय में चित्त की एकाग्रता दुर्द्धर होती है। अतः समय का सदुपयोग करना चाहिए।।101।। तीव्र मिथ्यादृष्टि, तीव्र राग- द्वेष से युक्त जीव व जनसमूह के मध्य अपनी आत्मा का ध्यान किस प्रकार संभव है अर्थात् संभव नहीं है।।102।। तीव्र कषायों से युक्त, अति भोगों में आसक्त, आर्त्त व रौद्र ध्यानियों के मध्य विलाप आदि बाहुल्य प्रदेश में अति हर्ष, भय, जुगुप्सा से युक्त एवं निःसीम रति व अरति में लीन जीवों के मध्य सद्ध्यान में चित्त की एकाग्रता अति दुर्लभ है।।103-104।। जहाँ समत्वभाव से शुभ धर्मध्यान व शुक्लध्यान से युक्त मुनिराज विराजमान होते हैं वहाँ जन्मजात बैरी भी अपना बैर भूल जाते हैं।।105।। क्षुधा आदि से उत्पन्न संक्लेश की हानि के लिए समर्थ द्रव्य सद्ध्यान के योग्य द्रव्य हैं ऐसा जिनवरेंद्रों के द्वारा कहा गया है।।106।। ज्ञान, वैराग्य, समत्व, धैर्य, दया, क्षमा, मार्दव, प्रशांत इत्यादि भाव आत्मध्यान की सिद्धि के योग्य भाव हैं।।107।। प्रारंभ में योगियों को अशुभ द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव को छोड़कर विशेष रूप से पुरुषार्थ के बल से सर्व शुभ निमित्त ग्रहण करने चाहिए।।108।। अध्यात्म तत्त्व को जानने वाले वे अशोक योगीराज ध्यान के लिए अतिशय आत्मविशुद्धि से अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का सेवन करते थे।।109।।

मत्तयगइंद छंद

2299. सो गिरिकंदर-कुंज-णगेसु कयाइ तडे सरिदाइ समीरे,
पव्वय-संग-सिलासु कया सुचिसेगदरम्मसुसायरतीरे।
गोखुर-चिण्हविहीण-अगम्म-वणेसु उपद्दव-सुण्ण-सुठाणे,
झाणठिदोअविणत्तचरेहि भयंकर-तंडव-जुत्त-मसाणे॥110॥

द्रुतविलंबित छंद

2300. सुपरिहा-गहणेसुवणे कदा, सुगहरम्मितवंत-सुजोगिणा।
मणसखेवविहीणपुरेसुवा, इहमहीइविहार-किदोतदा॥111॥

कभी पर्वतों की गुफा में तो कभी लतागृहों में, कभी पर्वतों पर तो कभी हवा में नदी के तट पर, कभी पर्वतों के शिखर पर तो कभी शिलाओं पर, कभी शुक्ल व पवित्र बालू से मनोहर सागर के किनारे तो कभी गाय के खुरों तक के जहाँ चिह्न नहीं ऐसे अगम्य वनों में, कभी उपद्रव से रहित श्रेष्ठ स्थान पर तो कभी राक्षसादि के द्वारा जहाँ भयंकर नृत्य किया जाता था ऐसे श्मशान में वे मुनिराज ध्यान में स्थित हुआ करते थे।।110।। कभी खाई, वृक्ष के कोटर, वन अथवा कभी मन के विक्षेप से रहित नगरों में तप करते हुए उन योगीराज ने इस समस्त पृथ्वी पर विहार किया।।111।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में ''उपशम श्रेणी से अवरोहण'' का वर्णन करने वाला बीसवाँ नंद पूर्ण हुआ।

एगवीसइम-णंदो

2301. एयदा अइ-आसण्ण-विदूरे णेव णयरादु वणेगे।
अहिराम-णिराउल-सुइ-एगंत-णिज्जंतुगम्मि तह॥1॥

2302. झाणट्ठिदो सजोगी, पुव्वाहिमुहो सुझाणासणम्मि दु।
उक्किट्ठं धारंतो, लेस्सा-सुद्धिं सुहसिलाए॥2॥(जुम्मं)

2303. अदिसय-सुविसुद्ध-बुद्धि-धारगोविचिंतीअदुसिद्ध-गुणा।
सासय-अप्प-सरूवं, चित्त-थिरंकडुअमोक्ख-पहे॥3॥

2304. पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधादो रहिदो सुहुमो।
अप्पा णिरंजणो णिच्चो सुद्धो वत्तो जोगीहि॥4॥

2305. विवज्जिदो दु रायाइ-भावकम्मादो लेस्साविहीणो।
अरसारूवागंधो, जाणगो दंसी तह अप्पा॥5॥

2306. सव्वविहावविहीणो, केवलणाणदंसणसुहमइओ य।
केवलसत्तिसहावो, अप्पा सव्वकम्मविहीणो॥6॥

2307. दुरिदमलविगलिदस्स दु, विरागभावसंपण्ण-सुजोगिस्स।
ण पमादो सज्झाणे, णाणदंसणाइ-बलत्तादु॥7॥

2308. मोहवाहिणिं खयिदुं, झाणत्थं सुक्कलेस्सामाढिं च।
दुसंजम-सिरत्ताणं, धरित्तु विसोहि-सेण्णेण सह॥8॥

2309. तप्परो कंतिवंतो, सो भेय-विण्णाण-सेणापदिणा।
सुणाण-मंतिणापरम-विराय-ढालेणमुणिरायो॥9॥(जुम्मं)

2310. जहसाहसेणजोद्धा, मिच्चु-इच्चाइ-भय-विमुक्कोहंदि।
रिउं जयिदुं तप्परो, मोहरिउं सुदकेवली तह॥10॥

2311. इमेण मोह-सुभडेण, अणंतवारं भमाविदा ममधी।
देज्जा बहुदुक्खाइं, मोहो संसार-मूलो तह॥11॥

एक बार एक वन जो नगर के न अति निकट था और न अति दूर, जो सुंदर, निराकुल, पवित्र, एकांत व जंतुओं से रहित था वहाँ जाकर महायोगी अशोक लेश्या की उत्कृष्ट शुद्धि को धारण करते हुए शुभ शिला पर पूर्वाभिमुख होकर ध्यान आसन में बैठकर ध्यान में स्थित हुए।।1-2।। वे अतिशय, विशुद्धबुद्धि के धारक मोक्ष पथ पर अपना चित्त स्थिर करके सिद्धों के गुण व शाश्वत आत्म स्वरूप का चिंतन करने लगे।।3।। अहो! यह आत्मा प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग बंधों से रहित है, सूक्ष्म, निरंजन, नित्य व शुद्ध है तथा योगियों के द्वारा व्यक्त (अनुभवगम्य) है।।4।। यह आत्मा रागादि भाव कर्मों से विवर्जित, लेश्या से रहित, रस-रूप व गंध से रहित तथा ज्ञाता-दृष्टा है।।5।। यह आत्मा सभी विभावों से हीन, केवलज्ञान, केवलदर्शन व अनंत सुखमय है। यह केवलशक्ति स्वभावी एवं सर्व कर्मों से विहीन है।।6।। जिनका पाप रूपी मल गल गया था, जो विराग से संपन्न थे उन योगी के सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानादि के बल से शुभध्यान में थोड़ा भी प्रमाद नहीं था अर्थात् तब उनका अप्रमत्त गुणस्थान था।।7।। मोह रूपी सेना के नाश के लिए उन योगी ने ध्यान रूपी अस्त्र, शुक्ललेश्या का कवच, इंद्रिय व प्राणी संयम रूपी टोप को धारण किया। परम वैराग्य की ढाल लेकर सम्यग्ज्ञान रूपी मंत्री, भेदविज्ञान रूपी सेनापति और विशुद्धि रूपी सेना के साथ वे कांतिमान् मुनिराज कर्म क्षय के लिए तत्पर हुए।।8-9।। जिस प्रकार मृत्यु आदि भय से रहित योद्धा साहसपूर्वक शत्रु को जीतने के लिए तत्पर होता है उसी प्रकार वे श्रुतकेवली मोह रूपी शत्रु को जीतने के लिए तत्पर हुए।।10।। वे विचार करते हैं कि इस मोह सुभट ने अनंत बार मेरी बुद्धि भ्रमित की, अनंत बार बहुत दुःख दिया। अहो! यह मोह संसार का मूल है।।11।।

2312. मोहो महाउदारो, कम्मं पडि य सरणभूदो ताणं।
जीवा पडि णिद्दयो दु, णवरि तं खयिदुं णेव खमो॥12॥

2313. णेव होज्ज णिस्सेसो, दव्वेगो वि केण वि पयारेणं।
अहुणा हु मोहदप्पं, पणासिस्सामि पुरिसट्ठेण॥13॥

2314. कत्तव्वं पालंतो, णिवो दंडेदि अवराहिं जह तह।
अण्णहा दु अण्णायी, मोहक्खयिदुं तप्परो सो॥14॥

2315. अप्पगुणा-सेणिगाय, णिरंतर-जोद्धा भेदण-अजोग्गा।
रायाइं पणासिदुं, समत्था य विस्सस्सणीया॥15॥

2316. सरासरिं पारंभो, किण्णु जयुज्जोगेण मुणिरायेण।
गुणसेणि णिज्जराए, संचुण्णिदा कम्म-वाहिणी॥16॥

2317. विसुद्धि-सेण्णं जह जह, उत्तर-मक्कमी अतह तह जदिस्स।
कम्मट्ठिदीए दुसह, अणुभाग-सत्ती विहस्सीअ॥17॥(जुम्मं)

2318. परपइडि - संकंतीय, तदा रसक्खयो कम्मठिदिहासो।
गुणसेणी-णिज्जरा वि, कम्मरिऊण तदा जोगिस्स॥18॥

2319. उक्किट्ठ विसुद्धीए, पुण सुक्कज्झाण - किरीडं धरित्तु।
खयिय-सम्मत्त-हयजुद-खवगसेणिरहं आरुहीअ॥19॥

2320. अधापवत्तकरणादु, ठिदिअणुभागखंडयघादं सो दु।
कुणंता अपुव्वकरणो, होच्चु होज्ज अणियट्टिकरणो॥20॥

मोह कर्मों के प्रति महा उदार है और उन्हीं के लिए शरणभूत है किन्तु वही मोह जीवों के प्रति निर्दयी है विशेषता यह है कि मोह जीव को नष्ट करने में कभी समर्थ नहीं होता।।12।।एक द्रव्य भी किसी प्रकार से नष्ट नहीं किया जा सकता। अब मैं पुरुषार्थपूर्वक मोह के दर्प को नष्ट करूँगा।।13।। जिस प्रकार अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए राजा अपराधियों को दंडित करता है, अन्यथा अन्यायी कहलाता है, उसी प्रकार वे मुनिराज मोह का क्षय करने में तत्पर हुए।।14।। उन योगीराज के आत्मगुण रूपी सैनिक निरंतर युद्ध करने वाले शत्रुओं के द्वारा भेदन के अयोग्य, विश्वसनीय और रागादि के नाश करने में समर्थ थे।।15।। दोनों ओर से बाणयुद्ध प्रारंभ हो गया; किन्तु विजय का उद्योग करने वाले उन मुनिराज के द्वारा गुणश्रेणी निर्जरा से कर्म रूपी सेना चूर-चूर होने लगी।।16।। जैसे-जैसे उन योगीराज की विशुद्धि रूपी सेना आगे-आगे कर्म रूपी सेना पर आक्रमण कर रही थी वैसे-वैसे कर्मों की स्थिति के साथ अनुभाग शक्ति भी हानि को प्राप्त हो रही थी।।17।। उस समय उन योगी के कर्मरूपी शत्रुओं में परप्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था, कर्मों की स्थिति घट रही थी, रस अर्थात् फल देने की शक्ति क्षीण हो रही थी और गुणश्रेणी निर्जरा भी हो रही थी।।18।। पुनः उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा शुक्लध्यान का मुकुट धारण कर वे योगी क्षायिक सम्यक्त्व के अश्व से युक्त क्षपकश्रेणी के रथ पर आरूढ़ हुए।।19।। अधःप्रवृत्तकरण से स्थितिकांडक घात व अनुभागकांडक घात करते हुए उत्कृष्ट विशुद्धि से अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती होते हुए अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती हुए।।20।।

2321. विसोहि-वाहिणीएदु, पराइदं खलु मोह-राय-सेण्णं।
थाणगिद्धितिगं णिरयगदिं तिरियगदिं चउजादिं॥21॥

2322. दुणिरयतिरियगदि-आणुपुव्वी आदवदुगं थावरतिगं।
सोलसपइडिं खइत्तु, अंतोमुहुत्तम्मि गलिदम्मि॥22॥

2323. अपच्चक्खाण-पच्चक्खाण-अट्ठभडा दु खयिदा समगं।
तिक्ख-झाण-अत्थेण, णिब्भय-विजयुच्छुग-रायोव्व॥23॥ (तिअं)

2324. तिवेदा छक्कसाया, हणिदा मोहस्स अंगरक्खगा व।
पुणकोह-माण-माया-बादरलोहा संजलणस्स॥24॥

2325. इत्थं कम्मसत्तुणो, घादिय अपुव्वकरण-जयखेत्तम्मि।
सचरित्त - वेजयंती, पविसेदि सुहुमसंपराये॥25॥

2326. तत्थ सुहुमलोहं अवि, हणिदूणं मोहसेण्णं जयित्ता।
सहसत्ति खीण-मोही, होज्जा सासयजयो जोगी॥26॥

2327. जयावह-कंतिवंतो, खवगसेणि-समरंगणे जयित्ता।
दुद्धरं मोह-सत्तुं, छक्खंडविजयी-सुचक्कीव॥27॥

2328. जोगिरायेण तेणं, सव्वमोहवाहिणी हंदि जयिदा।
संकप्पी सग - झेयं, आवज्जेदुं चिय समत्थो॥28॥

2329. खीणमोह-ट्ठाणम्मि, एगत्तवितक्क-वीयारेण चिय।
णाणावरणं चउ-दंसणावरणं विग्घं खयिदं॥29॥

2330. महाविक्कमो राओ, अण्णायपिय-सगसत्तुणो हणदे।
असोगमुणिणा हणिदं, घादिकम्मं सुक्कझाणेण॥30॥

उन योगीराज की विशुद्धि रूपी सेना ने मोह राजा की सेना को पराजित कर दिया। उन्होंने स्त्यानगृद्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि) नरकगति, तिर्यंच गति, चार जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), नरकतिर्यंच गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावरत्रिक-स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर अंतर्मुहूर्त काल बीत जाने पर अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ व प्रत्याख्यान कोध, मान, माया, लोभ इन आठ सुभटों को एक साथ तीक्ष्ण ध्यान के अस्त्र से उन योगीराज ने इस प्रकार नष्ट कर दिया जैसे एक निर्भय, विजय के लिए उत्सुक राजा अपने शत्रु को नष्ट कर देता है।।21-23।। उन योगीराज ने मोह के अंगरक्षक के समान तीन वेद व छः कषायों का हनन कर दिया। पुनः संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और बादर लोभ भी नष्ट कर दिया।।24।। इस प्रकार कर्मशत्रुओं का नाश अपूर्वकरण रूपी जय क्षेत्र में अपने सम्यक् चारित्र की विजय पताका फहराते हुए सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में प्रवेश किया।।25।। वहाँ सूक्ष्म लोभ को नष्ट कर मोह की संपूर्ण सेना को जीतकर शीघ्र ही वे शाश्वत जयी योगी क्षीण मोही हुए।।26।। क्षपकश्रेणी रूपी युद्धक्षेत्र में दुर्द्धर मोह शत्रु को जीतकर वे जयी योगी इस प्रकार कांतिमान् हो रहे थे जैसे षट्खंडों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती कांतिमान् होता है।।27।। उन योगीराज ने मोह की संपूर्ण सेना जीत ली थी। उचित ही है एक संकल्पी अपने ध्येय वा लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है।।।28।। क्षीण मोह गुणस्थान में एकत्ववितर्कवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्म का क्षय भी उन मुनिराज ने कर दिया।।29।। जिस प्रकार एक महाविक्रमी राजा अपने अन्याय प्रिय शत्रुओं को नष्ट कर देता है उसी प्रकार अशोक मुनिराज ने शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया था।।30।।

2331. लोयालोयपयासग - सव्वण्हू य सव्वदंसी जोगी।
अणंतचउक्कजुत्तो, अट्ठारस-दोस-विहीणोय॥31॥

2332. भव्वचित्तसरसीरुह-विआसग-जिणदिवायरोअसोगो।
गंधकुडि-विहूदि-जुदो, णवकेवललद्धिसंजुत्तो॥32॥

2333. मोहकम्मविजयस्स दु, केवलणाणसिरीइ जुइमंतस्स।
कुणिदोचियजयघोसो, भत्तिपूरिद-विणयिंदेहिं॥33॥

2334. मदकलरुअभमरजुदो, णदीइ सीयल - वीइं फासंतो।
पउममयरंदपूरिद- मारुदो दसदिसासु वत्तो॥34॥

2335. आखंडलेणाणाइ, धणदेण रम्म -गंधकुडी रयिदा।
उप्पण्ण-केवलणाणमिहिरो असोगुदयायलेण॥35॥

2336. जगज्जणहिदायतदा, दिव्वज्झुणी णिस्सरीअ संझासु।
परमाणंददायगो, गणहर-मुक्ख-सोदावितत्थ॥36॥

2337. भमर-गुंजणरूवो य, पणवबीयक्खर-ओंकारमयो हु।
अणक्खरी झुणी तहा, सव्वंगादो दु णिस्सरिदो॥37॥

2338. दोसरहिद - गंभीरं, कंठोट्ठाइ - वयोणिमित्तरहिदं।
विसदं तहा-णिरुवमं, णिस्सेस-भासामयं तहा॥38॥

2339. अभिट्ठवत्थुकथगं च, समं मणोहरं सुमहुरं हिदं च।
णोवादरोहोग्गदं, णंददायगंहुजिणवयणं॥39॥(जुम्मं)

2340. अंग-बंग-कुरुजंगल-मगध-सोरट्ठ-मालव-कच्छेसुं।
सोरट्ठ-कासी-अंध-कंपिल-महाकच्छादीसुं॥40॥

2341. विहिण्ण-णयर-देसेसु, विहरंतो पहुच्चीअ खलु अंगं।
तत्थदुहिदकारग-दिव्वज्झुणी णिस्सरिदोइत्थं॥41॥(जुम्मं)

वे योगी लोकालोक को प्रकाशित करने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतचतुष्टय से युक्त व अट्ठारह दोषों से रहित हो गए।।31।। वे अशोक जिन रूपी सूर्य भव्यों के चित्त रूपी कमल को विकसित करने वाले थे। वे गंधकुटी की विभूति और नव केवललब्धि से संयुक्त थे।।32।। जिन्होंने मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त कर ली थी, जो केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी से युक्त थे उन जिनराज की भक्ति से परिपूरित व उनके प्रति विनम्रता के भाव को धारण करने वाले इंद्रों ने उनका जयघोष किया।।33।। उस समय भ्रमर के शब्दों से आकाश को गुंजायमान करने वाली नदी की शीतल लहर का स्पर्श करती हुई, कमल के पराग से पूरित वायु दसों दिशाओं में व्याप्त थी।।34।। सौधर्म इंद्र की आज्ञा से कुबेर इंद्र ने मनोहर गंधकुटी की रचना की। अशोक जिन रूपी उदयाचल पर केवलज्ञान रूपी सूर्य उदय को प्राप्त हुआ था।।35।। तब संसार के समस्त प्राणियों के हित के लिए परम आनंद को प्रदान करने वाली प्रभु की दिव्यध्वनि संध्याकालों में निःसृत हुई। तब वहाँ गणधर व मुख्य श्रोता भी विराजमान थे।।36।। भगवान् की दिव्यध्वनि भ्रमर के गुंजन रूप प्रणव बीजाक्षर, ऊँकारमय, अनक्षरी व सर्वांग से निःसृत थी।।37।। उन श्री जिनेंद्र के वचन सभी दोषों से रहित, गंभीर, कंठ-ओष्ठ आदि वचो निमित्त से रहित, स्पष्ट, निरुपम, सर्व भाषात्मक, अभीष्ट वस्तुओं को कथन करने वाले, समतामय, मनोहर, सुमधुर, हितकर, पवन के रुकने से प्रगट नहीं होने वाले व आनंददायक थे।।38-39।। अंग, बंग, कुरुजांगल, मगध, सौराष्ट्र, मालव, कच्छ, काशी, आन्ध्र, कांपिल्य, महाकच्छादि विभिन्न नगर व देशों में विहार करते हुए वे अंग देश में पहुँचे। वहाँ उनकी हितकारक दिव्यदेशना इस प्रकार निःसृत हुई।।40-41।।

2342. लोए खलु छद्दव्वा, विज्जंते अणादीदु सहावेण।
जीवो पोग्गल-धम्माधम्मा आयासो कालो य॥42॥

2343. जीवो सव्वेसु वरो, चेयण-लक्खण-संजुत्तो तिविहो।
बहिरप्पंतरप्पा य, परमप्पा विसेसेण तहा॥43॥

2344. जीवो दुविहो णेयो, भेयादो संसारि - मुत्ताणं च।
सण्णि-असण्णीणंतस-थावराणदुविह-संसारी॥44॥

2345. फासिंदियगो मेत्तं, एइंदियो थावरो पंचविहो।
बे-आइ-इंदिय-जुदो,तसजीवोसमयम्मिभणिदो॥45॥

2346. पुढवि-जल-तेउ-वाऊ-वणप्फदिकायिगाथावराजाण।
फास-रसण-घाण-चक्खु-कण्णक्खेहि जुद-पणिंदिया॥46॥

2347. पंचक्खा जे ते मणजुत्ता सण्णी इदरा असण्णी य।
णो सण्णी ण असण्णी, परमप्पा खलु मुणेदव्वा॥47॥

2348. देहप्प - मेगरूवं, मण्णंते चिय जे ते बहिरप्पा।
देहप्प - भेय - जुत्ता, अंतरप्पा सम्माइट्ठी॥48॥

2349. घादिकम्महीणा वा, सव्वकम्मविहीदा जे जीवा हु।
ते परमप्पा दुविहा, भेयादो सयल - णियलाणं॥49॥

2350. मिच्छाणंताणुबंधि-मिस्सपइडीण उदय-विहीणा जे।
ते खलु सम्माइट्ठी, अंतरप्पा होंति णियमेण॥50॥

2351. दंसणमोहणिज्जं च,खयिय अणंताणुबंधी - चउक्कं।
खइय - सम्माइट्ठी दु,अच्चंतासण्ण - भव्वुल्लो॥51॥

2352. उत्त-सत्त-पइडीणं, अणुदय-जुत्तो उवसामगो आहु।
उवसम-सम्माइट्ठी, णादव्वो भव्वो णियमेण॥52॥

इस लोक में अनादिकाल से स्वभाव से छः द्रव्य विद्यमान हैं। वे छः द्रव्य इस प्रकार हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।।42।। उन सभी द्रव्यों में जीव उत्तम है।; वह चेतना लक्षण से युक्त है। जीव के तीन भेद हैं–बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा।।43।। संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार का जानना चाहिए। संज्ञी व असंज्ञी या त्रस व स्थावर के भेद से भी संसारी जीव दो प्रकार के जानने चाहिए।।44।। मात्र स्पर्शन इंद्रिय वाला एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाता है। उन स्थावर के पाँच भेद होते हैं। दो आदि इंद्रिय से युक्त आगम में त्रस जीव कहे गए हैं।।45।। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये स्थावर कहलाते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन पाँच इन्द्रियों से युक्त जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।।46।। जो पंचेन्द्रिय जीव मन युक्त हैं वे संज्ञी जानने चाहिए और इनसे इतर अर्थात् मन से रहित असंज्ञी कहलाते हैं। परमात्मा–अरिहंत व सिद्ध निश्चय से न संज्ञी हैं और न असंज्ञी हैं।।47।। जो जीव शरीर व आत्मा को एक रूप मानते हैं वे बहिरात्मा कहलाते हैं एवं शरीर व आत्मा के भेद से युक्त अर्थात् उनके भेद को जानने वाले सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा कहलाते हैं।।48।। जो जीव घातियाकर्म से विहीन हैं या सर्व कर्मों से रहित हैं वे परमात्मा जानने चाहिए। सकल व निकल के भेद से परमात्मा दो प्रकार के होते हैं।।49।। जो जीव मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी कषाय व मिश्र प्रकृतियों के उदय से रहित होते हैं वे सम्यग्दृष्टि जीव नियम से अंतरात्मा होते हैं।।50।। अत्यंत आसन्न भव्य जीव दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति) एवं अनंतानुबंधी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।।51।। उक्त सात प्रकृतियों के उदय से रहित अथवा उन सात प्रकृतियों का उपशम करने वाला उपशम सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। वह भी नियम से भव्य होता है।।52।।

2353. मिच्छाणंताणुबंधि - मिस्साण उदयाभावीखयादो।
ताण सदवत्थारूवुवसमादु सम्मत्तपइडीइ॥53॥

2354. देसघादि - पइडीए, उदयादो खओवसम - सम्मत्तं।
तेणजुदोखओवसम-सम्माइट्ठीमुणेदव्वो॥54॥(जुम्मं)

2355. जे के वि सद्दहंते, सत्त-तच्चं दु जहट्ठियत्तेणं।
ते हु ववहार - सम्माइट्ठी सव्वदा णादव्वा॥55॥

2356. पोग्गलाइ - पंचविहो, अजीवो इदरलक्खणो जीवादु।
पोग्गलेण सह जीवो, रायाइ-विहाव - भावेहिं॥56॥

2357. कुव्वदि आसवं सया, कम्मागम-दारं दव्वभावाण।
भेयादोदुविहोवा, आसवोतिजोग-पविट्टीय॥57॥(जुम्मं)

2358. अप्पपदेसेहिं सह, कम्मवग्गणण्णोण्ण-णिबंधणं च।
बंधतच्चं हु णेयं, णीर-खीरं व भववड्ढगं॥58॥

2359. दव्वभावाण दुविहो, पइडि-पएस-ठिदि-अणुभागाणंच।
भेयादो य चदुविहो, बंधो कमेण मुणेदव्वो॥59॥

2360. पइडी पदेस-बंधो, जोगवसादो कसायदो अण्णो।
कसायहीणो-जीवो, कंपि बंधं करिदु-मसक्को॥60॥

2361. जीवो संवर-तच्चं, लहदि सम्मत्तसंजम-धम्मेहिं।
आगच्छंत-कम्माण, णिरोहणं संवर-तच्चं दु॥61॥

2362. दव्व-भावाण दुविहो, भेयादो भासिदो गणेसेहिं।
जेहिं भावेहि कम्म-णिरोहो भाव-संवरो सो॥62॥

2363. दव्व-संवरो पोग्गल-कम्म-वग्गणाणं णिरोहो जाण।
संवरो मोक्ख-हेदू, असंभवो सिवो तेण विणा॥63॥

2364. पुव्वबद्धकम्माणं, एयदेस-णिज्जरणं णिज्जरा दु।
अविवागि-सविवागीण, भेयादो बेविहो णेयो॥64॥

मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी व मिश्र इन सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय से उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से एवं देशघाती सम्यक् प्रकृति के उदय से क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। उस क्षयोपशम सम्यक्त्व से युक्त जीव क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।।53-54।। जो कोई भी जीवादि सात तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धान करते हैं वे सर्वदा व्यवहार सम्यग्दृष्टि जानने चाहिए।।55।। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के भेद से अजीव के पाँच भेद होते हैं। जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव है। रागादि विभाव भावों से पुद्गल के साथ मिला यह जीव सदा कर्मों का आस्रव करता है। कर्मों के आने का द्वार आस्रव है अथवा तीनों योगों की प्रवृत्ति आस्रव है। द्रव्य और भाव के भेद से वह आस्रव दो प्रकार का है।।56-57।। नीर-क्षीर के समान आत्मप्रदेशों के साथ कर्म वर्गणाओं का अन्योन्य बंधन बंध तत्त्व जानना चाहिए, यह बंध संसार की वृद्धि करने वाला है।।58।। द्रव्य व भाव के भेद से बंध दो प्रकार का और क्रम से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग के भेद से बंध चार प्रकार का जानना चाहिए।।59।। प्रकृति व प्रदेश बंध योग से और अन्य स्थिति व अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। कषाय से रहित जीव कोई भी बंध करने में समर्थ नहीं होता।।60।। आते हुए कर्मों का निरोध करना संवर तत्त्व है। सम्यक्त्व, संयम व धर्म से जीव संवर तत्त्व को प्राप्त करता है।।61।। द्रव्य व भाव के भेद से गणधर देवों ने जिनागम में संवर दो प्रकार का कहा है। जिन भावों से कर्म का निरोध होता है वह भाव संवर है।।62।। पुद्गल कर्म वर्गणाओं का निरोध द्रव्य संवर जानना चाहिए। संवर मोक्ष का हेतु है, उसके बिना मोक्ष असंभव है।।63।। पूर्वबद्ध कर्मों की एकदेश निर्जरा करना निर्जरा जाननी चाहिए। अविपाकी व सविपाकी के भेद से निर्जरा दो प्रकार की होती है।।64।।

2365. णिज्जरंति सगसमये, पुव्वबद्धकम्माणि दायिय फलं।
जदा तदा सविवागी, णिज्जरा सव्वसंसारीण॥65॥

2366. रयणत्तय-बलेण वा, विसेस-सम्मतवेण णिज्जरंते।
अविवागी विवागादु, कम्म-णिज्जरा पुव्वसमये॥66॥

2367. अकामा भववङ्कगा मिच्छत्तण्णाणकुतवेहि जा सा।
संवर-जुत्त-णिज्जरा, सिव-कारणं भणिदा समये॥67॥

2368. जदा सव्वकम्माइं, जीवप्पादो पुधो पुधो होज्जा।
तदा हु कम्मविरहिदो, सो अप्पा पावेदि मोक्खं॥68॥

2369. भव्वाभव्वो दुविहो, जीवो सम्मत्तजोग्गा भव्वा हु।
तव्विवरीय-अभव्वा सहावेणं मोक्ख-अजोग्गा॥69॥

2370. सजोगिकेवलिट्ठाण-अंते हु सुहुमकिरियापडिपादिं।
तिदियसुक्कज्झाणंच, किच्चापविसीअअजोगम्मि॥70॥

2371. अजोगकेवलिठाणे, बेचरिमे एयवेयणीयं तह।
देवगदिं पणदेहं, पणसंघादं पणबंधणं॥71॥

2372. छसंठाण-संहणणं, तियंगुवंग-पणवण्ण-दुग्गंधं।
पणरसं अट्ठफासं, देवाणुपुव्वि-मगुरुलहुं च॥72॥

2373. उवघादं परघादं, उस्सासं च दोण्णिविहाओगदिं।
पत्तेय - मपज्जत्तं, थिरमथिरं सुहमसुह - कम्मं॥73॥

2374. दुब्भगं सुस्सरं तह, दुस्सर-मणादेयं अजसकित्तिं।
णिम्माण-णीयगोदं, बाहत्तरि-पइडी णस्सीअ॥74॥

2375. पच्छा चरिमम्मि एगवेयणीयं णराउं णरगदिं च।
पंचिंदियजादिं णर-गदि आणुपुव्वि-तस-बादरा॥75॥

2376. पज्जत्तं तह सुहगं, आदेयं जसकित्तिमुच्चगोदं।
बारसपइडी खयिदा, चदुत्थ-सुक्कज्झाणबलेण॥76॥ (छक्कं)

जब पूर्वबद्ध कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जरित हो जाते हैं तब वह सविपाकी निर्जरा कहलाती है। यह सभी संसारी जीवों के होती है।।65।। रत्नत्रय के बल से अथवा विशेष सम्यक् तप से विपाक के पूर्व जो कर्मों की निर्जरा होती है वह अविपाकी निर्जरा कहलाती है।।66।। मिथ्यात्व, अज्ञान व कुतप से जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा कहलाती है। यह अकाम निर्जरा संसार का वर्द्धन करने वाली है। संवर युक्त निर्जरा जिनागम में मोक्ष का कारण कही गयी है।।67।। जब जीवात्मा से सभी कर्म पृथक्-पृथक् हो जाते हैं तब कर्मरहित वह आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है।।68।। जीव दो प्रकार का भी कहा गया है—भव्य व अभव्य। सम्यक्त्व के योग्य जीव भव्य कहलाते हैं और उसके विपरीत अभव्य कहलाते हैं।।69।। सयोगकेवली गुणस्थान के अंत में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तृतीय शुक्लध्यान करके उन्होंने अयोगकेवली गुणस्थान में प्रवेश किया।।70।। अयोगकेवली गुणस्थान में द्विचरिम समय में दोनों में से कोई एक वेदनीय, देवगति, पाँच देह (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्माण), पाँच संघात, पाँच बंधन, छः संस्थान, तीन अंगोपांग, छः संहनन, पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वासोच्छ्वास, दो विहायोगति, प्रत्येक शरीर, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण व नीच गोत्र इन बाहत्तर प्रकृतियों का क्षय किया। पश्चात् चरिम समय में जिसका पूर्व में क्षय हो गया उसके अतिरिक्त एक वेदनीय, मनुष्यआयु, मनुष्य गति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति व उच्चगोत्र इन बारह प्रकृतियों का क्षय चतुर्थ शुक्लध्यान के बल से किया।।71-76।।

2377. अध मारुद - वेगेणं, पचंडक्कुण्हत्तेण सघणवणे।
सुक्करुक्खजुदे वंस-घसणेणं उप्पण्णग्गी जह॥77॥

2378. डज्झदि तंतह मुणिणा, णिम्मल-सुक्कज्झाणबलेणंखलु।
डज्झिद-मघादिकम्मं, अच्चंतप्पमुहुत्तयाले॥78॥(जुम्मं)

2379. डज्झिद-रज्जू दु कं पि, वत्थुं बंधेदुं णेव समत्थो।
सहजपवणबलेणं च, तस्स भासं चिय उड्डीदे॥79॥

2380. तह अघादिकम्मं पि ण, बंधिदुं सक्केदि दिग्घयालस्स।
खयिद-मइ-अप्पयाले, जिणेणसुक्कज्झाणबलेण॥80॥(जुम्मं)

2381. संसारम्मि पडंतो, मिच्छत्ताइ-पच्चय-बलादो खलु।
जीवो णियमा अणंत-दुहाणि भुंजेदि सुइरंतं॥81॥

2382. तहेव दु सम्मत्ताइ-णिमित्तेणं उद्धाअदे जीवो।
संसार-सायरादो, सहजेणं भुंजदे सोक्खं॥82॥

2383. पारंभे भवमग्गो, सिवमग्गो अवि पुरिसट्ठबलेणं।
पच्छा उहयमग्गावि, सक्कारेणंहोज्जसहजा॥83॥(जुम्मं)

2384. कुणदे णिगोद-वासं, अणादीदो जीवो तिजोगेहिं।
ओरालिय-ओरालियमिस्स-कम्माणाण चदुत्थो॥84॥

2385. णो करिदुं भवभमणं, सक्को जीवो पुरिसट्ठेण विणा।
मिच्छत्तवसेण मिच्छ-पुरिसट्ठो सम्मत्तेणिदरो॥85॥

2386. सम्मपुरिसट्ठेण तइ, मुणिणा घादिदं पि सव्वकम्माणि।
अणंतयालंतं पुण, विज्जमाणो सिद्धालयम्मि॥86॥

2387. सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहुमंअवगाहणत्तंच।
अगुरुलहु-मव्वावाह-मट्ठगुणा पावीअणिच्चा॥87॥

अभव्य जीव स्वभाव से मोक्ष के अयोग्य होते हैं। अनंतर जिस प्रकार प्रचंड सूर्य की उष्णता व पवन के तीव्र वेग से शुष्क वृक्ष से युक्त सघन वन में बाँस वृक्ष के रगड़ने से उत्पन्न अग्नि उस वन को जला देती है उसी प्रकार उन मुनिराज ने निर्मल शुक्लध्यान के बल से अत्यंत अल्प मुहूर्त काल में अघातिया कर्मों को नष्ट कर दिया।।77-78।। जिस प्रकार जली हुई रस्सी किसी वस्तु को बांधने में समर्थ नहीं होती एवं सहज पवन के बल से उसकी भस्म उड़ जाती है उसी प्रकार मात्र अघातिया कर्म भी दीर्घकाल के लिए जीव को बांधने में समर्थ नहीं होते। वे कर्म जिनप्रभु के द्वारा अति अल्पकाल में शुक्लध्यान के बल से क्षय को प्राप्त हुए।।79-80।। मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के बल से संसार में गिरता हुआ जीव नियम से अनंत प्रकार के दु:खों को दीर्घकाल तक भोगता है।।81।। उसी प्रकार सम्यक्त्वादि के निमित्त से जीव संसार सागर से ऊपर उठता है व सहजता में ही सुख भोगता है। प्रारंभ में वह संसारमार्ग व मोक्षमार्ग भी पुरुषार्थ के बल से होता है पश्चात् संस्कारवशात् दोनों ही मार्ग सहज हो जाते हैं।।82-83।। जीव अनादिकाल से तीनों योगों से निगोद में वास करता है। वहाँ औदारिक, औदारिकमिश्र व कार्माण तीन योग ही होते हैं, चौथा नहीं होता।।84।। जीव पुरुषार्थ के बिना संसार में परिभ्रमण करने में समर्थ नहीं होता। मिथ्यात्व के वशीभूत मिथ्यापुरुषार्थ व सम्यक्त्व के वशीभूत सम्यक्त्व पुरुषार्थ होता है।।85।। सम्यक् पुरुषार्थ के बल से उन मुनिराज ने सभी कर्मों का घात कर दिया पुन: अनंतकाल तक के लिए सिद्धालय में विराजमान हो गए।।86।। उन्होंने क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व व अव्याबाधत्व इन शाश्वत अष्ट गुणों को प्राप्त किया।।87।।

2388. णिक्कम्मो णिल्लेवो, चरमदेहादु किंचूणो सिद्धो।
लोयग्गठिदो णिच्चो, सुद्धरूवपरिणदो मुत्तो॥88॥

2389. अखंडो अमुत्त-सुद्ध-चेयणा सासयो विगद-देहु।
कम्मजभावरहिदोय,णाणाइ-अणंतगुण-जुत्तो॥89॥(जुम्मं)

2390. ववहारेणं सिद्धो, सव्वण्हु-सव्वदंसी अबाहिदो।
अक्खयभोत्तू अणंत-यालंतं सगप्पजसुहस्स॥90॥

2391. अप्पण्हु-अप्पदंसी, णिच्छयेणं दु सिद्धो अणवेक्खी।
सया णियप्पम्मि रदो, विरहिदो सव्वपरदव्वादु॥91॥

2392. रोहिणि-वद-पहावेण, लहिदो सव्वकम्मविहीण-मोक्खो।
ते सिद्धे णमंसामि, भत्तीइ तं हिदकर-वदं पि॥92॥

2393. रोहिणीइ वि पालिदं, तं वदं च लहिदा अज्जादिक्खा।
कडुअ वर-सल्लेहणं, सग्गम्मि महड्ढिओ देवो॥93॥

2394. सग्गस्स सुपुण्णाउं, भुंजिय होज्ज भूवदी तत्थ।
समणधम्मं गहित्ता, तवं कडुअ पाविदो मोक्खो॥94॥

2395. अण्णाअणेगजीवा,अस्सवद-पहावेणविहि-सव्वाणि।
खयिय लहिस्संति,सिवं लहीअ ते सय वंदणीया॥95॥

2396. रोहिणि-वदं जे के वि, भव्वा पालंते सुद्ध-बुद्धीइ।
आरोग्ग-विहव-सुकुला,सुहाउंसुसंगदिं लहंति॥96॥

2397. पुणो बोहिं समाहिं,णर-सुराण वर-सोक्खं भुंजिदूण।
पच्छालहंतिसस्सद-सुहंहोज्जकिदकिच्चाते॥97॥(जुम्मं)

2398. णरा कम्मभूमीए, सडावसियं पालंतु णिट्ठाए।
सव्वत्थ धम्मविड्ढी, वड्ढदु अहिंसा वच्छल्लं॥98॥

2399. सुद्धसाहगतवस्सी, लोयमंगल्ला य सया सव्वत्थ।
ताण णाणं संजमो, झाणं तवादी पवड्ढेदु॥99॥

2400. णिवो पया धम्मिट्ठा, खेमसंजुदा णियकत्तव्वरदा।
मंदकसायी सरला, होज्ज गंभीर-सुधीवंता॥100॥

वे सिद्ध निष्कर्म, निर्लेप (कर्म रूपी लेप से रहित) चरम देह से किंचित् न्यून, लोक के अग्रभाग पर स्थित, नित्य, शुद्ध रूप में परिणत, मुक्त, अखंड, अमूर्तिक, शुद्ध चेतना, शाश्वत, देह से रहित, कर्म निमित्तक भाव रहित व ज्ञानादि अनंत गुणों से युक्त होते हैं।।88-89।। व्यवहार से सिद्ध सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होते हैं। वे अबाधित और अनंतकाल तक निज आत्मा से उत्पन्न सुख के अक्षय भोक्ता होते हैं।।90।। वे सिद्ध निश्चय से आत्मज्ञ व आत्मदर्शी होते हैं। अनपेक्षी सदैव निजात्मा में रत एवं सभी परद्रव्य से विरहित होते हैं।।91।। जिन्होंने रोहिणी व्रत के प्रभाव से सर्व कर्म से विहीन मोक्ष पद प्राप्त किया उन सिद्धों को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ एवं उस हितकारी व्रत को नमस्कार करता हूँ।।92।। रोहिणी ने भी उस व्रत का पालन किया पुनः उत्तम सल्लेखना करके स्वर्ग में महर्दिक देव हुआ।।93।। वहाँ वह देव स्वर्ग की पूर्ण आयु को भोगकर राजा हुआ। वहाँ श्रमण धर्म को ग्रहण कर तप कर मोक्ष प्राप्त किया।।94।। इस व्रत के प्रभाव से अन्य अनेक जीव भी सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करेंगे वा जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, वे सभी भी सदैव वंदनीय हैं।।95।। जो कोई भी भव्य जीव शुद्ध बुद्धि से रोहिण ी व्रत का पालन करते हैं वे आरोग्य, वैभव, सुकुल, शुभ आयु व सुसंगति प्राप्त करते हैं। पुनः बोधि व समाधि भी प्राप्त करते हैं। पश्चात् मनुष्य व देवों के उत्कृष्ट सुख को भोगकर शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं और वे कृतकृत्य हो जाते हैं।।96-97।। कर्मभूमि के मनुष्य निष्ठापूर्वक षडावश्यक का पालन करें। सर्वत्र धर्म की वृद्धि हो, अहिंसा और वात्सल्य की वृद्धि हो।।98।। शुद्ध साधक व तपस्वी साधु सदा सर्वत्र लोक मंगलकारी हैं। उनका ज्ञान, ध्यान, संयम व तप आदि सदैव वृद्धि को प्राप्त हो।।99।। राजा व प्रजा धर्मिष्ठ, कुशल युक्त, अपने कर्त्तव्य में रत, मंदकषायी, सरल, गंभीर, सम्यक् बुद्धि से युक्त हो।।100।।

2401. सव्वतित्थयराजिणा,उसहाइ-वीर-जिणिंद-केवलिणो।
वंदित्तु सव्व-सिद्धा, थुवमि सूरि-पाढगा साहू॥101॥

2402. सत्तविहकेवलिणो य,णमामिअणंतचउक्क-लद्धीए।
सुद्धप्पाणंतगुणा, पप्पोदुं अप्पविसुद्धीइ॥102॥

2403. तियालिगसव्वसूरी, पणविहायारा णमामि भत्तीइ।
पंचाचारेहि विणा,पंचविहभवस्स खओ णेव॥103॥

2404. एयारस - अंगाणं, चउदसपुव्व - पुण्णबारसंगाण।
अंगबज्झस्स णाणं,लहिदुं सव्वपाढगा थुवमि॥104॥

2405. गहिदुंसण्णाण-फलय-मुत्तमज्झाण-असिंचणमंसामि।
सव्वसाहू वद-समिदि-गुत्तीण कवयं तिजोगेहि॥105॥

2406. अणेगभवेसुसंचिद-पुण्णफलेण पत्त-अणाइणिहणं।
जिणधम्मं भत्तीए, थुवमि भवे भवे लहिदुं तं॥106॥

2407. किट्टिमाकिट्टिमाइं, चेइय-चेइयालयाणि तियाले।
वंदामि सुद्ध-चेयण-चेइयं लहिदुं भत्तीए॥107॥

2408. इंदभूदिं सुधम्मं, विण्हुं णंदिमित्तं अवराजिदं।
गोवड्ढण-भद्दबाहु-विसाहा-पोट्ठिल-खत्तिया दु॥108॥

2409. जयणायधिदिसेणा य, सिद्धत्थं विजयं गंगदेवं पि।
धम्मसेण-णक्खत्ता, जयपालं पंडु-धुवसेणा॥109॥

2410. कंससूरिं सुभद्दं, जसोभद्द-गुणहरा चंदणंदि।
बलदेवं जिणणंदिं, पणमामि सुहभत्तिरायेण॥110॥ (तिअं)

2411. अज्जसव्वगुत्तं तह,मित्तणंदि सिवकोडि-विणयहरा।
गुत्तिसुदि-गुत्तिइड्ढी, सिवगुत्तं रयणसुहणंदी॥111॥

2412. बप्पदेवं च कुमार-णंदिं अरिहबलिं अरिहदत्तं च।
सिव-विणय-सिरि-दत्तादु,माघणंदिसिरिधरसेणं॥112॥

2413. पुप्फदंत-भूदबली, मंदज्जं मित्तवीर-माइरियं।
दिवायरसेणंअज्जमंखुणमामिसुविसुद्धीए॥113॥(तिअं)

सर्व तीर्थंकर, जिनेंद्र, श्री ऋषभदेव से श्री महावीर तक सभी जिनवर, सर्व केवलियों व सर्व सिद्धों की वंदना करके मैं आचार्य, उपाध्याय व साधुओं की स्तुति करता हूँ।।101।। अनंतचतुष्टय, शुद्धात्मा के अनंतगुण की प्राप्ति व आत्मविशुद्धि के लिए मैं सात प्रकार के केवलियों को नमस्कार करता हूँ।।102।। त्रैकालिक सभी आचार्यों व पाँच प्रकार के आचार को भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। पंचाचार के बिना पाँच प्रकार के संसार का क्षय नहीं हो सकता।।103।। ग्यारह अंग, चौदह पूर्व, पूर्ण द्वादशांग व अंग बाह्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मैं सभी उपाध्यायों की स्तुति करता हूँ।।104।। सम्यग्ज्ञान रूपी ढाल, उत्तम ध्यान रूपी तलवार एवं व्रत, समिति व गुप्ति के कवच को प्राप्त करने के लिए तीनों योगों से सभी साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।।105।। अनेक भवों में संचित पुण्य फल से प्राप्त अनादिनिधन जिनधर्म को भव-भव में प्राप्त करने के लिए उसे भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।106।। कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्य व चैत्यालयों को शुद्ध चेतन रूपी चैत्य की प्राप्ति के लिए मैं त्रिकाल में भक्तिपूर्वक मस्कार करता हूँ।।107।। श्री इंद्रभूति गौतम गणधर, श्री सुधर्म स्वामी, श्री विष्णु, श्री नंदिमित्र, श्री अपराजित, श्री गोवर्धन, श्री भद्रबाहु, श्रीविशाखाचार्य, श्री प्रोष्ठिल, श्री क्षत्रिय, श्री जयसेन, श्री नागसेन, श्री धृतिषेण, श्री सिद्धार्थ, श्री विजय, श्री गंगदेव, श्री धर्मसेन, श्री नक्षत्र, श्री जयपाल, श्री पांडु, श्री ध्रुवसेन, श्री कंसाचार्य, श्री सुभद्र, श्री यशोभद्र, श्री गुणधराचार्य, श्री चंद्रनंदि, श्री बलदेव एवं श्री जिननंदि आचार्य को शुभ भक्ति के राग से नमस्कार करता हूँ।।108-110।। आचार्य श्री आर्यसर्वगुप्त, श्री मित्रनंदि, श्री शिवकोटि, श्री विनयधर, श्री गुप्तिश्रुति, श्री गुप्तिऋद्धि, श्री शिवगुप्त, श्री रत्ननंदि, श्री शुभनंदि, श्री बप्पदेव, श्री कुमारनंदि, श्री अर्हदबलि, श्री अर्हदत्त, श्री शिवदत्त, श्री विनयदत्त, श्रीदत्त, श्री माघनंदि, श्री धरसेनाचार्य, श्री पुष्पदंत, श्री भूतबलि, श्री मंदार्य, श्री मित्रवीर, श्री दिवाकरसेन, श्री आर्यमंक्षु आचार्य को मैं विशुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।।111-113।।

2414. सूरि जसोबाहु-णायहत्थी जदिउसहं तह जिणचंदं।
कोंडकुंडं चिअ उमासामिं समंतभद्द-सूरिं॥114॥

2015. अरिहसेण-सीहणंदि-कुमारसामिणो बलागपिच्छंच।
जसकित्तिं जसणंदिं, सामकुंडारिइयं विजयं॥115॥

2416. देवणंदि-सिरिदत्ता, पुज्जपाद-मल्लवादि-जयणंदी।
गुणणंदि-वज्जणंदी, परियंदामि सव्वाइरिया॥116॥(तिअं)

2417. सव्वणंदिं सिरिलोयचंदं पहाचंदं च जोगिंदुं।
णेमिचंद-भाणुणंदि-सिद्धसेण-पत्तकेसरी य॥117॥

2418. वसुणंदि-मरिहसेणं, वीरणंदि-माणतुंग-अकलंका।
कुमुदचंदं च लखमण-सेणं कणगसेणं सूरिं॥118॥

2419. माणिक्कणंदिं धम्म-रवि-जिण-सेणा मेहबालचंदं।
सुमदिं तह जडासीह-णंदिं काणभिच्छुं वंदे॥119॥

2420. चरित्तभूषणं सेट्ठ - विज्जाणंदि - मज्जणंदिं सूरिं।
वादीभसीहं वादिरायं तहा एलाइरियं॥120॥

2421. वीरसेणं सिरिधरं, महावीरं च वीर-पउमसेणा।
उग्गदित्ताइरियं च, देवसेणं वामदेवं पि॥121॥

2422. गुणभद्द-ममियचंदं, गोलाइरियं कलधोदणंदिं च।
णयणंदिंणयसेणं, सुहु-सिरि-चंदाहुणमंसामि॥122॥(तिअं)

2423. बालणंदिं तह मल्लि-राम-णाय-णरिंद-हरिसेणा चिअ।
देवचंद-रविचंदा, कुलभद्दं तह इंदणंदिं॥123॥

2424. पारसदेवं कणगामरं दामणंदिं माधवचंदं।
अमिदगदि-मभयणंदिं, पउमणंदिं अमोघवस्सं॥224॥

2425. चामुंडरायं सयलकित्ति-मजिदसेणं सव्वाइरिया।
जिणसासणुण्णदियरा, पणमामिसगप्पसिद्धीए॥125॥(तिअं)

2426. चरियचक्किं सज्झाण-मेरुं संतिसायरं जुगपुरिसं।
तियालेपरियंदामि, णाण-चरिय-मुत्ति-माइरियं॥126॥

आचार्य श्री यशोबाहु, श्री नागहस्ति, श्री यतिवृषभ, श्री जिनचंद्र, श्री कुंदकुंद, श्री उमास्वामी, श्री समंतभद्र स्वामी, श्री अर्हसेन, श्री सिंहनंदि, श्री कुमार स्वामी, श्री बलाकपिच्छाचार्य, श्री यशःकीर्ति, श्री यशोनंदि, श्री शामकुंडाचार्य, श्री विजय, श्री देवनंदि, श्रीदत्त, श्री पूज्यपाद, श्री मल्लवादि, श्री जयनंदि, श्री गुणनंदि, श्री वज्रनंदि सभी आचार्यों की मैं स्तुति करता हूँ।।114-116।। श्री सर्वनंदि, श्री लोकचंद, श्री प्रभाचंद, श्री योगेंदु देव, श्री नेमिचंद, श्री भानुनंदि, श्री सिद्धसेन, श्री पात्रकेसरी, श्री वसुनंदि, श्री वीरनंदि, श्री मानतुंग, श्री अकलंक देव, श्री कुमुदचंद, श्री लक्ष्मणसेन, श्री कनकसेन, आचार्य श्री माणिक्यनंदि, श्री धर्मसेन, श्री रविषेण, श्री जिनसेन, श्री मेघचंद्र, श्री बालचंद, श्री सुमतिदेव, श्री जटासिंहनंदि, श्री काणभिक्षु आचार्य की मैं वंदना करता हूँ।।117-119।। श्री चारित्रभूषण, श्रेष्ठ श्री विद्यानंद, श्री आर्यनंदि, आचार्य श्री वादीभसिंह, श्री वादिराज, श्री एलाचार्य, श्री वीरसेन, श्री श्रीधर, श्री महावीर, श्री वीरसेन, श्री पद्मसेन, श्री उग्रदित्याचार्य, श्री देवसेन, श्री वामदेव, श्री गुणभद्र, श्री गोलाचार्य, श्री कलधौतनंदि, श्री नयनंदि, श्री नयसेन, श्री शुभचंद्र, श्री श्रीचंद्र आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूँ।।120-122।। आचार्य श्री बालनंदि, श्री मल्लिषेण, श्री रामसेन, श्री नागसेन, श्री नरेंद्रसेन, श्री हरिषेण, श्री देवचंद, श्री रविचंद, श्री कुलभद्र, श्री इंद्रनंदि, श्री पारसदेव, श्री दामनंदि, श्री माधवचंद, श्री अमितगति, श्री अमोघवर्ष, श्री सकलकीर्ति, श्री अजितसेनादि जिनशासन की उन्नति करने वाले सभी आचार्यों को मैं स्वात्मसिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ।।123-125।। चारित्र चक्रवर्ती प्रशस्त ध्यान के मेरु, युग पुरुष, ज्ञान व चारित्र की मूर्ति आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज को मैं त्रिकाल में नमस्कार करता हूँ।।126।।

2427. बारस-तव-जुद-मप्पाणुसासगं तह हिमगिरीव धीरं।
सजुत्तिजुत्त-वयणं च, पणमामि पायसिंधु-सूरिं॥127॥

2428. अज्झप्प-सायरस्स दु, मराल-मपुव्वकित्ति-जुदं णमामि।
बहुगुणरयण-संजुदं, चेयणसिंधुं जयकित्तिं हु॥128॥

2429. सव्वमण्णगुरुं पुज्ज-णिग्गंथ-गोरवं देसभूसणं।
देसस्स सुह-भूसणं, धम्मपहावग-पमुहं थुवमि॥129॥

2430. सिद्धंतचक्किं रट्ठ-संतं विस्सधम्म - संपेरगं च।
सेदपिच्छिधारगं दु, सण्णाण-विस्सविज्जालयं॥130॥

2431. जुग-पवट्टगं, णाणक्कं सव्वसंदेहतमणासगं च।
सव्वविदूसुं मण्णं, जेट्ठं सेट्ठं च आइरियं॥131॥

2432. पच्चक्ख-उवयारिं हु, मम हिदकरं सया विज्जाणंदं।
गुरुदेवं सुपणमामि, खालिदुं अप्पपावपंकं॥132॥(तिअं)

2433. अक्कोव्व ओजंसीय, णमामि मिअंगोव्व सीयलचित्ता।
सायरोव्व गंभीरा, सव्वसूरिणो दु अज्जंतं॥133॥

2434. सायरोव्व णिस्सीमं, सुदणाणं णो को वि णित्थरेदुं।
इदमप्पविसुद्धीए, लिहिदं सुगुरुकिवाए तहवि॥134॥

2435. संजद-बहुसुदणाणी, सुद्धप्पज्झाणरदा सिवमग्गी।
मुणी सोहयंतु इमो, बालोव्व जाणिय खमंतु मे॥135॥

2436. परमसड्ढाइ पढेज्ज, चिंतेज्ज सुणेज्ज भव्वा जे के वि।
सवर-मोह-मण्णाणं, गालिदुं सक्कंति णियमेण॥136॥

2437. अस्स गंथ-लेहणम्मि, मए अणभुविदो दु परमाणंदो।
वसुगुणणंदं लहिदुं, कम्मंखयियसिवोव्व लिहिदो॥137॥

बारह तप से युक्त, आत्मानुशासक, हिमालय के समान धीर, युक्तियुक्त वचनों को कहने वाले, चेतन सिंधु आचार्य श्री पायसागर जी को मैं प्रणाम करता हूँ।।127।। अध्यात्म रूपी सागर के राजहंस, अपूर्व कीर्ति से युक्त, बहुत गुण रूपी रत्नों से संयुक्त, चेतन सिंधु आचार्य श्री जयकीर्ति जी मुनिराज को नमस्कार करता हूँ।।128।। सर्वमान्य गुरु, पूज्य, निर्ग्रन्थ गौरव, प्रमुख धर्म प्रभावक, देश के शुभ आभूषण रूप आचार्य श्री देशभूषण जी को मैं नमस्कार करता हूँ।।129।। सिद्धांतचक्रवर्ती, राष्ट्रसंत, विश्वधर्म संप्रेरक, श्वेतपिच्छीधारक, सम्यग्ज्ञान के विश्व विद्यालय, युग प्रवर्तक, सर्व संदेह रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले, ज्ञान रूपी सूर्य, सभी विद्वानों में मान्य, मेरे प्रत्यक्ष उपकारी, हितकारी ज्येष्ठ व श्रेष्ठ आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानंद जी मुनिराज को आत्मा के पाप रूपी पंक के प्रक्षालन के लिए सदा नमस्कार करता हूँ।।130-132।। सूर्य के समान ओजस्वी, चंद्रमा के समान शीतलचित्त व सागर के समान गंभीर आज तक के सभी आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूँ।।133।। सागर के समान निःसीम श्रुतज्ञान को पार करने में कोई समर्थ नहीं है। आत्मविशुद्धि के लिए गुरु की कृपा से यह ग्रंथ लिखा गया।।134।। संयत, बहुश्रुतज्ञानी, शुद्धात्मध्यान में रत, मोक्षमार्गी मुनिराज इस ग्रंथ को संशोधित करें एवं मुझे बालक के समान जानकर क्षमा करें।।135।। जो कोई भी भव्य जीव परम श्रद्धा से इस ग्रंथ को पढ़ते हैं, सुनते हैं, इसका चिंतन करते हैं वे स्वपर मोह व अज्ञान का नाश करने में नियम से समर्थ होते हैं।।136।। इस ग्रंथ के लेखन में मुझे परमानंद का अनुभव हुआ। सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्धों के समान वसु-अष्ट गुणों को प्राप्त करने के लिए इस ग्रंथ का लेखन किया।।137।।

शार्दूल विक्रीडित छंद

2438. देवेहिं थुद-सोक्खदं हिदयरं णिव्वाण - संसाहगं,
साहिंसं दुरिदंतगं वर-सिआवायंग-जुत्तं सया।
गंभीरं अजिदं तिलोयमहिदं, सव्वण्हुणा भासिदं,
वंदे हं जिणधम्म-दोसरहिदं णाणीहि संसेविदं॥138॥

2439. जावच्चंद-दिवायरा सुगगणे, जोदिग्गहा सोहिदा,
णिस्सीमे रयणायरे सुरयणं, खीरोदही उज्जलं।
पाणेहिं खलु जीवदे य पददे, सेलादु मंदाइणी,
भव्वाणं सुहिदं च ताव सिवदो संतिप्पदो गंथिमो॥139॥

2440. सद्धम्मस्स सुवड्ढगा मुणिवरा, अग्गिंधणं डज्झदे।
सिप्पीए सुहमोत्तिअं महितले, धम्मो अहिंसाजुदो।
तित्थेसो खलु जाव ताव सददं कल्लाणजुत्तो तहा,
गंथेसो वसुणंदि-सूरि-रयिदो, मादूव संपोसगो॥140॥

2441. सद्धम्मस्स पहावगं वरगणिं, सव्वक्खजेदुं सया,
जेट्ठं आइरियं सगप्प-रसिगं, सिद्धंतचक्किं तहा।
मुत्तित्थीइ सुकंत - भावि - सुमुणिं, वंदित्तु भत्तीइ तं,
विज्जाणंद-सुअंतवासिपडुणा, गंथोमए भासिदो॥141॥

अनुष्टुप् छंद

2442. पुण्णाहे य वीरद्धे, अत्थ - गइ - रसंबरे।
तित्थखेत्ते महावीरे, पुण्णो उच्च-रविम्मि य॥142॥

देवों के द्वारा संस्तुत, सुख को देने वाले निर्वाण के संसाधक, अहिंसा से सहित, उत्तम स्याद्वाद चिह्न से युक्त, गंभीर, अजेय, तीनों लोकों में महिमावान्, सर्वज्ञ के द्वारा भाषित, ज्ञानियों के द्वारा सेवित, दोष रहित जिनधर्म की मैं वंदना करता हूँ।।138।। जब तक आकाश में सूर्य-चंद्रमा हैं, ज्योतिष ग्रह सुशोभित हैं, रत्नाकर में निःसीम रत्न हैं, क्षीरोदधि का जल उज्ज्वल-धवल है, जीव प्राणों से जीता है, पर्वत से नदी गिरती है तब तक यह ग्रंथ भव्य जीवों का हित करने वाला, मोक्ष देने वाला और शांति प्रदान करने वाला होवे।139।। जब तक जिनधर्म का वर्द्धन करने वाले मुनिवर हैं, अग्नि ईंधन को जलाती है, सीप में शुभ मोती है, पृथ्वीतल पर अहिंसा धर्म है तथा तीर्थंकर कल्याणक से युक्त हैं तब तक आचार्य वसुनंदी द्वारा रचित यह ग्रंथ माता के समान संपोषण करने वाला है।।140।। जिनधर्म प्रभावक, उत्तम गणी (संघ नामक) सर्व इंद्रियों के जेता, ज्येष्ठ स्वात्मा के रसिक, सिद्धांतचक्रवर्ती, मुक्ति रूपी स्त्री के भावी कांत आचार्य श्री विद्यानंद जी को भक्तिपूर्वक वंदन करके मेरे-आचार्य श्री विद्यानंद के अंतेवासी शिष्य के द्वारा यह ग्रंथ कहा गया है।।141।।

पदार्थ (9), गति (4), रस (5), अंबर (2) ''अंकानां वामतो गतिः'' से 2549 वीर निर्वाण संवत् में उच्च के सूर्य में शुभ दिन में श्री महावीर जी तीर्थ क्षेत्र पर यह ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक ग्रंथ पूर्ण हुआ।।142।।

इस प्रकार परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा विरचित ''अशोक रोहिणी चरित्र'' नामक महाकाव्य में श्री अशोक मुनि के केवलज्ञान, दिव्यध्वनि व मोक्षप्राप्ति का वर्णन करने वाला इक्कीसवाँ नंद पूर्ण हुआ।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108
वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा रचित व संपादित साहित्य
मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य			
1.	णंदिणंदसुत्तं (नंदीनंद सूत्र)	2.	अज्जसक्किदी (आर्य संस्कृति)
3.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)	4.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
5.	जदि-किदिकम्मं (यति कृतिकर्म)	6.	धम्मसुत्तं (धर्म सूत्र)
7.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)	8.	जिणवरथोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
9.	तच्च-सारो (तत्त्व सार)	10.	विज्जावसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)
11.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)	12.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13.	रयणकंडो (प्राकृत सूक्ति कोश)	14.	मंगलसुत्तं (मंगलसूत्र)
15.	अट्ठंगजोगो (अष्टांग योग)	16.	णमोयार-महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
17.	विस्सपुज्जो दियंबरो (विश्वपूज्य दिगंबर)	18.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
19.	मूलवण्णो (मूलवर्ण)	20.	विस्सधम्मो (विश्व धर्म)
21.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)	22.	समवसरण-सोहा (समवसरण शोभा)
23.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)	24.	को विवेगी (विवेकी कौन)
25.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)	26.	कलाविण्णाणं (कला विज्ञान)
27.	अप्पसत्ती (आत्म-शक्ति)	28.	वयणपमाणत्तं (वचनप्रमाणत्व)
29.	सिरिसीयलणाहचरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)	30.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
31.	असोग रोहिणी चरियं, अशोक रोहिणी चरित्र	32.	खवगराय-सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33.	लोगुत्तर-वित्ती (लोकोत्तर वृत्ति)	34.	पसमभावो (प्रशम भाव)
35.	समणभावो (श्रमण भाव)	36.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)
37.	झाणसारो (ध्यान सार)	38.	समणायारो (श्रमणाचार)
39.	सम्मेदसिहरमाहप्पं, सम्मेद शिखर माहात्म्य	40.	जिणवयण-सारो (जिनवचन सार)
41.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त)	42.	विणयसारो (विनय सार)
43.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)	44.	तव-सारो (तपसार)
45.	भाव-सारो (भावसार)	46.	दाण-सारो (दानसार)
47.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)	48.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)
49.	णाण-सारो (ज्ञानसार)	50.	णीदि-सारो (नीति सार)
51.	धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)	52.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
53.	प्राकृत वाणी भाग-1-2-3-4		

टीका ग्रंथ			
1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र

इंग्लिश साहित्य			
1.	Inspirational Tales	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य			
1.	मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)	2.	बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3.	शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)	4.	स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य			
1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9 (सोलहकारण भावना)
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17 (बारह भावना)
31.	चूको मत	32.	जय बजरंगबली
33.	जीवन का सहारा	34.	ठहरो! ऐसे चलो
35.	तैयारी जीत की	36.	दशामृत
37.	धर्म की महिमा	38.	ना मिटना बुरा है न पिटना

39.	नारी का धवल पक्ष	40.	शायद यही सच है
41.	श्रुत निर्झरी	42.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
43.	सीप का मोती (महावीर जयंती)	44.	स्वाति की बूँद

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	रोहिणी व्रत कथा
27.	स्वप्न विचार	28.	सद्गुरु की सीख
29.	सफलता के सूत्र	30.	सर्वोदयी नैतिक धर्म
31.	संस्कारादित्य	32.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौंसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दु:खों से मुक्ति (वृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	समवसरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान

11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना		

प्रथमानुयोग साहित्य

1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चरित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र

31.	रामचरित्र (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास
49.	सुदर्शन चरित्र (आ. श्री विद्यानंदी जी)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)

1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	अध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्रीमद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च-वियारो सारो (सि. च. आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)

27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री अमितगति जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुऋद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

संपादित हिंदी साहित्य

1.	अरिष्ट निवारक त्रय विधान • नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)		
2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान		
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक		
4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)

9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य			
1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु सुबंधं (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		